प्रियप्रवास

में

काव्य, संस्कृति और दर्शन

लेखक

डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

हिन्दी-विभाग

एन० आर० ई० सी० कॉलिज, खुरजा

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्राक्कथन

प्रत्येक महाकाव्य युग-चेतना का प्रतीक होता है। उसमे युगानुकूल विचारो का प्रवाह अपनी मद-मथर गति से प्रवाहित होता हुआ युग के धर्म, युग की मान्यताये, युग की दुर्बलताये एव युग की विशेषताओ को अपने कल-कल-निनाद द्वारा उद्घोषित करता रहता है। इसीकारण प्रत्येक महाकाव्य किसी न किसी महत्प्रेरणा से प्रेरित होकर ही लिखे जाते है और वे अपने लघु अथवा दीर्घ आकार मे प्रकट होकर युग की सचित सामग्री को आत्मसात् करते हुए अपना गौरवशाली स्वरूप ग्रहण किया करते है। 'प्रियप्रवास' के जन्म की कथा भी कुछ ऐसी ही है। इससे पूर्व आधुनिक युग मे खड़ी बोली का कोई भी महाकाव्य निर्मित नही हुआ था। सर्वत्र खडी बोली का बोल बाला तो था, परन्तु अभी वह इतनी सशक्त एव सक्षम नही हो पाई थी कि उसमे महाकाव्यो का भी निर्माण हो सके। साथ ही किसी कवि का इधर साहस भी नही होता था कि ब्रजभाषा या अवधी के समकक्ष खडी बोली मे भी कोई महाकाव्य लिखे। हरिऔधजी ने सर्वप्रथम यह प्रयास किया और अपनी अद्भुत प्रतिभा एव अनुपम कला का परिचय देते हुए इस युग के अभाव की पूर्ति की। यह दूसरी बात है कि प्रथम प्रयास होने के कारण वह इतना उत्कृष्ट एव इतना सम्पन्न महाकाव्य नही है कि हिन्दी के पदमावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि की समता कर सके। परन्तु उसका अपना महत्व है और वह आधुनिक युग के महाकाव्यो के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति स्थित है।

'प्रियप्रवास' के इस आलोचना-ग्रथ की प्रेरणा मुझे अपने विद्यार्थियो से मिली। प्राय. सभी विद्यार्थी यह आग्रह करते रहते थे कि जब आप कक्षा मे इतनी विस्तृत आलोचना करते रहते हैं, तब उसे पुस्तकाकार क्यो नही प्रकाशित करा देते! इसके अतिरिक्त मैंने भी इस ग्रंथ की उपेक्षा का अनुभव किया। प्राय. अधिकाश आलोचको ने अन्य कवियो एवं हिन्दी के अन्य उत्कृष्ट महाकाव्यो पर तो अधिक से अधिक लिखने का प्रयत्न किया है, परन्तु विचारे 'प्रियप्रवास' को नगण्य समझकर इसकी ओर ध्यान कम दिया है। इस ओर सबसे सराहनीय कार्य प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने किया

है। उनके प्रति मैं अत्यत आभार प्रकट करता हूँ परन्तु वह ग्रंथ भी केवल 'प्रियप्रवास' पर न लिखा जाकर हरिऔधजी की अन्य कृतियो पर भी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त एक सक्षिप्त अध्ययन प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का भी मिलता है, जिसमे 'प्रियप्रवास' के गुणो की अपेक्षा दोषो का उद्घाटन अधिक हुआ है और उसमे भी लेखक ने आगे चलकर 'वैदेही वनवास' तथा 'पारिजात' पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इन पक्तियो के लेखक ने भी एक आलोचनात्मक पुस्तक "कविसम्राट् हरिऔध और उनकी कला-कृतियाँ" के नाम से पहले लिखी थी, जिसमे हरिऔधजी के सम्पूर्ण साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनके साहित्य पर अपने सक्षिप्त विचार व्यक्त किये थे। उसी समय यह विचार हुआ था कि हरिऔधजी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'प्रियप्रवास' की आलोचना पृथक् पुस्तकाकार रूप मे लिखी जाय। किन्तु अनुसधान कार्य मे व्यस्त रहने के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका। अब अनुसधान से अवकाश मिलने पर यह ग्रंथ पाठको की सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यह आलोचना-ग्रथ सात भागो मे विभक्त है, जिन्हे प्रकरण नाम दिया गया है। प्रथम प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' की प्रेरणा और पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है, जिसमे कवि के जीवन-परिचय के साथ-साथ उसके समस्त ग्रंथो का काल-क्रमानुसार परिचय देते हुए यह देखने की चेष्टा की गई है कि कवि की प्रतिभा का विकास किस तरह होता गया और उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे कितने अमूल्य ग्रथ-रत्न भेंट किये। इसके साथ ही 'प्रियप्रवास' के निर्माण मे जिन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियो ने योग दिया था, उनका भी वर्गीकरण एव विश्लेषण करते हुए 'प्रियप्रवास के निर्माण मे उनकी उपादेयता एवं उपयोगिता पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' लिखने के कतिपय कारणो पर भी दृष्टि डाली गई है और यह देखा गया है कि कवि ने इस ग्रथ का नाम यह क्यो रखा! अन्त मे इस नाम की सार्थकता का भी विवेचन किया गया है।

दूसरे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर सागोपाग विचार प्रकट किए गए हैं और यह बताया गया है कि 'प्रियप्रवास' मे कितनी कथाओ एवं उपकथाओ का समावेश हुआ है, उनके मूलस्रोत कहाँ है तथा अपनी मूल-कथाओ से 'प्रियप्रवास' की कथाओ मे क्या अन्तर किया गया है! कवि ने अपनी इस कथा मे कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की है और उन उद्भावनाओ मे कवि को कहाँ तक सफलता मिली है—इस का भी विस्तुत विवेचन किया गया

है। इतना ही नही कथावस्तु के शास्त्रीय विधान का उल्लेख करते हुए अंत मे उसके गुण-दोषो पर भी सम्यक् दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के काव्यत्व पर विचार करते हुए उसकी प्रबन्धात्मकता एव महाकाव्यत्व का पर्यवेक्षण किया गया है। साथ ही यह देखने की भी चेष्टा की गई है कि इस काव्य का मुख्य 'कार्य' क्या है और उस 'कार्य' की दृष्टि से इसमे एकरूपता कहाँ तक विद्यमान है। प्रमुख पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ का उद्घाटन करते हुए प्रकृति-चित्रण एव भाव-निरूपण पर विस्तारपूर्वक सम्यक् रूप से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त वियोग शृगार की करुण रस मे किस तरह परिणति हुई है, इस पर विचार व्यक्त करते हुए भाव एव रस निरूपण मे जिन नवीन उद्भावनाओ का समावेश हुआ है उनका भी यहाँ सागोपाग उल्लेख विद्यमान है। अन्त मे कवि के सौदर्य-निरूपण का अध्ययन करते हुए इस काव्य की महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य का उद्घाटन किया गया है।

चौथे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के कला-पक्ष पर विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसमे इस काव्य की सर्गबद्धता, शब्द-विधान, वर्णमैत्री, लोकोक्ति-मुहावरे आदि पर विचार प्रकट करते हुए इसमे आए हुए विभिन्न प्रकार के शब्दो का वर्गीकरण एव विश्लेषण किया गया है और शुद्ध एव अशुद्ध प्रयोगो की ओर भी सकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' की भाषा, उसमे शब्द-शक्तियो का प्रयोग, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति, अलकार, छद, औचित्य आदि का स्वरूप यहाँ किस प्रकार का मिलता है इसका सी समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। अत मे काव्य-शैली के स्वरूप का विवेचन करके 'प्रियप्रवास' की कला पर समीक्षात्मक विचार व्यक्त किये गये है।

पाँचवे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के सास्कृतिक पक्ष का निरूपण किया गया है, जिसमे यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति की अधिकाश विशेषतायें सन्निविष्ट है। कवि ने यहाँ भारतीय धार्मिक जीवन की उन सभी मान्यताओ को काव्य-रूप देने की सुन्दर चेष्टा की है, जिनका सबध यहाँ के दैनिक जीवन से है और जो फल्गू की भाँति भारतीय हृदयो मे अनन्त काल से प्रवाहित होती चली आ रही है।

छठे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत मानव-जीवन के प्रति कवि के जो विचार व्यक्त हुए है उनका सम्यक् उद्घाटन किया गया है। इस 'जीवन-दर्शन' मे यह दिखाने की चेष्टा हुई है कि कवि किन-किन विचारो, सिद्धान्तो

एव साधनो को मानव-कल्याण के लिए आवश्यक मानता है, किस तरह वह समाज को नया रूप देने की आकाक्षा करता है, किस तरह के आचरण को वह मानव मात्र के लिए अपेक्षित समझता है, कौन-कौन से कार्य वह देशोद्धार के लिए अनिवार्य समझता है आदि-आदि। अन्त मे कवि के मूल-सिद्धान्त 'लोकहित' का भी सम्यक् निरूपण किया गया है।

सातवे अथवा अन्तिम भाग के अन्तर्गत 'उपसहार' आता है, जिसमे सर्वप्रथम 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कामायनी' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और देखा गया है कि किस तरह महाकाव्य की कला क्रमशः विकसित होती हुई 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य के रूप मे अपने चरम विकास पर पहुँची थी। इस दृष्टि से आधुनिक युग के महाकाव्यो मे 'प्रियप्रवास' प्रथम सोपान पर, 'साकेत' द्वितीय सोपान पर तथा 'कामायनी' अभी तक अतिम अथवा तृतीय सोपान पर स्थित है। अत मे 'प्रियप्रवास' के अमर सदेश का उद्घाटन करके यह अध्ययन समाप्त किया गया है। मुझे अपने प्रयत्नो मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसके बारे मे मैं कुछ कहने का अधिकारी नही। फिर भी यदि इस अध्ययन द्वारा 'प्रियप्रवास' सम्बन्धी समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की कुछ पूर्ति हो गई, तो मैं अपने प्रयास को सफल ही समझूँगा।

अन्त में मैं उन सभी विद्यार्थियो एव मित्रो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्रेरणा का यह प्रसाद पाठको के सम्मुख समर्पित कर रहा हूँ। उन सभी लेखको के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके ग्रथो की सामग्री का उपयोग मेरे इस आलोचना-ग्रथ मे हुआ है। साथ ही श्रीयुत भोलानाथ अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा भी धन्यवाद के अधिकारी है, क्योकि प्रकाशन के लिए आश्वासन देकर तथा समय-समय पर शीघ्रता करने के लिए उत्साहित करके आपने ही इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराया है। आशा है दयालु पाठक मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके तथा त्रुटिओं से अवगत कराके मुझे सदैव आभारी बनाते रहेगे।

मकर-संक्राति
माघ कृ० १ स० २०१६
जनवरी, १६६० ई०

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

विषय सूची

प्रकरण १

प्रियप्रवास की प्रेरणा और पृष्ठभूमि

जीवन परिचय—महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म बैसाख कृष्णा ३ स० १६२२ वि० तदनुसार १५ अप्रैल सन् १८६५ ई० मे जिला आजमगढ के अन्तर्गत निजामाबाद नामक स्थान पर हुआ था। उपाध्याय जी के पूर्वज मुगल सम्राट् जहाँगीर के समय मे दिल्ली मे रहते थे। किन्तु किसी कारणवश मुगल सम्राट् के कोप का भाजन बन जाने के कारण इनके पूर्वज प० काशीनाथ उपाध्याय पहले उत्तर प्रदेश के बदायूँ जिले मे आकर रहने लगे। कहा जाता है कि बदायूँ मे उनके पूर्वजों का मकान अभी तक स्थित है। तदुपरान्त वे आजमगढ जिले के निज़ामाबाद नगर मे आकर बस गये। यह परिवार पहले तो अगस्तगोत्रीय शुक्लयजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण परिवार था, परन्तु निज़ामाबाद मे आकर इस परिवार ने सिक्ख-धर्म स्वीकार कर लिया। पं० काशीनाथ उपाध्याय की पाँचवी पीढी मे पं० रामचरन उपाध्याय हुए, जिनके तीन पुत्र थे—ब्रह्मासिंह, भोलासिंह तथा बनारसीसिंह। प० ब्रह्मासिंह निस्सतान रहे तथा भोलासिंह के दो पुत्र हुए—अयोध्यासिंह और गुरुसेवकसिंह। इस तरह कविवर अयोध्यासिंह के पिता का नाम भोलासिंह और इनकी माता का नाम रुक्मिणी देवी था। इनके पिता कुछ पढे-लिखे न थे, परन्तु इनके ताऊ प० ब्रह्मासिंह सस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् एव ज्योतिषी थे। उनकी देख-रेख मे ही अयोध्यासिह जी की शिक्षा-दीक्षा हुई।

बचपन मे कवि अयोध्यासिह ने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। किन्तु सात वर्ष की अवस्था मे आपको निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल मे प्रवेश कराया गया, फिर भी आपके ताऊजी घर पर ही संस्कृत पढाया करते थे। स्कूल मे आपने फारसी की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर आपको बनारस के क्वीन्स कालेज मे अग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण आप अग्रेजी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। फिर भी घर पर ही आपने सस्कृत, फारसी, बगला आदि का विस्तृत अध्ययन

करके अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। इसी समय आपका परिचय निज़ामाबाद के प्रसिद्ध नानकपंथी बाबा सुमेरसिंह से हो गया। वहाँ आप प्राय कवि-गोष्ठी तथा भजन-कीर्त्तन आदि मे सम्मिलित होने के लिए जाया करते थे। बचपन से ही आपको कविता के प्रति रुचि थी। अत कभी-कभी समस्या-पूर्ति भी कर लिया करते थे। बाबा सुमेरसिंह भी कविता किया करते थे। उनका उपनाम "हरिसुमेर" था। अयोध्यासिंह जी ने भी इसी नाम के अनुकरण पर अपना उपनाम "हरिऔध' रख लिया।

हरिऔध जी का विवाह सन् १८८२ ई० मे बलिया ज़िले के अन्तर्गत सिकन्दरपुर ग्राम के निवासी प० विष्णुदत्त मिश्र की सौभाग्यवती कन्या अनन्त कुमारी के साथ सम्पन्न हुआ था। आपका पारिवारिक जीवन आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त अभावपूर्ण था। इसीलिए आपने सर्वप्रथम १६ जून १८८४ ई० मे हिन्दी मिडिल स्कूल मे अध्यापक का कार्य आरम्भ कर दिया। १८८७ ई० मे आपने नार्मल की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। तदुपरान्त आपने कानूनगो की परीक्षा भी पास करली और १८९० ई० मे आप कानूनगो हो गये। फिर अपनी कार्यक्षमता एव ईमानदारी के कारण आप सदर कानूनगो हो गये। १९०५ ई० मे आपकी पत्नी का देहावसान हो गया, फिर हरिऔध जी ने दूसरा विवाह नही किया और आगामी ४२ वर्ष तक विधुर जीवन ही व्यतीत किया। १ नवम्बर १९२३ ई० मे आपने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। उसी समय आपकी साहित्यिक ख्याति एवं हिन्दी-प्रेम को देखकर काशी-विश्वविद्यालय मे प० मदनमोहन मालवीय जी के अनुरोध से आपको हिन्दी-साहित्य के अध्यापन का कार्य सौंपा गया। लगभग २० वर्ष तक आपने वहाँ सहर्ष अवैतनिक सेवाये प्रस्तुत करते हुए बडी कुशलता एव दक्षता के साथ हिन्दी-अध्यापन का कार्य किया। इस समय तक आपकी ख्याति समस्त भारत मे फैल चुकी थी। इसी कारण हिन्दी जगत् ने आपको ''कवि-सम्राट्'' की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने आपको "विद्यावाचस्पति" की उपाधि प्रदान की तथा "प्रियप्रवास" नामक महाकाव्य पर आपको मगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्रदान किया। काशी-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त आप आज़मगढ मे आकर रहने लगे। यही पर ६ मार्च सन् १९४७ ई० को आपका गोलोकवास हुआ। यद्यपि हरिऔध जी का पार्थिव शरीर हमारे बीच मे नही रहा, फिर भी अपने काव्य-ग्रन्थो के रूप मे वे आज भी विद्यमान हैं और सदैव विद्यमान रहेगे।

व्यक्तित्व—हरिऔध जी अत्यन्त सरल हृदय एव उच्च विचारो के व्यक्ति थे। आप सिक्ख मतावलम्बी थे। आपके लघुभ्राता प० गुरुसेवकसिंह तो वश-परम्परा का परित्याग करके सिक्खो की वेश-भूषा छोड बैठे थे, और पूर्णतया पाश्चात्य सभ्यता मे रग गये थे, परन्तु हरिऔध जी अन्त तक अपनी परम्परा का पालन करते रहे। आप लम्बे केश तथा दाढी रखते थे। आपकी मुखाकृति अत्यन्त आकर्षक थी। आपका शरीर दुबला-पतला और रग गेहुँआ था। वैसे मुख पर सदैव तेज विद्यमान रहता था, परन्तु कुछ दिनो तक अर्श रोग से पीडित रहने के कारण अन्तिम दिनो मे आपके चेहरे पर चिन्ता की क्षीण रेखाये विद्यमान रही आती थी। आप घर पर प्रायः कमीज, बास्कट तथा पाजामा पहनते थे, परन्तु अन्य सार्वजनिक स्थानो पर जाते समय श्वेत पगडी, शेरवानी, पाजामा, अग्रेजी जूते तथा मोजे धारण किया करते थे। गले मे दुपट्टा भी डालते थे।[1] वैसे आपको खद्दर पहनना पसन्द न था, परन्तु स्वदेशी कपडा पहनना अधिक अच्छा समझते थे।

आपका हृदय अत्यन्त उदार एवं स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा मृदु था। आप बडे ही मिलनसार थे। आपके घर छोटा-बडा कैसा ही व्यक्ति क्यो न पहुँच जाय, आप सदैव सभी का समान रूप से आदर-सत्कार किया करते थे। अपने मित्रो एव हितैषियो से मिलना तो आपको अत्यन्त रुचिकर था। आपके यहाँ कितने ही युवक अपनी तुकबन्दियाँ लेकर उन्हे ठीक कराने आया करते थे, परन्तु आप सदैव उन्हे उचित परामर्श देकर उनका पथ-प्रदर्शन किया करते थे।

आपका हृदय प्रकृति की मनोरम छटा देखकर एक अद्भुत आनन्द का अनुभव किया करता था। आप प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। अपने प्रकृति-प्रेम का उल्लेख करते हुए आपने स्वय लिखा है—"घन पटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरिणी, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिला का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरदर्तु की शोभा, दिशाओ की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य, ज्योत्स्ना-रजित यामिनी, तारक-मडित नील नभोमडल, सुचित्र विहगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्प-चय मेरे आनन्द की प्रिय सामग्री है। किन्तु पावस की सरस छवि, वसत की विचित्र शोभा,

---

१. हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ—पृष्ठ ४४३।

कोकिल का कुहूरव और किसी कलकण्ठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कविता-वलित, मुझको उन्मत्तप्राय कर देते है।"[१]

अत: आपके हृदय मे प्राकृतिक शोभा के लिए एक विशेष आकर्षण था। आप प्रकृति की माधुरी पर सदैव विमुग्ध रहा करते थे। परन्तु जैसा आपका आकर्षण प्रकृति सुन्दरी की मनोरम छटा के प्रति था, वैसा ही मानव सौंदर्य के प्रति भी था। आपने प्रकृति के अनिंद्य सौन्दर्य की भाँति मानव-सौंदर्य की भी अद्‌भुत झाँकियाँ अपने काव्यो मे चित्रित की है तथा समाज-सेवा, लोकानुरजन, विश्व-बधुत्व, परोपकार आदि उच्च भावनाओ से सवलित करके मानव-जीवन के आदर्शपूर्ण मनोरम चित्र अपने काव्यो मे यत्र-तत्र अकित किए है। मानव-समाज को उन्नत बनाने की एक उत्कट अभिलाषा आपके हृदय मे विद्यमान थी। समाज की कमियो एवं दुर्बलताओ के चित्र अकित करके आपने सदैव मानव को अपने आदर्श की ओर बढने की प्रेरणा दी। आप नैतिकता के अनन्य भक्त थे। इसी कारण आप समाज मे परम्परा का उच्छेद एवं भारतीय सस्कृति का विरोध सहन नही कर सकते थे। इसीलिए आपने अपने 'चोखे चौपदे' एव 'चुभते चौपदो' मे भारतीय समाज पर कटु व्यग्य द्वारा प्रहार भी किया है।

आप काव्य और सगीत कला के प्रति बचपन से ही रुचि रखते थे। अपने हृदय की सगीतजन्य पिपासा को शान्त करने के लिए आप किसी भी स्थान पर निस्सकोच भाव से जाने के लिए उत्सुक रहा करते थे। आपकी फुटकल रचनाओ मे आपके सगीत-प्रेम का आभास भली प्रकार मिल जाता है।

आपके हृदय मे आदर्शवादिता कूट-कूट कर भरी हुई थी और आपके हृदय मे अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति अनन्य श्रद्धा थी। परन्तु आप अध-विश्वासी न थे। आप अत्यत सहिष्णु थे और सिक्खमतानुयायी होकर भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। आपकी दृष्टि मे किसी भी धर्म मे कोई बुराई न थी। सभी धर्मों की उच्च भावनाएँ एव सारपूर्ण बातें ग्रहण करना आपको अत्यत प्रिय थी। आपको भजन-पूजा आदि रुचिकर न थी, परन्तु सनातन-धर्म एव उसके धर्म-ग्रन्थो मे आपकी अटूट श्रद्धा थी। वेदो को आप ज्ञान का अक्षय भडार मानते थे तथा उनके ज्ञान का प्रसार एव प्रचार होना भारत के लिए श्रेयस्कर समझते थे। आप वैसे तो एकेश्वरवाद के

---

१ महाकवि हरिऔध—पृ० २१।

मानने वाले थे, परन्तु हिन्दुओ के सभी देवी-देवताओ के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए आप उन्हे असाधारण व्यक्ति मानते थे। ईश्वर के बारे मे आपका भावुकता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक था और आप ईश्वर की सत्ता को सर्वत्र व्याप्त माना करते थे।

बहुमुखी प्रतिभा—हरिऔध जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने विद्यार्थी जीवन मे ही कविता करना आरम्भ कर दिया था। जब आप मिडिल स्कूल मे पढा करते थे, तभी आपने कबीर की साखियो पर कुडलियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे आपकी प्रतिभा विकसित होती गई और आपने कितने ही काव्य-ग्रन्थ लिख डाले, जिनमे से कबीर-कुडल, श्रीकृष्ण-शतक, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेम-प्रपच, उपदेश-कुसुम, प्रेम-पुष्पोपहार, उद्‌बोधन, प्रियप्रवास, ऋतुमुकुर, पुष्प विनोद, विनोद वाटिका, चौखे चौपदे, चुभते चौपदे, पद्यप्रसून, बोलचाल, रसकलस, फूलपत्ते, पारिजात, ग्रामगीत, वैदेही-वनवास, हरिऔध सतसई, मर्मस्पर्श आदि पद्यग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके है। इनमे से प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास तथा पारिजात तीन महाकाव्य माने जाते है। हरिऔधजी ने हिन्दी के समस्त मुहावरो को लेकर 'बोलचाल' नामक ग्रथ लिखा है तथा रसकलस मे ब्रजभाषा के अन्तर्गत नायिकाभेद लिखा है। आपने फुटकल कविताओ के कितने ही सग्रह प्रकाशित कराये थे, जिनमे से कई अब अप्राप्य है।

काव्य के अतिरिक्त हरिऔध जी ने दो उपन्यास भी लिखे थे। सर्व प्रथम आपने "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के लिए खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीनसिंह ने विशेष आग्रह किया था। इसका कारण यह था कि उन दिनो अग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रियर्सन की यह बड़ी अभिलाषा थी कि खड्गविलास प्रेस से ठेठ हिन्दी भाषा मे कोई गद्य की पुस्तक प्रकाशित हो। डाक्टर साहब ने इसके लिए बा० रामदीनसिंह जी से आग्रह किया था। उसी आग्रह पर आपने हरिऔध जी से अनुरोध किया और हरिऔध जी ने डाक्टर साहब की अभिलाषा-पूर्ति के लिए ३० मार्च सन् १८९९ ई० को "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा, जिसमे हिन्दू समाज की विवाह सम्बन्धी एक निकृष्ट रीति को पाठको के सम्मुख प्रदर्शित करते हुए हरिऔध जी ने तत्कालीन सामाजिक जीवन की अद्‌भुत झाँकी प्रस्तुत की है। इसकी कथावस्तु तो अत्यन्त सरल एव सुबोध है, किन्तु वस्तु मे सजीवता एव स्वाभाविकता है। वैसे इसमे औपन्यासिक कला का अभाव है। परन्तु इसकी विशेषता भाषा का ठेठ रूप

प्रस्तुत करने मे है। कही भी आपको कोई तत्सम शब्द देखने को नही मिलेगा। सर्वत्र तद्भव-शब्द-प्रधान 'सरल एव सुबोध बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। इस उपन्यास को पढकर डा० ग्रियर्सन इतने प्रसन्न हुए थे कि इसे आपने इडियन सिविल-सर्विस की परीक्षा के पाठ्यक्रम मे रखवा दिया था। तदुपरान्त हरिऔध जी ने "अधखिला फूल" नामक दूसरा उपन्यास लिखा। यह भी सामाजिक उपन्यास है। इसमे तत्कालीन बिलासी जमीदारो के नग्नरूप का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सजीव एवं मनोमोहक है तथा चरित्र-चित्रण मे आदर्शवादिता को अपनाया गया है। ये दोनो उपन्यास औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतने उत्कृष्ट नही, क्योकि ये हिन्दी की ठेठ भाषा का नमूना प्रस्तुत करने के लिए लिखे गये थे। इसी कारण इनमे औपन्यासिक कला का तो सर्वथा अभाव ही है, किन्तु फिर भी उपन्यास-क्षेत्र मे भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

हरिऔध जी ने उपन्यासो के अतिरिक्त 'रुक्मिणी परिणय' तथा 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नामक दो रूपक भी लिखे। इनमे से 'रुक्मिणी परिणय' के सवाद प्राय. अधिक लम्बे तथा अस्वाभाविक है। यहाँ प्राचीन नाट्य शैली को अपनाया गया है। कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है तथा नाट्यकला का सुन्दर रूप दिखलाई नही देता। दूसरा 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' भारतेन्दु बाबू के 'धनंजय व्यायोग' के उपरान्त हिन्दी का दूसरा व्यायोग है। इसमे भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर के वध की कथा दी गई है। नाट्यकला की दृष्टि से यह ग्रथ भी साधारण ही है। परन्तु रूपक-क्षेत्र मे अपनी विधा के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व है।

हरिऔध जी ने इतिहास तथा आलोचना के क्षेत्र मे भी पर्याप्त कार्य किया। आपने पटना विश्वविद्यालय के लिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर का व्याख्यान तैयार किये थे, जो पुस्तकाकार रूप मे "हिन्दी भाषा और साहित्य विकास" के नाम से प्रकाशित हुए। इस ग्रथ मे इतिहास और भाषा-विज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण है तथा भाषा के स्वरूप, उसके उद्गम एव विकास आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सबसे बडी विशेषता यह है कि इस इतिहास-ग्रथ मे उर्दू भाषा के कवियो का भी उल्लेख मिलता है और उर्दू को भी हिन्दी भाषा की ही एक शैली स्वीकार किया गया है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त आपने "रसकलस" की भूमिका लिखी, जो आलोचना-साहित्य मे

प्रौढता एव प्राजलता की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती है। उसमे आपने रस-सम्बन्धी खोज एव अपनी रसगत मान्यताओ का सुन्दर विवेचन किया है तथा सभी रसो की आनन्द-स्वरूपता पर अत्यन्त मार्मिक दृष्टि से विचार किया है। इतना ही नही रीतिकालीन नायिका-भेद की भर्त्सना करते हुए आपने शृगार रस के रसराजत्व का बडा ही मार्मिक विवेचन किया है और नवीन नायिकाओ की भी उद्भावना की है। सारी भूमिका हरिऔध जी की गवेषणात्मक आलोचना का अत्यन्त उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है तथा आलोचनात्मक व्याख्या के प्रकाण्ड पाडित्य की ओर सकेत करती है। यही बात "कबीर बचनावली की भूमिका" मे दृष्टिगोचर होती है। इस भूमिका मे लेखक ने कबीर के जीवन-वृत्त, उनके शील, आचार, धर्म-प्रचार, विरोधी दल, अन्तिम कार्य आदि का बडा ही सराहनीय विवेचन किया है, तथा कबीर की साखियो पर अपने मार्मिक विचार प्रस्तुत किए है। यहाँ लेखक की प्रौढ़ भाषा, समीक्षा-पद्धति एव आलोचना की सामर्थ्य सर्वथा प्रशसनीय है। हरिऔध जी ने "बोलचाल की भूमिका" भी लगभग २४६ पृष्ठो मे लिखी है। इसमे विद्वान् लेखक ने बोलचाल की भाषा, ठेठ हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की है तथा उर्दू भाषा मे प्रयुक्त छन्दो का गभीरता पूर्वक निरूपण किया है। आगे चलकर आपने बोल-चाल की भाषा तथा ठेठ हिन्दी के स्वरूप को समझाया है तथा हिन्दीभाषा को चार भागो मे विभक्त किया है—(१) ठेठ हिन्दी, (२) बोलचाल की भाषा, (३) सरल हिन्दी और (४) उच्च हिन्दी अथवा सस्कृत गर्भित हिन्दी। इस तरह यह भूमिका भी हिन्दी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन भूमिकाओ के अतिरिक्त आपने प्रियप्रवास, वैदेहीवनवास आदि काव्यो के प्रारम्भ मे भी बडी ही सारगर्भित भूमिकाये दी है, जो आपके आलोचना-चातुर्य्य एव प्रकाड पाडित्य की द्योतक है।

हरिऔध जी ने कुछ ग्रथो के अनुवाद भी हिन्दी मे प्रस्तुत किए थे। इनमे से कुछ रचनाये गद्य मे और कुछ पद्य मे मिलती है। गद्य के अन्तर्गत वेनिस का बाँका, रिपवान विंकिल, और नीति-निबन्ध नामक ग्रथ आते है और पद्य मे उपदेश-कुसुम तीन भाग और विनोद-वाटिका नामक ग्रन्थ आते है। इन सभी अनूदित ग्रन्थो की भाषा ठेठ हिन्दी है और सभी ग्रन्थ मौलिक से जान पड़ते हैं आपने फारसी के ग्रन्थ गुलिस्ताँ के आठवे अध्याय का अनुवाद उपदेश-कुसुम तीन भाग के नाम से किया था। और "गुलज़ारदबिस्ताँ" का अनुवाद 'विनोद-वाटिका' के नाम से किया था। दोनो ही ग्रथ शिक्षाप्रद है तथा इनमे सेवा, परोपकार, सरल व्यवहार, सत्य पालन, अहकारहीनता आदि

को समझाते हुए सत्यपथ का दिग्दर्शन कराया गया है। ये अनुवाद इतने सफल हैं कि इनमे मूल अर्थ कही भी विशृंखल नही हुआ है। यद्यपि मूल ग्रथ के कुछ दृष्टान्तो मे कवि ने परिवर्तन कर दिया है, तथापि मुख्य ग्रथ का आशय कही भी नष्ट नही हुआ है।

इस प्रकार हरिऔध जी ने मुक्तक कविताये एव प्रबन्ध काव्य, उपन्यास, आलोचना, इतिहास, अनुवाद आदि के द्वारा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी-साहित्य के भण्डार को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपका गद्य और पद्य दोनो पर समान अधिकार था। आपने जितनी सजीवता एवं मार्मिकता के साथ ब्रज भाषा मे कविताएँ लिखी, उतनी ही सजीवता एव मार्मिकता आपकी खडी बोली की कविताओ मे भी विद्यमान है। पद्य के ही अनुरूप आपके खड़ी बोली के गद्य मे भी अत्यन्त परिष्कृत, प्राजल एव विशुद्ध भाषा के दर्शन होते है। यद्यपि आपका सम्पूर्ण साहित्य प्रयोगात्मक ही रहा, क्योकि आपने हिन्दी मे जिन-जिन अभावो के दर्शन किए, उनकी ही पूर्ति के लिए प्रयोग किये थे, फिर भी आपका वह प्रयोगात्मक साहित्य हिन्दी-साहित्य की अनूठी निधि है और भाषा एव साहित्य के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

काव्य-कला का क्रमिक विकास—जैसा कि अभी उल्लेख किया जा चुका है कि हरिऔध जी ने बचपन मे ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। जिस समय आप लगभग १२-१३ वर्ष के थे और निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल मे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उसी समय आपने कबीर की तेतीस साखियो पर पचहत्तर कुण्डलियाँ लिखी थी, जो सन् १८७९ ई० मे "कबीर-कुण्डल" के नाम से प्रकाशित हुईं। इन कुण्डलियो मे कवि हरिऔध ने साखी के भाव को बड़ी सजीवता के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि कवि का यह ग्रथ उनके बाल-चातुर्य का द्योतक है, फिर भी शब्द-चयन, भाव-प्रकाशन आदि मे अद्भुत प्रतिभा के बीज विद्यमान है। इस पुस्तक की रचना-शैली मे प्रारम्भिक प्रयास के कारण ग्रामीण शब्दो एव असयत भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु कवि का प्रथम प्रयास होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त सन् १८८२ ई० मे आपकी "श्रीकृष्ण-शतक" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। हरिऔध जी की यह प्रथम मौलिक रचना है, जिसमे एक सौ उन्नीस दोहो के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण के परमब्रह्म स्वरूप का

गुणानुवाद गाया गया है। इस ग्रथ मे ही हरिऔध जी की काव्य-प्रतिभा का प्रथम प्रस्फुटन हुआ है, फिर भी यहाँ उनकी कवित्व-शक्ति अविकसित ही है। भाषा भी अधिक परिमार्जित नही है, उसमे ब्रज और खडीबोली का सम्मिश्रण है। रचना-शैली साधारण है।

सन् १९०० ई० मे हरिऔध जी के चार ग्रथ प्रकाशित हुए—प्रेमाम्बु वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेम-प्रपच। इन चारो ग्रथो मे कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म का अवतार मानकर उनके ब्रह्मत्व का बड़ी मार्मिकता के साथ निरूपण किया है।[1] इनमे से 'प्रेमाम्बु-वारिधि' मे कुल ७५ घनाक्षरी पद है, जिनके अन्तर्गत कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को अनादि, अनन्त, अगम, अगोचर, निरजन आदि कहा है तथा शेष, महेश, गणेश, सुरेश आदि सभी को उनके सम्मुख नतमस्तक होकर उनका गुणगान गाते हुए बतलाया है। इस ग्रथ मे कवि ने भगवान् कृष्ण के गुणानुवाद गाने का आग्रह किया है और उन्हे ससार का नियता सिद्ध किया है। रचना-शैली पर प्राचीनता की छाप है। ब्रजभाषा मे रचना की गई है और सम्पूर्ण ग्रथ पर सूर, मीरा आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है।

"प्रेमाम्बु-प्रवाह" मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के वियोग मे व्याकुल गोपियो के विरह-कातर जीवन की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ मे ४२ सवैये, ३० कवित्त तथा ७ घनाक्षरी पद है। सभी छन्दो मे गोपियो की विरह-विह्वल दशा का चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ किया गया है। वे मधुवन, हरी-हरी लताये, यमुना-कछार, बशीवट आदि को देखकर किस तरह व्यथित होकर अपने प्रियतम कृष्ण के लिए विलाप करती है, इसी का निरूपण कवि ने यहाँ अपेक्षाकृत सशक्त ब्रजभाषा मे किया है।[2] इस ग्रन्थ पर भी

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—पृ० ३०।

२. बावरी ह्वै जाती बार-बार कहि वेदन को,
विलखि-विलखि जो विहारथल रोती ना।
पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत,
ध्याइ प्राननाथ जो कसक निज खोती ना।
प्यारे हरिऔध के पधारे परदेश दोऊ,
नैन नसि जात जो समन संग सोती ना।
तनु जरि जातो जो न अँसुआ ढरत ऊधो,
प्राण कढि जातो जो प्रतीति उर होती ना।
—प्रेमाम्बु-प्रवाह, पृष्ठ ४

कृष्ण-भक्त कवियो की छाप है। भाषा मे लाक्षणिकता नही है, अपितु सीधी एव सरल उक्तियो का प्रयोग हुआ है।

"प्रेमाम्बु-प्रस्रवण" मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के मनोहारी स्वरूप की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। इसमे ५६ कवित्त तथा ३० सवैया छन्द है, जिनके अन्तर्गत श्रीकृष्ण-प्रेम का निरूपण करते हुए भगवद्भक्ति का उल्लेख किया गया है। भगवान् की रूप माधुरी देखकर एक भक्त किस तरह उनके स्वरूप मे अनुरक्त होता हुआ भगवत् प्रेम की परिपक्वावस्था को प्राप्त करता है और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है इसी अवस्था का निरूपण कवि ने विभिन्न छन्दो मे किया है। इस ग्रन्थ मे भगवद्भक्ति के साथ-साथ स्वदेशोद्धार की भावना भरने का भी स्तुत्य प्रयत्न हुआ है। कवि की लोकाराधना अथवा लोक-सग्रह की भावना के भी दर्शन सर्वप्रथम इसी ग्रथ मे होते है। यह ग्रथ भी सरस एव सुबोध ब्रजभाषा मे लिखा गया है तथा रचना-शैली पर भक्ति-काल के कवियो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सन् १९०० ई० मे चौथी पुस्तक "प्रेम-प्रपच" के नाम से प्रकाशित हुई। यह ग्रंथ फारसी की पुस्तक "फिसाना अजायब" का हिन्दी अनुवाद है, जो दोहा, सोरठा, छप्पय, कुण्डलिया, रोला, वरवै, सवैया, घनाक्षरी पद आदि प्रचलित छन्दो मे किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा का माधुर्य प्रकट करने की दृष्टि से की गई थी। इसमे फारसी के शेरो का ब्रजभाषा मे अत्यन्त सजीव एव सुष्ठु अनुवाद किया गया है। उर्दू-फारसी के मुहावरो का भी अनुवाद हिन्दी मे इतनी सफाई के साथ किया गया है कि अनुवाद मे मौलिकता के दर्शन होते हैं। भाषा मे सरलता एव ओज है, किन्तु ग्रामीण प्रयोगो की ही बहुलता है। मुहावरो का प्रयोग अच्छा किया गया है।

तदनन्तर १९०१ ई० मे हरिऔध जी की "उपदेश कुसुम" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमे हरिऔध जी ने "गुलिस्ताँ" के आठवे अध्याय का ब्रजभाषा मे अनुवाद किया है। परन्तु यह अनुवाद भी अत्यन्त सजीव एवं मौलिक सा जान पड़ता है। इसमे पहले मूलग्रथ के भाव को खडीबोली के गद्य मे रखा गया है और उसके अनन्तर उसी भाव को दोहे मे व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ उपदेशात्मक है और नैतिक विचारो के प्रचारार्थ लिखा गया जान पडता है। रचना-शैली सरल एव साधारण है, किन्तु कवि के अनुवाद-कौशल की छटा सर्वथा सराहनीय है।

१९०४ ई० मे हरिऔध जी की हिन्दी भाषा के बारे मे एक सुन्दर कविता "प्रेम-पुष्पोपहार" के नाम से प्रकाशित हुई। यह कविता आपने काशी

नागरी-प्रचारिणी सभा के भवन का उद्घाटन होने के अवसर पर पढी थी। यह हरिऔध जी की खडीबोली की सर्वप्रथम कविता है, इसमे हिन्दी भाषा की दीन-हीन दशा का वर्णन करते हुए कवि ने हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है और अन्त मे हिन्दी भाषा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए कामना की है। इस कविता को पुस्तक का रूप दे दिया गया है। इसकी रचना-शैली सरल और सुन्दर है, कवि का खड़ी बोली मे प्रथम प्रयास होने पर भी यह कविता अलकारपूर्ण है तथा खडी बोली के सरस रूप को प्रस्तुत करती है। कवि ने खडीबोली मे भी सर्वप्रथम मुहावरो का सुन्दर प्रयोग यही पर किया है।[1] आगे चलकर "बोलचाल", "चुभते-चौपदे" आदि ग्रथो मे इसी शैली का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

इसके अनन्तर हरिऔधजी 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य के लिखने मे लग गये। इस समय तक आप खडीबोली की रचना करने मे भी सिद्धहस्त हो चुके थे। अत १५ अक्टूबर १९०८ से लेकर लगभग ५ वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त आपने १९१३ ई० मे यह महाकाव्य समाप्त कर लिया। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस पटना से १९१४ ई० मे हुआ था। हिन्दी मे सस्कृत वृत्तो के अन्तर्गत इतना बडा १७ सर्गो का काव्य लिखना हरिऔध जी की अद्भुत प्रतिभा एव अनुपम काव्य कौशल का द्योतक है। वैसे श्रीजयशंकर प्रसाद उस समय तक सस्कृत वर्णवृत्तो मे कवितायें प्रस्तुत कर चुके थे, परन्तु अभी तक सस्कृत वर्णवृत्तो मे ही नही, किसी भी छन्द मे आधुनिक खडीबोली के अन्तर्गत कोई भी महाकाव्य नही लिखा गया था। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' लिखकर उसी अभाव की पूर्ति की। यह काव्य कथावस्तु, भाव-निरूपण, रचना-शैली, भाषा, वृत्त आदि सभी दृष्टियो से अनुपम एव अद्वितीय है, इसकी विस्तृत आलोचना आगामी प्रकरणो मे की जायेगी।

प्रियप्रवास के चार वर्ष उपरान्त १९१७ ई० मे हरिऔध जी का "ऋतुमुकुर" नामक काव्य-ग्रथ प्रकाशित हुआ। इसमे उनकी ब्रजभाषा मे रची हुई ऋतु सम्बन्धिनी कविताएँ सगृहीत है, जिनमे कवि ने अपनी प्रशस्त

---

१. पर नहीं जो आप लोगों को हुआ,
आज भी इसकी दशा का ध्यान कुछ।
तो फिरेगी झांकती सब दिन कुआ,
हाय! होगा मान भी इसका न कुछ।
—प्रेमपुष्पोपहार, पृ० ४

लेखनी द्वारा शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म और पावस ऋतुओ का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। यहाँ सर्वत्र प्रकृति को उद्दीपन रूप मे ही अधिक अंकित किया गया है और प्राकृतिक शोभा के निरूपण में परम्परागत बातो का ही उल्लेख अधिक दिखाई देता है।[1] फिर भी भाषा की कमनीयता एव अलकारो की रमणीयता कवि के अनुपम कौशल की द्योतक हैं। रचना शैली पर रीतिकालीन कवियो का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

इसी वर्ष १९१७ ई० में ही हरिऔधजी की "पद्य-प्रमोद" नामक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता-सग्रह मे कवि की खडीबोली मे लिखी हुई ५३ कवितायें सकलित हैं, जो समय-समय पर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुकी थी। इनमे से 'धर्मवीर' 'कर्मवीर' आदि कविताये उपदेशात्मक हैं तथा कर्मण्यता का सचार करने वाली हैं।[2] कुछ कविताये प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी हैं, कुछ समाज के उत्थान पर लिखी गई हैं और कुछ सामाजिक दुष्प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन कराने के लिए लिखी गई है। भारत-गीत, विद्या, प्रेमधारा, धर्मवीर, कर्मवीर, चित्तौड की एक शारद रजनी, सती-सीता, सुतवती सीता, उर्मिला, मतलब की दुनिया आदि कवितायें सुन्दर और

---

१. काढि लैहै क्वैलिया करेजौ कूकि कुंजन मैं
बाबरी करैंगे मौरि आम अमराई मै।
गूंजि गूंजि मौंरन की भीर ह्वै अधीर कैहै,
पीर ह्वै उठैगी पीरे पात की पिराई मैं।
ए हो हरिऔध मेरे हिय ना हुलास रै है,
वारिज विकास हेरे पास की तराई मैं।
अन्तक लौं अन्त ए करैंगे काम तन्त वारे,
कन्त जो न आयो या बसन्त की अवाई मैं।
—ऋतुमुकुर, पृ० २०

२. काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोडते॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोड़ते।
संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
काँच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन॥
—पद्य-प्रमोद, पृ० ४३

सजीव हैं। रचना-शैली सरल और अभिधापूर्ण है। सर्वत्र कवि ने खडीबोली के शुद्ध एव प्राजल रूप को अपनाया है। छन्दो मे उर्दू की सी बहरो का भी आनन्द यत्र-तत्र मिल जाता है। वैसे अधिकाश मात्रिक छन्द ही अपनाये गये है। भाषा बोलचाल के निकट है।

इसके ७ वर्ष उपरान्त १६२४ ई० मे हरिऔध जी की दो प्रमुख कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं—(१) चोखे चौपदे और (२) चुभते चौपदे। 'चोखे चौपदे' को 'हरिऔध हजारा' नाम भी दिया गया है। यह कविता-पुस्तक नौ खण्डो मे सकलित है—(१) गागर मे सागर, (२) केसर की क्यारी, (३) अनमोल हीरे, (४) काम के कलाम, (५) निराले नगीने, (६) कोर कसर, (७) जाति के कलक, (८) तरह-तरह की बातें और (९) बहारदार बाते। इन सभी खण्डो मे कवि ने विभिन्न विषयो पर कवितायें लिखी है और मीठी-मीठी चुटकियाँ लेते हुए तत्कालीन समाज की बुराइयो को चित्रित किया है। इस सग्रह मे कही ईश्वर सम्बन्धी विचार है, कही माँ के वात्सल्य का वर्णन है, कही समाज के निराले लोगो का चित्रण है और कही प्रकृति की मनोरम झाँकी अकित की गई है। सारे सग्रह मे ४७ कविताएँ है, जिनमे मानव की अन्तर्बाह्य प्रकृति का बडा ही सजीव एव व्यग्यपूर्ण वर्णन किया गया है। उक्तियो की सरलता एव मार्मिकता सर्वत्र दर्शनीय है।[1] सम्पूर्ण चौपदे उर्दू के वज़न पर लिखे गये है। जहाँ-तहाँ उर्दू, फारसी, ब्रजभाषा आदि के भी शब्द आगये हैं। परन्तु सर्वत्र सरस, सुबोध तथा मुहावरेदार खडीबोली का ही प्रयोग हुआ है। रचना-शैली मे आलकारिक छटा के साथ-साथ ओज एव व्यग्य दर्शनीय हैं।

इसी वर्ष 'चुभते चौपदे' नामक काव्य भी प्रकाशित हुआ। इस काव्य का नाम 'चुभते चौपदे' अथवा 'देश-दशा' दिया गया है। यह काव्य भी १३ भागो मे विभक्त है—(१) गागर मे सागर, (२) जाति के जीवन, (३) हित-गुटके, (४) काम के कलाम, (५) सजीवन बूटी, (६) जगाने की कल, (७) विपत्ति के बादल, (८) नाडी की टटोल, (९) जाति-राह के रोडे,

---

१ वे चुहल के, चाव के पुतले बने,
चोचलों का रंग है पहचानते।
चाल चलना, चौंकना, जाना मचल,
दिल चलाना, दिलचले हैं जानते॥
—चोखे चौपदे, केसर की क्यारी, पृ० ६३

(१०) ग्राठ-ग्राठ ग्रांसू, (११) जन्मलाभ, (१२) पारस-परस ग्रौर (१३) परिशिष्ट। इस ग्रन्थ मे तत्कालीन समाज की दुर्बलताग्रो का ग्रत्यन्त सजीवता के साथ व्यग्यात्मक शैली मे वर्णन किया गया है। कवि ने समाज के कायर, ग्रालसी, ग्रकर्मण्य, परमुखापेक्षी, धर्माध, ग्रधविश्वासी, छूग्राछूत फैलाने वाले, ढोगी, पाखण्डी, मनचले, निर्लज्ज ग्रादि महापुरुषो पर ग्रच्छी फबतियाँ कसी है। समाज मे 'बेजोड ब्याह' की कुरीति पर व्यग्य करते हुए ग्रापने उन बूढे लोगो की भी खूब खबर ली है, जो कम उम्र की लडकियो से विवाह करने के लिए तैयार हो जाते है।[१] ग्राधुनिक सभ्यता का जामा पहन कर हमारी देवियो ने किस तरह ग्रपनी मर्यादा का उल्लघन कर डाला है ग्रौर वे किस तरह ग्रपनी लाज, शरम तथा कुल धर्म को छोड बैठी है—ये सभी बाते भी हरिग्रौधजी की ग्राँखो से ग्रोझल नही हुई थी। ग्रत. उन पर भी करारा व्यग्य करते हुए कविने उन्हे सचेत होने का ग्रनुरोध किया है।[२] रचना-शैली ग्रत्यत सजीव एव ग्रोजपूर्ण है। भाषा खडीबोली है ग्रौर बोलचाल के सर्वथा निकट

---

१. हो बडे बूढ़े न गुड़ियो को ठगें,
पाउडर मुँह पर न ग्रपने वे मलें।
ब्याह के रगीन जामा को पहन,
बेईमानी का पहन जामा न लें॥
छोकरी का ब्याह बूढे से हुए,
चोट जी मे लग गई किसके नहीं।
किसलिए उस पर गडाये दाँत वह,
दाँत मुँह मे एक भी जिसके नहीं॥
—चुमते चौपदे, पृ० १६०

२ जाति की कुल की, धरम की लाज की।
बेतरह ए ले रही है फबतियाँ।
है लगाती ठोकरें मरजाद को।
देवियाँ हैं या कि ए हैं बीबियाँ॥
सब घरों को दें सरग जैसा बना।
लाल प्यारे देवतों जैसे जनें।
ग्रब रहे ऐसे हमारे दिन कहाँ।
देवियाँ जो देवियाँ सचमुच बनें॥
—चुमते चौपदे, पृ० १४७-१४८

है। उसमे उर्दू, अंग्रेजी आदि के प्रचलित शब्द पर्याप्त मात्रा मे आये हैं। सरलता एव स्पष्टवादिता इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

तदनन्तर १९२५ ई० मे हरिऔधजी की "पद्यप्रसून" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमे अरिऔधजी की फुटकल कविताएँ सगृहीत है। पहले ये कविताएँ चार भागो मे प्रकाशित हुई थी, किन्तु पीछे सबको एकही ग्रन्थ मे सकलित कर लिया गया। अब यह ग्रथ ८ भागो मे विभक्त है—(१) पावन प्रसून, (२) जीवन-स्रोत, (३) सुशिक्षा-सोपान, (४) जीवनी धारा, (५) जातीयता-ज्योति, (६) विविध विषय, (७) दिव्य दोहे और (८) बाल-विलास। इस ग्रन्थ मे कवि ने शीर्षको के अनुसार ही अपनी विविध कविताओ को सकलित किया है। इन कविताओ मे कवि ने हिन्दुत्व, वेद, जीवन-मरण, अहिंसा, जाति-प्रेम, छूआछूत, भाषा-प्रेम, चतुर नेता आदि विषयो पर बडी गहनता से विचार किया है। सम्पूर्ण कविताये सामाजिक एव धार्मिक विचारो से ओत-प्रोत है तथा मानव के नैतिक जीवन को समुन्नत बनाने वाली है। समाज की धार्मिक सकीर्णता एव सामाजिक कुरीतियो की भर्त्सना करते हुए कवि ने समाज को अज्ञान-निद्रा से जाग्रत करने का सफल प्रयत्न किया है। सभी कविताएँ खडीबोली के शुद्ध एव प्राजल रूप को प्रस्तुत करती है तथा रचना-शैली अत्यन्त सजीव एव मार्मिक है। जहाँ-तहाँ आलकारिक पदावली भी कवि की कलात्मक चातुरी का परिचय दे रही है।

इसके उपरान्त १९२८ ई० मे हरिऔध जी का "बोलचाल" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर कवि ने अथक परिश्रम करके हिन्दी मे प्रचलित समस्त मुहावरो पर पद्य-रचना की है। यहाँ कवि ने बाल से लेकर तलवे तक समस्त अगो, शारीरिक चेष्टाओ एव व्यापारो से सम्बन्धित सभी मुहावरो पर बोलचाल की भाषा मे भावमयी कविताये रची है। इस ग्रन्थ-रचना का कारण यह था कि उस समय हिन्दी मे मुहावरो का प्रयोग ठीक-ठीक नही होता था और हिन्दी मे ऐसी कोई पुस्तक भी नही थी, जिसमे मुहावरो का ठीक-ठीक प्रयोग करके रचना की गई हो। सर्वत्र मुहावरो की छीछालेदर हो रही थी और मुहावरो के प्रयोग से हीन होकर हिन्दी भाषा सर्वथा निर्जीव सी जान पडती थी। इसी कारण कवि हरिऔध ने बोलचाल की भाषा के अतर्गत मुहावरो का यह सुन्दर ग्रन्थ "बोलचाल" के नाम से लिखा। इन मुहावरेदार पद्यो मे सजीवता, मार्मिकता, व्यग्य, हास्य, चुटीलापन आदि अनेक विशेषताएँ भरी पडी हैं। अधिकाश मुहावरो के प्रयोग इतने सुष्ठु, सुन्दर एव चित्ताकर्षक है कि उन मे उक्ति-वैचित्र्य, अर्थ-गाभीर्य तथा

प्रयोग-साफल्य पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है।[१] रचना-शैली अत्यंत सजीव एव मार्मिक है। भाषा मे उर्दू, फारसी, अग्रेजी आदि के प्रचलित शब्दो का प्रयोग हुआ है और उर्दू की बहरो के वजन पर छन्दो की रचना हुई है। अलकार भी पर्याप्त मात्रा मे भरे पड़े है। सम्पूर्ण कविता लक्षणा एव व्यजना से परिपूर्ण है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त १९३१ ई० मे "रसकलस" नामक ब्रजभाषा का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ मे कवि ने शृगार-रस की अश्लीलता का निवारण करते हुए उसकी 'रसराज' उपाधि को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है तथा सभी रसो का सोदाहरण मार्मिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने इस ग्रन्थ मे नवीन ढग से नायिका-भेद भी उपस्थित किया है। आपने नायिकाओ के भेद पहले तो परम्परा के अनुसार ही किए हैं, परन्तु उत्तम स्वभाव वाली नायिका के जो भेद किए है वे सर्वथा नूतन एवं आधुनिक युग के अनुकूल है। यहाँ कवि ने उत्तमा नायिका के आठ भेद किए है—(१) पतिप्रेमिका, (२) परिवार-प्रेमिका, (३) जाति-प्रेमिका, (४) देशप्रेमिका, (५) जन्मभूमि-प्रेमिका (६) निजता-अनुरागिनी (७) लोकसेविका और (८) धर्मप्रेमिका। ऐसे भेद किसी भी रीति-ग्रन्थ मे नही मिलते। यह वर्गीकरण करके उक्त नायिकाओ के स्वभाव, चेष्टा, व्यापार, कार्य-प्रणाली आदि का भी अत्यन्त सजीवता के साथ निरूपण किया है।[२] इसके साथ ही कवि ने अपने इस ग्रन्थ मे नायक-निर्वाचन के अन्तर्गत

---

१. थी कमी चमकी जहाँ पर चाँदनी, देख पड़ती है घटा काली वहीं।
धूल सिर! तुम पर गिरी तो क्या हुआ, फूल चन्दन ही सदा चढ़ते नहीं॥
—बोलचाल, पृष्ठ १७

२ 'पति प्रेमिका' का वर्णन इस तरह किया है :—
सेवा ही मे सास औ ससुर की सदैव रहै,
सौतिन सो नाँहि सपने हू मै लरति है।
सील सुघराई त्यों सनेह-भरी सोहति है,
रोस, रिस, रारि और क्यों हूँ ना ढरति है।
"हरिऔध" सकल गुनागरी सती समान,
सूधे-सूधे भायन सयानप तरति है।
परम पुनीत पति-प्रीति मैं पगी रहे,
प्रान धन प्यारे पै निछावरि करति है।

भी नवीनता दिखाई है, क्योकि जिस तरह आपने नवीन-नवीन नायिकाओ की उद्भावना की है, उसी तरह कुछ नये-नये नायको की भी गणना की है। जैसे कर्मवीर, धर्मवीर, महत, नेता, साधू आदि। इनके स्वभाव, आचरण, क्रिया-कलाप आदि का भी अत्यन्त सफलता के साथ वर्णन किया है। कवि के इस ग्रन्थ मे प्रकृति-चित्रण भी बडा ही सजीव एव चित्ताकर्षक है। होली के वर्णन मे कवि की सूक्ष्म निरीक्षणता सर्वथा प्रशसनीय है। रचना-शैली अपेक्षाकृत उत्कृष्ट एव चमत्कार पूर्ण है। अलकारो का अत्यन्त सफलता के साथ प्रयोग किया गया है तथा ब्रज भाषा का बडा ही परिष्कृत एव प्राजल रूप अपनाया गया है। कवि का यह ग्रथ सरसतागत, शालीनता एव कवि-कुशलता की दृष्टि से सर्वथा प्रशसनीय है। छन्द परम्परा ही है, परन्तु भाव, विचार एवं वर्णन की दृष्टि से इस ग्रथ मे नवीनता के दर्शन होते है।

तदनन्तर सन् १९३५ ई० मे हरिऔध जी का एक और ग्रंथ बोलचाल की भाषा मे ही "फूल पत्ते" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसे "बोलचाल के कुछ अनूठे बेलबूँटे" नाम भी दिया गया है। क्रमानुसार बोलचाल की भाषा मे लिखा हुआ कवि का यह चतुर्थ ग्रथ है। इसके अन्तर्गत आई हुई समस्त कविताओ को कवि ने १३ भागो मे विभक्त करके रखा है—(१) भेद भरी बाते, (२) दिल के फफोले, (३) पते की बातें, (४) आँसू पर आँसू, (५) प्रेमी पखेरू, (६) देखभाल, (७) अपने अरमान, (८) चटपटी बाते, (९) मातम, (१०) लानतान (११) दुखियो के दुखडे, (१२) बेतुकी बाते, और (१३) होली का हौआ। इस ग्रथ मे भी कवि ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियो एव कुप्रवृत्तियो का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। साथ ही समाज सुधार की प्रेरणा भी पर्याप्त मात्रा मे दी गई है।[१] रचना-शैली अन्य बोलचाल के ग्रथ के अनुकूल ही व्यग्य प्रधान है। इस ग्रथ की भूमिका बडी मार्मिक एव महत्वपूर्ण है। उसमे कवि ने बोलचाल की भाषा में की हुई कविता के महत्व पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार किया है।

---

[१] **क्या होगया, समय क्यो, बे ढंग रंग लाया।**
क्यों घर उजड़ रहा है, मेरा बसा बसाया॥
सुन्दर सजे फबीले, थे फूल, जिस जगह पर।
अब किस लिए वहाँ पर काँटा गया बिछाया॥

—फूलपत्ते, पृ० १३।

इसके दो वर्ष पश्चात् १९३७ ई० मे आपका "पद्यप्रसून" नामक कविता ग्रथ प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे हरिऔध जी की समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित खड़ीबोली की कविताएँ सकलित की गई है। इस ग्रथ की कविताओ को भी ८ खण्डो मे विभक्त करके प्रकाशित किया गया है—(१) पावन प्रसून, (२) जीवन-स्रोत, (३) सुशिक्षा-सोपान, (४) जीवनीधारा, (५) जातीयता-ज्योति, (६) विविध विषय, (७) दिव्य दोहे, और (८) बाल-विलास। इन कविताओ मे भी हरिऔध जी ने तत्कालीन समाज पर छीटे कसे हैं तथा मानवीय दुर्बलताओ एवं दुराचारो की ओर सकेत करते हुए समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है। सारी कवितायें यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। सामाजिक कुरीतियो एवं धार्मिक ढकोसलो का अच्छी तरह पर्दाफाश किया गया है तथा जातीय-जीवन की ज्योति जाग्रत करने का स्तुत्य प्रयत्न मिलता है। अन्तिम 'बाल-विलास' खण्ड मे बालको के नैतिक स्तर को समुन्नत बनाने वाली कविताएँ संकलित की गई है। इस ग्रथ की सभी कविताएँ भेद-भाव, छूआछूत ऊँच-नीच आदि की बुरी भावनाओ को दूर करके सम्पूर्ण समाज मे एकता, अनुराग, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता, ईश्वर-प्रेम, विश्वबधुत्व आदि की भावनायें जाग्रत करने के लिए लिखी गई है।[1] रचना-शैली सरल, किन्तु ओजपूर्ण है। सर्वत्र बोलचाल के अनुकूल क्लिष्टता-हीन खडी बोली का प्रयोग मिलता है।

इसी वर्ष १९३७ ई० मे हरिऔध जी का दूसरा कविता-सग्रह "कल्पलता" के नाम से लखनऊ से प्रकाशित हुआ। यह सग्रह २० खण्डो मे विभक्त है—(१) विभुता-विभूति, (२) लोकरहस्य, (३) अन्तर्नाद, (४) जातीय सगीत (५) मंत्र साधना, (६) प्रकृति-प्रमोद, (७) सूक्ति-समुच्चय, (८) कमनीय कामना, (९) नीति-निचय (१०) मर्मबेध, (११) मर्मस्पर्श, (१२) सजीवन रस, (१३) जीवन-सग्राम, (१४) विविध

१—खोजे खोजी को मिला क्या हिन्दू क्या जैन।
पत्ता पत्ता क्या हमें पता बताता है न॥
रंग रंग में जब रहे सकें रंग क्यो भूल।
देख उसी की फबन सब फूल रहे है फूल॥
आव भगत उसका करें, पूजे पाँव सचाव।
सबसे ऊँचा जो रहा रख कर ऊँचा भाव॥
—पद्यप्रसून, पृ० ३।

रचनावली, (१५) विजयिनी विजय, (१६) दीपमालिका दीप्ति, (१७) फागराग, (१८) बाल-विलास, (१९) काम के कवित्त, और (२०) ब्रजभाषा के पद। इन खण्डो से ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि का यह कविता-सग्रह कितनी विविधताओ से भरा हुआ है। इस सग्रह मे भी हरिऔध जी की वे ही सब कवितायें हैं, जिनमे उन्होने सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक जीवन मे व्याप्त कुप्रवृत्तियो, कुरीतियो एव कुचालको का भडाफोड किया है। यहाँ भी सभी कवितायें कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है तथा वे कबीर की भाँति स्पष्टवादी होकर समाज सुधारक के पद पर आसीन दिखाई देते है। इन कविताओ मे तत्कालीन समाज की दुर्बलताओं के अतिरिक्त समसामयिक मस्ती, उत्सवप्रियता, आनन्द-उल्लास आदि की सजीव झाँकी भी मिल जाती है। अतिम खड को छोड कर सभी कविताए सरल तथा सुबोध खड़ी बोली मे है। अन्तिम खड सरस एव परम्परागत ब्रजभाषा मे लिखा गया है। रचना-शैली अत्यन्त प्रौढ़ एवं सशक्त है। गीत अत्यन्त मनोहर है तथा प्रकृति-चित्रण अतीव चित्ताकर्षक है।

इसी वर्ष दिसम्बर १९३७ ई० मे हरिऔध जी का वृहत् काव्यग्रन्थ "पारिजात" समाप्त हो गया। इसे कवि ने 'महाकाव्य' बतलाया है। यह १५ सर्गों मे लिखा गया है। विशालता की दृष्टि से तो यह एक महान् काव्य है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसे महाकाव्य नही कहा जा सकता, क्योकि इसमे न तो प्रबधात्मकता है, न चरित्र-चित्रण है और न सधिविधान है। केवल कुछ सर्गों के शीर्षको के रूप मे दृश्यजगत्, अन्तर्जगत्, सासारिकता, स्वर्ग, कर्म-विपाक, प्रलय प्रपच, सत्य का स्वरूप, परमानन्द आदि का विवेचन किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मुक्तक काव्य की कोटि मे आता है। इस काव्य का सम्पूर्ण विषय आध्यात्मिक एव आधिभौतिक है। इसमे कवि ने ईश्वर की अगम्य महिमा, स्वर्ग-नरक की कल्पना, ससार की प्रपचता, अवतारो का रहस्य, दर्शन की गहनता, धर्म का वास्तविक स्वरूप आदि विषयो को अत्यन्त गंभीरता के साथ व्यक्त किया है। सम्पूर्ण काव्य कवि की गहन अनुभूति, प्रौढ विचार, परिपक्व बुद्धि एव आध्यात्मिक प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। यहाँ कवि के दार्शनिक विचार अत्यन्त ओजस्विनी शैली मे व्यक्त हुए है।[1] 'दिव्य दश-

---

१—दिव्या भूति अचिन्तनीय कृति की ब्रह्माण्ड-माला-मयी,
तन्मात्रा जननी ममत्व-प्रतिमा माता महत्तत्व की।
सारी सिद्धिमयी विभूति-भारिता ससार संचालिका,
सत्ता है विभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका॥
पारिजात, पृ० ३४।

मूर्ति' नामक कविता मे कवि ने अवतारो की नवीन ढंग से व्याख्या की है। यहाँ कच्छ, मच्छ, वाराह, परशुराम आदि के स्थान पर राममोहन राय, रामकृष्ण परमहस, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानद सरस्वती, गोविन्द रानाडे, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय और मोहनदास करमचन्द गान्धी का नवीन दशक पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के गूढ एवं मनोरथ दृश्यो का चित्रण भी अत्यन्त सजीव एव चित्ताकर्षक है। प्रकृति को सचेतन मानकर उसकी सजीव कल्पना की गई है।[1] इस तरह कवि ने अपने इस वृहतकाय काव्य मे आधुनिक युग के अनुकूल विचारो को व्यक्त करके जनता के अधविश्वास, रूढिवादिता, धर्मांधता, पौराणिक अज्ञान आदि को दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। रचना-शैली प्रौढ एव सशक्त है। सर्वत्र ओजगुण की प्रधानता है। आध्यात्मिक एव आधिभौतिक विचारो की गहनता के कारण दार्शनिकता के दर्शन अधिक होते है और सरसता अपेक्षाकृत कम है। अलकारो का भावानुकूल प्रयोग हुआ है। भाषा कही सरल और कही क्लिष्ट संस्कृतमयी है। यहाँ मात्रिक और वार्णिक दोनो प्रकार के छन्द अपनाये गये है।

इसके उपरान्त १९३८ ई० मे हरिऔध जी की "ग्राम गीत" नामक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता सग्रह मे ग्रामीण जनो के हितार्थ लिखी हुई कवितायें सकलित है। हरिऔध जी ने ग्रामीणजनो के लिए कितनी ही कविताये लिखी थी, जिनमें गाव का जीवन, सफाई, सच्ची साध, सेवा भावना, देश प्रेम आदि का निरूपण करते हुए ग्रामीणजनो मे फैले हुए अंधविश्वास, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, भेद-भाव, स्वार्थ, दभ, छल-कपट आदि को दूर करने का प्रयत्न किया था। उन सभी कविताओ को इस सग्रह मे सगृहीत किया गया है। कवि ने इस ग्रथ मे ग्राम्य जीवन को सुखद एव सुन्दर बनाकर ग्रामवासियो के उज्ज्वल भविष्य की मगल कामना की है।[1] सम्पूर्ण सग्रह

१—प्रकृति वधू ने असित बसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना॥
उस का नव अनुराग नील नभतल पर छाया।
हुई रागमय दिशा, निशा ने बदन छिपाया॥
—पारिजात, पृ० ५४।

२—सारे दिन ऐसे ही आवें।
फूले फलें रहें सब पौधे पक्षी मीठा गान सुनावें।

मुक्तक गीतो एव घनाक्षरी पदो मे लिखा गया है। रचना-शैली सरल एवं सरस है। भाषा अत्यन्त सुबोध एव तद्भव शब्द प्रधान है। उपयोगिता की दृष्टि से यह सग्रह ग्रामीण जनो के लिए अत्यन्त लाभप्रद है।

इसके एक वर्ष पश्चात् १६३६ ई० मे कवि का "बाल-कवितावली" नामक कविता-सग्रह प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे बालको को नैतिक शिक्षा देने के लिए कवि ने कितनी ही कविताये लिखी है और यह समझाया है कि बालको को अपने माता-पिता, गुरुजन, शिक्षक, साथी, सहपाठी आदि के साथ किस तरह वर्त्ताव करना चाहिए, प्रात उठ कर उन्हे क्या-क्या कार्य करने चाहिए, और कैसे अपना जीवन उन्नत बनाना चाहिए। यह सग्रह बच्चो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। रचना-शैली भी अत्यन्त सरल, सरस और सुबोध है। बच्चो की दृष्टि से ही सारी कविताये लिखी गई है। जिसमे कही शिक्षाप्रद गीत है, तो कही सुखद लोरियाँ है।[1] कही जानवरो की बोलियाँ हैं, तो कही बदर, तितली, कोयल आदि के सजीव वर्णन है। यहाँ कवि ने बाल मनोविज्ञान के आधार पर ही सभी कविताये रची है। ये सभी कविताये बाल-साहित्य का श्रीगणेश करने वाली हैं और हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि है।

तदनन्तर १६४१ ई० में हरिऔध जी का तीसरा प्रसिद्ध महाकाव्य "वैदेही-वनवास" प्रकाशित हुआ। यह १८ सर्गो का महाकाव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा सीता के लोक हितैषी एव लोक-सग्रह-शील-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस महाकाव्य के लिखने से पूर्व 'प्रिय-प्रवास' को देखकर आलोचको ने हरीऔध जी के सामने दो बाते रखी थी, प्रथम तो यह कि आपकी रचना सस्कृत शब्दावली से अधिक ओत-प्रोत है। दूसरे आपके काव्य मे प्रकृति-चित्रण की विविधता के दर्शन नही होते। महाकवि हरीऔध

प्यारी हवा रहे बहती ही, मेघ समय पर जल बरसावें।
रहें खेत सिचते लहराते, भरे उमंग किसान दिखावें।
—ग्रामगीत, पृ० ८।

१—उठो लाल आँखों को खोलो। पानी लाई हूँ मुख धोलो॥
बीती रात कमल सब फूले। उनके ऊपर भौंरे भूले॥
नभ मे न्यारी लाली छाई। धरती पौ फाटी छवि पाई॥
ऐसा सुन्दर समय न खोवो। मेरे प्यारे अब मत सोवो॥
—बाल कवितावली पृ० ५७।

ने उक्त दोनो अभावो की पूर्ति करते हुए सरल एव सरस खडी बोली मे प्रकृति की विविध मनोरम झाँकियो से युक्त महारानी सीता एव पुरुषोत्तम राम के पावन चरित्रो का चित्रण करने के लिए इस "वैदेही वनवास" की रचना की। यह ग्रथ भी पौराणिक है। सारी कथा राम के लोकानुरजनकारी इति वृत्त को लेकर चली है[1] तथा इसमे कवि ने आध्यात्मिक विचारो का भी सुंदर निरूपण किया है। यहाँ भी 'प्रिय प्रवास' की भाँति अधिकाश घटनाये घटित होती हुई न दिखाकर वर्णित ही हैं तथा राम को अवतारी पुरुष न दिखाकर एक साधारण मानव के रूप मे चित्रित किया गया है। अन्य ग्रथो की अपेक्षा यहाँ विशेषता यह है कि यहाँ राम तथा सीता का सारा जीवन नियति के हाथो से संचालित होता हुआ ही दिखाया गया है। प्रकृति-चित्रण अत्यत भव्य एवं मनोमोहक है।[2] रचना शैली बडी अनूठी, सरस एव सुबोध है। भाषा तद्भव शब्द प्रधान खड़ी बोली है, जो सर्वत्र भावानुकूल है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकार भी बड़ी ही सजीवता के साथ प्रयुक्त हुए हैं, आधुनिक अलंकार जैसे मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यजना, विशेषण विपर्य आदि भी यत्र-तत्र मिल जाते है। सर्वत्र रोला, दोहा, चतुष्पद, त्रिलोकी, ताटंक, पादाकुलक, सखी आदि मात्रिक छन्दो को अपनाया गया है। सम्पूर्ण काव्य प्रसाद, माधुर्य एव ओज से परिपूर्ण है तथा इसमे उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है।

तदनन्तर ६ वर्ष उपरान्त हरिऔध जी के समस्त दोहो का सकलन "हरिऔध सतसई" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण १९४७ ई० मे निकला था और द्वितीय सस्करण १९५४ ई० मे निकला। इस ग्रंथ मे हरिऔध जी की दोहा छद मे लिखी हुई कविताओ को १७ शीर्षको मे विभक्त करके प्रकाशित किया गया है। वे शीर्षक इस प्रकार है—(१)

---

१. पहन कर लोकाराधन मत्र, करूंगा में इसका प्रतिकार।
साधकर जनहित-साधन सूत्र, करूंगा घर-घर शान्ति-प्रसाद।

वैदेही बनवास, तृतीय सर्ग, पृ० ५१

२ प्रकृति का नीलाम्बर, उतरे,
श्वेत साड़ी उसने पाई।
हटा घन-घूंघट शरदामा,
विहंसती महि में थी आई॥

वैदेही बनवास, दशम सर्ग, पृ० १४४

विनीत विनय, (२) गुणगान, (३) गुरु गौरव, (४) माता-पिता-महत्व, (५) शिख नख, (६) नीति, (७) कुसुम क्यारी, (८) मत्तमिलिन्द, (९) कान्त कामना, (१०) विविध, (११) वरवधू, (१२) प्रकीर्णक, (१३) अकान्त करतूत, (१४) विश्व प्रपच, (१५) महाभारत, (१६) भारतभूमि और (१७) कविकीर्ति। हरिऔध जी का यह ग्रथ सतसई की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसमे नीति एव उपदेश की प्रधानता है। किन्तु भगवद्भक्ति, वात्सल्य भाव, शृगार, वीर भावना, प्राकृतिक शोभा आदि पर भी अनेक दोहे लिखे गये हैं। दोहा छद मे कवि ने अपने नैतिक दृष्टिकोण को बडी सरसता के साथ व्यक्त किया है।[1] इस ग्र थ मे समास पद्धति का प्रयोग करते हुए अर्थ गाभीर्य एव उक्ति वैचित्र्य का पर्याप्त पुट दिया गया है। रचना-शैली मे बिहारी आदि सतसईकारो का ही अनुसरण किया गया है, परन्तु बिहारी जैसी गभीरता, श्लिष्ट पदावली एव सक्षिप्तता का यहाँ सर्वथा अभाव है। वैसे कथन-प्रणाली मे पर्याप्त जोश एव धारावाहिकता विद्यमान है। भाषा शुद्ध मुहावरेदार खडी बोली है, जिसमे यत्र-तत्र लाक्षणिकता एव अलकार प्रियता के भी दर्शन हो जाते है।

इसके उपरान्त १९५६ ई० मे हरिऔध जी की कुछ अप्रकाशित कविताओं का अन्तिम सग्रह "मर्मस्पर्श" के नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह मे कुछ कवितायें तो पुरानी ही है और कुछ कवितायें नवीन तो है, जब कि उन्हे प्राचीन शीर्षको मे ही प्रकाशित किया गया है। यह हरिऔध जी की अन्तिम काव्य-कृति है। इसमे २०७ कवितायें है, जो विभिन्न विषयो पर लिखी गई है। इनमे से गुणगान, ससार संसार, सबल माया, नाम महिमा, भक्ति भावना, विभुवर, विभु विभूति आदि आध्यात्मिक है, वारिद-वैचित्र्य, शारद सुषमा, शरद-शोभा, वसत-सुषमा, रजनी-रजन, गगनतल आदि प्रकृति-चित्रण से सम्बन्धित है और उपदेश, सत्पथ, दिव्य दोहे, दोहे, सत्य-सदेश, चेतावनी आदि नैतिकता एव उपदेशात्मकता से भरी हुई है। इसी तरह होली और देश-दशा, दिल के फफोले, लान-तान, अछूते छीटे, कच्चा चिट्ठा, मतलबी दुनिया, वज्रपात

---

१. **अत्याचारी हैं किया, करते अत्याचार।**
दुर्बल पर है सबल का, होता सदा प्रहार॥
अनुचित करते हैं नहीं, डरते प्राय' नीच।
वे उछालते ही रहे, नित औरों पर कीच॥

—हरिऔध सतसई, पृ० ६९

आदि कविताओ मे समाज का कच्चा चिट्ठा दिया गया है। साथ ही गौ, हिन्दी, भारत देश, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आदि समय-समय पर लिखी हुई कवितायें इस सग्रह मे सकलित की गई है। विविधता ही इस ग्रथ की विशेषता है। इसमे लौकिक पारलौकिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, नैतिक, सामाजिक, प्राकृतिक आदि अनेक विषयो पर लिखी हुई कवितायें संगृहीत है। इस सग्रह मे भी व्यग्यपूर्ण शैली का प्रयोग करते हुए कवि ने सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है।[1] रचना-शैली सजीव एव सरस है। सर्वत्र बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग हुआ है। छन्दो की विविधता भी इस सग्रह की विशेषता है। इसमे सभी प्रकार के नवीन और प्राचीन छन्द अपनाये गये है। प्रकृति की झाँकियाँ अत्यन्त मनोरम है।[2] नवीन और प्राचीन सभी प्रकार के अलकारो का प्रयोग किया गया है। और सभी रचनाये कवि की प्रौढ अनुभूति एव गहन अभिव्यंजना शैली की परिचायिका हैं।

साराश यह है कि महाकवि हरिऔध ने ब्रज-भाषा और खडी बोली मे विविध रचनाये प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य के अभावो की पूर्ति की। क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा लिख कर भाषा-प्रयोग के मार्ग को प्रशस्त किया और आगामी कवियो के लिए पथ-प्रदर्शन करते हुए यह बतलाया कि उन्हे जो मार्ग उचित जान पडे उसका अवलम्बन कर सकते है। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपने खडी बोली मे जिसमे सजीव एव मुहावरेदार कविता का अभाव था और उसकी खडखड़ाहट के कारण ब्रज-भाषा की ओर ही हिन्दी के कवियो की जो रुचि बनी हुई थी, उन सभी बातो को दूर करके पहले खड़ी बोली मे सजीवता उत्पन्न करते हुए मुहावरेदार कविताओ से उसके अभाव की पूर्ति की और फिर सरस कवितायें प्रस्तुत

---

१. **आगई हो तो होंगे क्यों न, आज आरंजित कितने ओक।**
किंतु होली मे आँखें खोल, तनिक लो देश-दशा अवलोक॥
—मर्मस्पर्श, पृ० ७२

२. **प्रकृति का असिताम्बर उतरा,**
नीलिमा नभतल की विलसी।
दिव हंसे दिव्य बने तारे,
शशिमुखी शरदाभा विकसी॥
—मर्मस्पर्श, पृ० ४२

करके जन-रुचि को भी खडी बोली की ओर आकृष्ट किया । भाषा पर आपका अपूर्व अधिकार था सस्कृत-वृत लिखने मे आप अद्वितीय थे और मुहावरो के प्रयोग मे आप सिद्धहस्त थे । आपकी प्रखर-प्रतिभा से प्रभावित होकर ही निराला जी ने आपको "सार्वभौम कवि" कहा था और प० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने आपको "खडी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कविसम्राट, ठेठ-हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ" बतलाया था । आपकी रचनाये स्वदेश-प्रेम, समाज-सुधार, साहित्य-सेवा एवं मानवतावाद से अत्यधिक परिपूर्ण है । आपका अधिकाँश जीवन हिन्दी के अभावो की पूर्ति मे ही व्यतीत हुआ । आप ही आधुनिक खडी बोली के सर्वप्रथम महाकाव्य लिखने वाले महाकवि है । आपने ही सर्वप्रथम बालोपयोगी साहित्य की रचना की है और आपने ही सर्वप्रथम हिन्दी की मुहावरेदार भाषा मे सरल और सरस कवितायें लिखी है । यद्यपि आपकी रचनाये अभिधा प्रधान हैं, उनमे लाक्षणिकता, सरसता एव उक्ति वैचित्र्य की अधिकता नही है, तथापि उनमे जितना ओज, व्यग्य एवं भाव-प्रेषणीयता का गुण है, उतना अन्यत्र किसी भी हिन्दी के कवि मे नही दिखाई देता । आपकी सभी कविताये जिंदादिली, ईमानदारी, सच्ची लगन एव अटूट साधना से ओतप्रोत है तथा उनमे हमे भक्ति काल की भावना, रीति काल की रचना शैली और आधुनिक युग की परवर्तित विचारधारा के सम्यक दर्शन होते है । निस्सदेह आपकी कविताये तत्कालीन समाज का उज्ज्वल दर्पण हैं ।

प्रियप्रवास की प्रेरणा के स्रोत

सामाजिक स्थिति—जिस युग मे हरिऔध जी ने साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उस समय भारत मे सुधारवादी सामाजिक सस्थाओ का बोल बाला था, क्योंकि उस समय जनता भेद-भाव, छूआ-छूत, धार्मिक सकीर्णता, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ, सामाजिक अत्याचार, मर्यादा-उल्लघन, अशिक्षा आदि का बुरी तरह से शिकार बनी हुई थी । उस काल तक भारत का सम्बन्ध विदेशो से भी अच्छी तरह स्थापित होगया था । अत यहाँ पर अनेक सामाजिक सुधार का कार्य करने वाली संस्थाये स्थापित हुईं । जिनमे से ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, राम-कृष्ण मिशन, प्रार्थना–समाज आदि प्रमुख है । ब्रह्म समाज ने ईसाई मत के अनुसार सामूहिक प्रार्थना, सगीत, उपदेश आदि पर ज़ोर दिया, मूर्तिपूजा को निषिद्ध ठहराया और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने के लिए आग्रह किया । इसके अतिरिक्त इसमे

स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, रात्रि-पाठशालाये, अन्तर्जातीय विवाह. अकाल पीडितो की सहायता आदि सेवा कार्यों को महत्व देते हुए पारस्परिक भेदभाव, ऊँच नीच, छुआछूत आदि को मिटाकर विश्वबंधुत्व की भावना को भरने का प्रयत्न किया गया ।

आर्य समाज ने भी भारतीय हिन्दू समाज मे नवीन क्रान्ति उत्पन्न की। इसमे वेदो की विशेष ढग से व्याख्या करते हुए हिन्दू समाज को पुन. वेदानुकूल आचरण करने के लिए आग्रह किया गया और हिन्दू समाज मे व्याप्त रूढिगत कुरीतियो, बाल-विवाह, बहुविवाह, सतीप्रथा, अस्पृश्यता, पर्दा, बाल-हत्या, मूर्तिपूजा, आदि का विरोध करके वेदानुसार धार्मिक अनुष्ठानो के मनाने, स्त्री-स्वातन्त्र्य, अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दी-सस्कृत के माध्यम से शिक्षा-प्रचार, स्त्री-शिक्षा आदि पर अत्यधिक जोर दिया गया । इसके अतिरिक्त जो हिन्दू ईसाई या मुसलमान हो गये थे, उन्हे शुद्ध करके पुन हिन्दू धर्म मे लाने का प्रयत्न किया गया ।

भारतीय समाज मे नवचेतना जाग्रत करने वाली सस्थाओं मे "थियोसफीकल सोसाइटी" का भी बडा महत्व है । थियोसफी का आन्दोलन सर्वप्रथम सन् १८७५ ई० मे न्यूयार्क के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था । इसका सर्वप्रथम आरम्भ मैडम व्लेवेटस्की तथा कर्नल एच० एस० औलकोट ने किया था । सन् १८८६ ई० मे मैडम व्लेवेटस्की भारत मे पधारी और श्रीमती एनीवेसेट उनके सम्पर्क मे आई । तदनन्तर श्रीमती एनीवेसेंट ने ही भारत मे थियोसफी का आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस सोसाइटी के अनुयायियो का मत है कि समस्त धर्मो का मूल उद्गम एक ही है । यहाँ प्रत्येक धर्म को महत्व दिया जाता है तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना जाग्रत की जाती है । इस सोसाइटी ने भी जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि का भेदभाव मिटाकर विश्वबधुत्व की भावना का प्रचार किया और विशुद्ध मानव-प्रेम, ईश्वर मे अटूट विश्वास, सर्व-धर्म-समन्वय आदि पर जोर दिया था ।

भारत के सामाजिक पुनरुत्थान-कार्य मे "रामकृष्ण मिशन" का भी पर्याप्त सहयोग रहा है । यह मिशन स्वामी रामकृष्ण परमहस की मृत्यु के १० वर्ष उपरान्त उनके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९६ ई० मे स्थापित किया । आज इसकी शाखायें सम्पूर्ण विश्व मे फैली हुई है । इन शाखाओं मे ऐसे त्यागी-तपस्वी सन्यासी तैयार किए जाते है, जो आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मानव-मात्र की सेवा मे तत्पर रहते हैं । साधारणतया इस

मिशन ने शिक्षा, धर्म-प्रचार, समाज-सेवा तथा अन्य लोकोपकारी कार्यों की प्रेरणा समाज मे उत्पन्न की है। आज भी भारत मे कितने ही अस्पताल, अनाथालय, शिक्षालय आदि इसी मिशन द्वारा चल रहे हैं। अत प्राचीनता एव नवीनता का समन्वय करके इस मिशन ने उस समय धार्मिक विश्वास, आध्यात्मिकता, लोकसेवा, मानव-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता आदि के जाग्रत करने में बडा ही सराहनीय कार्य किया था।[1]

ब्रह्म-समाज की भाँति महाराष्ट्र मे सामाजिक पुनरुत्थान के लिए "प्रार्थना-समाज" की स्थापना हुई। इसका प्रारम्भ सन् १८६७ ई० मे महादेव गोविंद रानाडे ने किया था। इस समाज ने भी एक ईश्वर की उपासना एव सामाजिक सुधार का आदर्श जनता के सम्मुख रखा तथा सत नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि से प्रेरणा लेते हुए अछूत-उद्धार, शिक्षा-प्रचार, विधवा-विवाह, स्त्री-पुरुष की समानता, अन्तर्जातीय विवाह, अनाथालयो की स्थापना आदि कार्य किये और जनता मे पारस्परिक सौहार्द्र, सेवा-भावना, सामाजिक एकता आदि का प्रचार किया था।[2]

इन सामाजिक सस्थाओ के अतिरिक्त स्वामी रामतीर्थ ने भी २४ वर्ष की ही अवस्था मे सन्यास ग्रहण करके देश-विदेश मे भ्रमण करते हुए सत्य, ज्ञान, सच्चरित्र, स्वार्थ भावना का परित्याग, समानता, एक ईश्वर मे विश्वास आदि का प्रचार किया था। इतना ही नही अग्रेजो ने भी सामाजिक सुधार के कुछ प्रयत्न किये थे। जैसे उन्होने कानून बनाकर जन्मजात लडकी को मारने पर प्रतिबध लगाया था, सती प्रथा को रोका था, और बाल-विवाह पर प्रतिबध लगाया था। अग्रेजों ने छूआछूत, ऊँच नीच, परदा-प्रथा आदि का निवारण करके स्त्री-शिक्षा, स्त्री-पुरुष समानता, अछूतो को भी मत देने का अधिकार, सामाजिक एकता आदि के प्रयत्न किये थे। इन्ही सामाजिक प्रवृत्तियो के कारण उस समय देश मे सर्वत्र सामाजिक सुधार, मानव-प्रेम, विश्व-बधुत्व, लोकोपकार, एक ईश्वर मे विश्वास, नारी-सुधार, लोक-सेवा, धार्मिक सहिष्णुता, भेद-भाव का परित्याग आदि का वातावरण फैल गया था, जिससे प्रेरित होकर तत्कालीन कवियो ने ऐसे ही काव्यो की रचना की, जिनमे उक्त भावनाओ का प्राधान्य दिखाई देता है।

---

१. इन्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज, पृ० ३६२।

२. वही, पृ० ३६४।

राजनीतिक स्थिति—सन् १८५७ के उपरान्त सारे भारत मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए एक उत्कृष्ट अभिलाषा जाग्रत हो गई थी। सम्पूर्ण देश मे ब्रिटिश शासन के प्रति एक आन्तरिक द्वेष एव विद्रोह की भावना घर कर गई थी। यद्यपि कम्पनी का राज्य समाप्त करके महारानी विक्टोरिया ने यहाँ की जनता को बडे सुख-स्वप्न दिखलाये थे, फिर भी जनता अग्रेजो के शासन से बराबर पिसती चली जा रही थी। इसी कारण जनता की ओर से सन् १८८५ मे काग्रेस की स्थापना हुई। इसकी स्थापना पहले तो ब्रिटिश राज्य और जनता मे परस्पर स्नेह स्थापित करने के लिए तथा शासको को उनके शासन मे त्रुटि बतलाकर शासक एव शासित के मध्य फैले हुए वैमनष्य को दूर करने के लिए. हुई थी। परन्तु १८८६ ई० मे सरकार ने इन्कम टैक्स ऐक्ट बनाया और काग्रेस ने उसका तीव्र विरोध किया, जिससे सरकार काग्रेस को सदेह की दृष्टि से देखने लगी। उसके अधिवेशनो मे बाधा डालने लगी और सरकारी नौकरो को उसमे सम्मिलित होने से रोका जाने लगा। तदुपरान्त बग-भग के समय सारे देश मे क्रान्ति की लहर दौड गई। उस समय काग्रेस के प्रयत्न से विदेशी वस्तुओ का वहिष्कार एवं स्वदेशी वस्तुओ का प्रचार प्रारम्भ हुआ। इस क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन मे बाबू विपनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, लोकमान्य तिलक आदि ने भाग लिया। १९०८ ई०मे तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया। इससे जनता मे और भी उत्तेजना फैल गई और सारा देश ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गया।[1] १९१४ ई० के युद्ध मे सरकार ने देश से सहायता मागी और आश्वासन दिया कि हम काग्रेस की स्व-शासन की माँग को स्वीकार कर लेंगे, परन्तु विजय के उपरान्त उस माग पर कोई ध्यान नही दिया गया। उस समय गाधी जी काग्रेस मे आ गये थे। विश्व युद्ध की समाप्ति पर १९१९ ई० मे रौलट बिल पास हुआ, जिसके विरोध मे सारे देश के अन्तर्गत हडतालें हुई और जुलूस निकाले गये। दिल्ली मे जुलूस पर गोलियाँ चलाई गईं। इसी समय महात्मा गाधी को गिरफ्तार किया गया और जलियाँ वाले बाग की भयंकर घटना हुई।[2]

गाधीजी ने भारतीय राजनीतिक जीवन मे नवीन विचारो का समावेश किया था उन्होने सत्य, अहिंसा, सेवा, विश्वस्त वृत्ति (ट्रस्टीशिप), ग्रामसुधार एव सर्वोदय की भावना द्वारा रामराज्य का प्रचार किया था।

---

१ कांग्रेस का इतिहास, पृ० ६४-६६।
२. वही, पृ० १३३।

उनकी रामराज्य सम्बन्धी कल्पना यह थी कि सम्पूर्ण देश मे ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे सभी व्यक्तियो को स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, स्थान, जल आदि मिलें। उनके लिए पर्याप्त वस्त्र, शिक्षा, मनोरजन, न्याय आदि की सुविधाये हो। खेती, गाय, बैल आदि की उन्नति हो और सर्वत्र सहयोग और समानता की भावना का प्रचार हो।[1] गाधी जी ने हरिजन-सुधार पर जोर दिया। सभी धर्मो के प्रति श्रद्धा रखते हुए अपने-अपने मतानुसार ईश्वरोपासना को महत्वपूर्ण बतलाया। साथ ही उन्होने जीवन के सभी उच्च आदर्शो का समन्वय करके उन्हे व्यापक एव सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया था।

इस तरह हरिऔध जी के समय मे राजनीतिक क्षेत्र मे भी पर्याप्त जागृति थी। अग्रेजो के अत्याचारो से पीडित भारतीय जनता स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही थी और अग्रेजो की दमन-नीति का अत्यन्त साहस, दृढता, शान्ति एव सयम द्वारा सामना कर रही थी। सम्पूर्ण देश स्वतन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत था और आन्दोलन मे भाग लेकर अग्रेजी शासन से मुक्त होने के लिए क्रान्ति मचा रहा था। स्वदेश-प्रेम एव विदेशी वस्तु के बहिष्कार की भावना सारे समाज मे फैल गई थी। इसी कारण तत्कालीन साहित्य मे स्वदेश-प्रेम एव स्वतन्त्रता के गीत पर्याप्त मात्रा मे गाये गये है और कवियो ने देशवासियो को सचेत एव सावधान करके तत्कालीन आन्दोलन को सफल बनाने की प्रेरणा प्रदान की है।

धार्मिक स्थिति—हरिऔध जी के युग मे हिन्दू समाज के अन्तर्गत धर्मान्धता की प्रबलता थी। हिन्दू समाज अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण मूर्ति पूजा, अंधविश्वास, रूढिवाद एव देवी-देवताओ मे अटूट श्रद्धा-भक्ति रखता हुआ प्राचीनता का ही पुजारी बना हुआ था। नवीन दृष्टिकोण के लिए उसके हृदय मे स्थान न था। उस समय वैष्णव मत की प्रधानता थी और अधिकाश व्यक्ति राम, कृष्ण, शिव, हनुमान, दुर्गा, आदि देवी-देवताओ की पूजा करते थे। विष्णु के विभिन्न अवतारो की कथाये उनके रग-रग मे व्याप्त थी और विभिन्न देवी-देवताओ को उसी परमब्रह्म का स्वरूप माना जाता था। इस कट्टरता का एक कारण तो यह था कि मुसलमानो का सम्पर्क होने से अधिकाश हिन्दुओ को मुसलमान बना लिया गया था। इसलिए हिन्दू लोग अपनी जाति की सुरक्षा के लिए धार्मिक कट्टरता को छोडना नही चाहते थे दूसरी ओर ईसाई लोग भी खुले आम अपने धर्म का प्रचार करते हुए यहाँ

---

१ **गांधीवाद : समाजवाद, पृ० ४७–४९।**

की जनता को ईसाई बना रहे थे। ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जाती थी, धर्म-पुस्तके मुफ्त बाँटी जाती थी और नीच से नीच व्यक्ति को भी गले लगाकर उसके साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। हिन्दू धर्म मे वर्णाश्रम धर्म का पालन होने के कारण ऊँच-नीच, छोटा बडा आदि की भेदभरी भावनायें विद्यमान थी। इसलिए हिन्दू धर्म उस समय बडी भयकर स्थिति का सामना कर रहा था। अतः उस युग मे हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना हुई, जिसने पारस्परिक सौहार्द्र एव सद्भावना का प्रचार करते हुए नीच जाति के लोगो को भी गले लगाया, जो हिन्दू मुसलमान या ईसाई हो गये थे, उन्हे शुद्ध करके अपनी जाति मे मिला लिया और हिन्दुओ मे फैली हुई नाना प्रकार की कुरीतियो को दूर किया। आर्य समाज ने वेदो के महत्व का प्रतिपादन करते हुए तत्कालीन धार्मिक आचार-विचार मे दोष दिखाये। मदिर, मठ एवं महन्त-पुजारियो के यहाँ फैले हुए पापाचरण एव पाखडो से जनता को अवगत कराया और जनता मे एकता, सहानुभूति, सगठन, सौहार्द्र, भ्रातृभाव एक ईश्वर मे विश्वास आदि का प्रचार किया। उधर स्वामी रामकृष्ण परमहम, विवेकानद तथा रामतीर्थ ने भी हिन्दू धर्म की सकीर्णता को दूर करके विशालता, उदारता उच्च विचार आदि को अपनाने का आग्रह किया, हिन्दूधर्म को ससार मे सबसे महान् सिद्ध किया और विदेशो मे भी इस धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया। इन धार्मिक महात्माओ के सतत प्रयत्नो एव नवीन दृष्टिकोणो ने जनता मे नव चेतना का सचार किया, जिससे धार्मिक कट्टरता को अपनाने वाले व्यक्ति भी धर्मांधता को छोडकर ईश्वर की सर्वव्यापकता, प्राणिमात्र मे एकता विश्वबधुत्व आदि की भावनाओ को अपनाने लगे। जनता मे अवतारो के बारे मे भी नई धारणा घर करने लगी और अवतारो के पीछे जो अतिमानवतावादी विचार प्रचलित थे, उनके स्थान पर तर्क सम्मत एव बुद्धिग्राह्य विचार पनपने लगे। जैसे कृष्ण ने गोवर्द्धन को कैसे उँगली पर उठा लिया होगा, भयानक नाग को कैसे पकडकर नाथा होगा, राम ने कैसे पत्थर तैराये होगे, वाराह अवतार लेकर भगवान ने कैसे सम्पूर्ण पृथ्वी को समुद्र मे से निकाल कर अपने दाढो पर रखा होगा आदि-आदि अति मानवतावादी कथनो की बुद्धिग्राह्य व्याख्याये होने लगी और जनता मे तर्क एवं विवेक जाग्रत हुआ। इस तरह हरिऔध जी के युग मे धार्मिक सकीर्णता, धर्मांधता अथवा धार्मिक अतिमानवतावाद को दूर करने का प्रयत्न होने लगा था और जनता धर्म के बारे मे सचेत होकर अपने धर्म की वास्तविकता को समझने का

प्रयत्न करने लगी थी। ऐसे युग मे जितने भी साहित्य-ग्रथ प्रणीत हुए, उनमे सर्वत्र धार्मिक नव चेतना के दर्शन होते है, क्योकि इस चेतना का प्रभाव तत्कालीन लेखको एव कवियो पर भी पडा था।

साहित्यिक स्थिति—हरिग्रौध जी का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदी-युग मे हुआ। परन्तु हरिग्रौध जी प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण करने से पूर्व ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे।[1] उन पर भारतेन्दु युग के कवियो का प्रभाव था और उनसे प्रेरणा लेकर ही आपने अपनी प्रारम्भिक रचनाये ब्रजभाषा मे प्रस्तुत की थी। हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दु युग सजीवता एव जिंदादिली के लिए प्रसिद्ध है। इस युग मे कवि-सम्मेलनो एव कवि-गोष्ठियो की धूम थी, जिससे कविता का प्रागण राज-दरबार न रह कर सर्वसाधारण का स्थान हो गया था। यद्यपि अधिकाश कविताओ मे रीतिकालीन शृगारिक भावनाओ एव समस्या पूर्तियो की ही बहुलता थी, तथापि कुछ नये-नये स्वतन्त्र विषयो पर भी कविताये लिखी जाने लगी थी और कवि लोग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव अन्य समसामयिक समस्याओ पर भी अपने विचार प्रकट करने लगे थे। परन्तु अभी तक नवीन छन्दो का प्रचार नही हुआ था। प्राय. कवित्त, सवैये, पद, रोला, छप्पय, दोहा आदि प्राचीन छन्दो की ही प्रधानता थी। कुछ लोक-प्रचलित छन्द भी साहित्य क्षेत्र मे अपनाये जाने लगे थे। जैसे बा० हरिश्चन्द्र, राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि ने 'लावनी' छन्द का प्रयोग किया था, प्रेमचन्द तथा खगबहादुरमल ने 'कजली' छन्द को अपनाया था। उस समय कुछ खडी बोली मे भी रचनाये हुई थी, परन्तु अधिकाश कवि ब्रजभाषा की सरसता पर ही विमुग्ध थे। इतना अवश्य है कि भारतेन्दु युग मे कवियो का दृष्टिकोण उदार हो गया था और जीवन का कोई भी पक्ष उनसे अछूता नही बचा था।[2] यह युग आन्दोलनो का युग था। इसी कारण इस युग मे लेखक ज़िंदादिली के साथ साहित्य का सृजन करते थे। उस समय प्रेस की स्वाधीनता न थी। इसलिए तत्कालीन लेखको को हास्य एव व्यग्य का सहारा लेना पडता था।[3]

द्विवेदी युग के आते ही काव्य के क्षेत्र पर खडी बोली का अधिकार होने लगा। इस युग मे काव्य की स्थूलता, वाह्य वर्णन, इतिवृत्तात्मकता,

---

१ **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०७।**

२ **आधुनिक काव्य धारा, पृ० १०५।**

३. **भारतेन्दु युग, ११२।**

शृंगार से घृणा, पौराणिक कथा-प्रेम, उपदेश-परता, नैतिकता, प्रकृति-चित्रण की बहुलता एव नवीनता आदि की प्रधानता रही। द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा के स्थान पर शुद्ध खडी बोली मे कवितायें रचने का आग्रह किया और "सरस्वती" पत्रिका द्वारा इसका अच्छी तरह प्रचार किया। आपने मराठी के नमूने पर सस्कृत वृत्तो मे कविता, लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। आपके प्रयत्न से ही अधिकाश कवि खडी बोली की ओर आकृष्ट हुए। परन्तु तत्कालीन रचनाओ मे से पहले जो कविताये लिखी गईं, उनमे सरसता एव सौदर्य का सर्वथा अभाव रहा तथा कवियो द्वारा वर्णनात्मकता एव आलोचनात्मक प्रवृत्ति के अपनाने के कारण उन कविताओ मे कल्पना एव साकेतिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया। हाँ, इतना अवश्य है कि इस युग मे आकर वर्ण्य-विषयो मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ। कवियो की मनोवृत्ति मे देश, समाज और संस्कृति के प्रेम की भावना उदित हुई। वे प्रत्येक वस्तु मे सुधार और सुव्यवस्था की ओर अग्रसर हुए तथा ईश्वर की अलौकिक एव अतिमानवतावादी कथाओ को भी लौकिक एव मानवतावादी रूप देकर उन्हे मानव जीवन से सर्वथा सम्बद्ध करके प्रस्तुत करने लगे। यहा आते-आते भारतेन्दु युग की निराश मनोवृत्ति भी लुप्त हो गई और उनके स्थान पर आत्मविश्वास, दृढता, एव अग्रसर होने की प्रवृत्ति का स्वर सुनाई पडने लगा।[1] कवियो मे लोकसेवा, परदुःख कातरता, मानवता-प्रेम, विश्वबधुत्व आदि की उदारभावनाये भी घर करने लगी और स्वतन्त्रता, स्वदेशप्रेम, मातृभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा आदि से ओत-प्रोत होकर अधिकाश कवि 'जननी-जन्मभूमि' के सौदर्य की झाकी प्रस्तुत करने लगे। तत्कालीन सामाजिक जीवन की छाप भी उस समय के साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि अधिकाश कवियो ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, ऊँच-नीच के भेदभाव का निराकरण आदि पर अनेक कविताये लिखी हैं। नारी-जीवन की महत्ता का उल्लेख भी इस युग मे सर्वाधिक मिलता है। इस युग के कवि नारी को समाज की अपूर्व शक्ति स्वीकार करके उसकी शिक्षा, उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके सामाजिक अधिकार का वर्णन किये बिना नही रहे हैं। नारी-जीवन की महत्ता इस युग के कवियो मे इतनी अधिक व्याप्त हो गई थी कि सभी छोटे-बड़े कवियो ने नारी की उपेक्षा एव उसके चरित्र को अवनत देखकर नारी के समुन्नत एव श्रेष्ठ जीवन को अकित

---

१ **आधुनिक काव्यधारा, पृ० १२५।**

करने का प्रयत्न किया। हरिऔध जी की 'राधा' और 'वैदेही', मैथिलीशरण जी की कैकेई, उर्मिला और यशोधरा तथा प्रसाद जी की मल्लिका, देवसेना, अलका, श्रद्धा आदि इसका ज्वलत प्रमाण है।

इस युग मे बौद्धिक जागरण की प्रधानता रही और जनता मे आदर्श-वाद की ओर झुकाव अधिक रहा। इसी कारण जनता की रुचि मे भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ, क्योकि जो जनता पहले शृगारमयी अश्लील एव कामोद्दीपक कविताएँ पढना अधिक पसद करती थी, अब वह सात्विकता की ओर प्रवृत्त हुई, उसने रीतिकालीन शृंगारमयी अश्लीलता एव विलासिता की केंचुली को उतारकर फेक दिया तथा वह सत् की ओर अग्रसर होने लगी। इसीलिए इस युग के काव्यो मे राष्ट्रीय नवचेतना, मानवता, सत्य, सात्विकता, समाज-सुधार, लोक-सेवा, विश्वबधुत्व आदि की प्रतिष्ठा हुई, जिससे उदात्त सदेशमयी आदेशात्मक एव उपदेशात्मक कोटि की कविता का समावेश हुआ। इसके साथ ही अभी तक साहित्य जन-जीवन से कुछ दूर ही था, उसमे जनता के प्रति सहानुभूति एव दीन-दुर्बलो के प्रति श्रद्धा की भावना अधिक व्यक्त नही होती थी। परन्तु इस युग मे आकर साहित्य का सबसे अधिक झुकाव जनता की ओर हुआ। मानव-सेवा एव मानव-प्रेम कविता के अभिन्न अग बन गये।[1] इसी कारण 'प्रियप्रवास' की राधा लोकसेवा के लिए अपना सारा जीवन अर्पण कर देती है। 'पुरुषोत्तम' मे तो कृष्ण को यह घोषणा करनी पडी है कि यदि मुझ तक किसी को पहुँचना है तो उसे किसानो को अपनाना होगा। 'साकेत' में सीता जी को कुटिया मे ही राजभवन के दर्शन होते है तथा उर्मिला विरह-व्यथित होकर भी शत्रुघ्न से ग्रामीणजनो की दशा पूँछती रहती है। इसी तरह 'कामायनी' की इडा भी सघर्ष के समय जनता के पक्ष का समर्थन करती है और जन-सहार रोकने का आग्रह करती है।[2]

---

१ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० ७७-७८

२ भीषण जन-सहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खोता है।
क्यो इतना आतक ठहर जा ओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।

—कामायनी, पृ० २०१

अत॰ हरिऔध जी ने जिस युग मे साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उस युग मे सभी क्षेत्रो के अतर्गत नव-चेतना की लहर दौड रही थी, सारी जनता में बौद्धिक जागृति उत्पन्न हो चुकी थी तथा सम्पूर्ण समाज अंधविश्वास के पक से निकलकर नवीन आदर्श, नवीन ज्ञान, नवीन विश्वास एव नवीन दृष्टिकोण को अपनाता चला जारहा था। परम्परागत रूढियाँ समाप्त होती चली जारही थी और सवर्ण-अवर्ण, स्त्री-पुरुष, कुलीन-अकुलीन आदि के भेदभाव को भूलकर सभी लोग मानवता के पुजारी बनते चले जारहे थे। लोकसेवा एव लोकानुरजन की ओर जनता का झुकाव सर्वाधिक दिखाई देता था तथा राष्ट्रीयता, विश्वबधुत्व एव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हृदयो मे गभीरता के साथ प्रविष्ट होती चली जारही थी। यही कारण है कि इस युग मे उपदेशात्मक साहित्य की प्रधानता रही और अधिकाश कवियो ने देश और समाज की दुर्बलताओ का चित्रण करते हुए राष्ट्रीयता एव जातीयता के भावो को प्रमुखता दी।

'प्रियप्रवास' की अवतारणा—उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि युग की प्रेरक शक्तियाँ महाकवि हरिऔध को भी यह प्रेरणा देरही थी कि वे इस आधुनिक युग के लिए एक ऐसे महाकाव्य का निर्माण करे, जिसमे आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक विचारो का समावेश हो। इसके अतिरिक्त उस समय तक खडी बोली की फुटकल कविताएँ तो पर्याप्त मात्रा मे लिखी जा चुकी थी, और 'जयद्रथ बध' जैसे कुछ खडकाव्य भी बन चुके थे, परन्तु अभी तक कोई 'महाकाव्य' नही लिखा गया था। अत इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए हरिऔध जी ने इस काव्य का श्रीगणेश किया, जैसा कि उन्होने स्वीकार भी किया है कि "खडी बोली मे छोटे-छोटे कई काव्य-ग्रथ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं, परन्तु उनमे से अधिकाश सौ दो सौ पद्यो मे ही समाप्त है, जो कुछ बडे है वे अनुवादित है, मौलिक नही।॰ ॰ इस-लिए खडी बोलचाल मे मुझको एक ऐसे ग्रथ की आवश्यकता देख पडी, जो महाकाव्य हो।॰॰ ॰ अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परिश्रम करके इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रथ की रचना की।"[1]

इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि उस युग मे देश-प्रेम एव मातृभाषा-प्रेम की धूम मची थी। जनता मे जागृति पर्याप्त मात्रा मे हो चुकी

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका— काव्यभाषा, पृ० २

थी। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार स्वदेश, स्व-समाज, स्व-राष्ट्र, स्व-मातृभूमि एव स्व-मातृभाषा की सेवा करने के लिए लालायित हो रहा था। महाकवि हरिऔध ने इस सेवा के लिए कविता को ही अपना माध्यम बनाया था और अपनी कविता द्वारा ही मातृभाषा हिन्दी की सेवा करने के लिए इस काव्य का प्रणयन किया था। जैसा कि आपने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "मै बहुत दिनो से हिन्दी भाषा मे एक काव्य-ग्रथ लिखने के लिए लालायित था। मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है, बने या न बने, सेवा-प्रणाली सुखद और हृदयग्राहिणी हो या न हो, परन्तु एक लालायित-चित्त अपनी प्रबल लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे ?· · ··निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैने 'प्रियप्रवास' नामक इस काव्य की रचना की।"[१]

तीसरा कारण यह है कि उस युग तक हिन्दी मे प्राय. तुकान्त एव अन्त्यानुप्रास वाली कविताओ की ही धूम मची हुई थी। वीरगाथा-काल से लेकर हरिऔध जी के युग तक ऐसी ही हिन्दी कविताएँ समाज मे समादृत होती थी, जो अन्तिम तुक या अन्त्यानुप्रास युक्त हो। हिन्दी ही क्या, बँगला, पजाबी, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ मे भी अन्त्यानुप्रास को महत्व दिया जाता था। उर्दू-फारसी की कविताएँ भी तुकान्त होने के कारण अधिक आदर प्राप्त करती थी। अरबी की कविताएँ भी तुकान्त ही होती थी। विश्व की सभी भाषाओ मे तुकान्त कविताओ की बहुलता थी। परन्तु भिन्न-तुकान्त एव अन्त्यानुप्रास हीन कविताएँ भारत की सस्कृत-भाषा मे ही पर्याप्त मात्रा मे लिखी गई थी, जो अतीव सुन्दर, सरस एव मनोमोहक थी। उस समय तक बँगला मे माइकेल मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद बध' भी निकल चुका था, जो भिन्न-तुकान्त काव्य था। किन्तु हिन्दी भाषा मे उस समय तक थोडी बहुत फुटकर कविताएँ तो अवश्य तुकान्तहीन संस्कृत वृत्तो मे लिखी गई थी, फिर भी कोई महाकाव्य अभी तक अन्त्यानुप्रास-हीन एव तुकान्त-हीन कविता के अतर्गत नही लिखा गया था। अत. इसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से हिन्दी भाषा को विविध प्रकार की प्रणालियो से विभूषित करने के लिए अतुकान्त एव अन्त्यानुप्रास-हीन कविता मे 'प्रियप्रवास' की रचना की। जिसका सकेत कवि के इन वाक्यो मे विद्यमान है—"हाँ, भाषा-सौन्दर्य साधन के लिए और उसको विविध प्रकार की कविता से विभूषित करने के

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका—विचार सूत्र, पृ० १

उद्देश्य से अतुकान्त कविता के भी प्रचलित होने की आवश्यकता है, और मैने इसी विचार से इस 'प्रियप्रवास' ग्रथ की रचना इस प्रकार की कविता मे की है।"[१]

चौथा कारण यह है कि हरिऔध जी जहाँ स्वदेश एव समाज के उत्थान के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे, वहाँ उनकी यह लालसा भी थी कि हमारी मातृभाषा विभिन्न महाकाव्यो से विभूषित हो जिसमे हमारे आधुनिक जीवन का सर्वांगीण चित्र अकित हो तथा अत्यधिक समुन्नत कविता का रूप प्रस्तुत करते हुए देश-विशेष मे भी समुचित आदर को प्राप्त करे। अत. अन्य सुकविजनो को और-और महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए, उन्हे महाकाव्य की दिशा मे मार्ग-दर्शन करने के लिए तथा खडी बोली मे महाकाव्यो की परम्परा का श्रीगणेश करने के लिए आपने इस ग्रथ की रचना की, जैसा कि आपने लिखा भी है—"महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रथ सत्रह सर्गो मे केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियो और सुलेखको का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ मर्मस्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध होकर खड़ी बोली मे सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगो को हस्तगत नही होता, तब तक यह अपने सहज रूप मे आप लोगो के ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओ के सम्मुख है, और एक कवि के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर यह प्रार्थना करता है—'जबलौ फुलै न केतकी, तबलौं विलम करील'।[२]

इस ग्रंथ के प्रणयन का पाँचवाँ कारण यह है कि हरिऔध जी मातृभाषा हिन्दी को भारत के विभिन्न प्रान्तो मे समझने-समझाने के योग्य अथवा लोकप्रिय बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि हिन्दी ही भारत की एक ऐसी भाषा है, जो सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है, क्योकि इसमे जितनी सरलता, सुबोधता एव मनोवैज्ञानिकता है, उतनी अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे नही है। वैसे अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी इसकी अपेक्षा कही अधिक सरस, मधुर एव सम्पन्न है। बँगला की मधुरता किसी से छिपी नही है। मराठी की गभीरता एव शालीनता भी अद्वितीय है। तामिल, तैलगू, आदि दक्षिणी भाषाएँ भी पर्याप्त सरस एव सम्पन्न है, परन्तु सरलता एव

---

१. **प्रियप्रवास की भूमिका—कविता प्रणाली, पृ० ५**

२. **वही, पृ० २, ३**

सुबोधना का गुण हिन्दी को ही प्राप्त है। फिर भी जब तक इस खडी बोली हिन्दी मे सस्कृतमयता नही आती, तब तक सभी प्रान्तो मे इसका आदर होना सभव नही। इसी कारण हरिऔध जी ने सस्कृतमयी खडी बोली को राष्ट्रभाषा के अनुकूल बताया था, जब कि प्रेमचद जी इसके पूर्णतया विरुद्ध थे। वे बोलचाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा के अनुकूल समझते थे और कहा करते थे कि "जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनो माने, जिसको आम जनता समझे, वह है हिन्दुस्तानी और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी भी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।"[1] परन्तु हरिऔध जी ने सस्कृत-निष्ठ हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के सर्वथा अनुकूल समझा था और इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की भरमार करते हुए इस काव्य का निर्माण किया। इसके बारे मे आपने स्पष्ट लिखा है—'भारतवर्ष भर मे सस्कृत भाषा आदृत है। बँगला, मरहठी, गुजराती, वरन् तामिल और पजाबी तक मे सस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। इन सस्कृत शब्दो को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रान्तो के सज्जनो के सम्मुख उपस्थित होगी, तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योकि उसके पठन-पाठन मे उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने मे दुरूहता होगी, क्योकि सम्मिलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है।"[2] अत अपनी विचारधारा के अनुकूल हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन करने के लिए तथा सभी प्रान्तो मे उसे उचित आदर प्राप्त कराने के लिए आपने सस्कृत-गर्भित हिन्दी को अपनाते हुए इस काव्य का प्रणयन किया।

इस महाकाव्य के निर्माण का छठा कारण यह है कि हरिऔध जी हिन्दू-समाज मे प्रचलित पौराणिक गाथाओ को आधुनिक वैज्ञानिक युग के अनुकूल एव बुद्धिग्राह्य बनाना चाहते थे। वे यह नही चाहते थे कि हिन्दू समाज मे प्रचलित गाथाओ को अनर्गल एव असम्भव घटना-सम्पन्न अति-मानवीय कथाएँ मानकर आधुनिक व्यक्ति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखे, उनके प्रति उपेक्षा का वर्ताव करे और उन्हे पौराणिक काल की असम्बद्ध बाते कह कर छोडदे। इसलिए उन्होने पौराणिक गाथाओ को आधुनिक युग के अनुकूल

---

१ प्रेमचंद घर में—पृ० ६५

२ प्रियप्रवास की भूमिका—भाषा शैली, पृ० ६

बनाकर उनमे वर्णित घटनाओ की तर्कसम्मत व्याख्या करने के लिए इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रथ का प्रणयन किया। वे अवतारवाद को मानते थे और उन्होने श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण करते हुए 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण', 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' और 'प्रेमाम्बु-वारिधि' नामक ग्रथो का निर्माण किया था। परन्तु वे अवतारवाद के मूल मे यह मानते थे कि जो महापुरुष ससार मे दिखाई देते है वे सभी अवतारी पुरुष है, क्योकि उनमे असाधारणता है और वे परमब्रह्म के तेज का ही अश रूप हैं।[१] अत. अपने अवतार सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए अथवा श्रीकृष्ण को भी एक साधारण महापुरुष के रूप मे अकित करने के लिए उन्होने 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया, जिससे आधुनिक वैज्ञानिक युग के व्यक्ति भी उनकी महत्ता को समझकर उनके तुल्य ही लोकोपकारी कार्यों मे रत हो सके। साथ ही उनकी अति-मानवता से परिपूर्ण घटनाओ को भी इस तरह तर्कसम्मत एव बुद्धिग्राह्य रूप मे प्रस्तुत किया, जिससे कोई भी व्यक्ति यह न कह सके कि पौराणिक गाथायें सर्वथा अनर्गल एव असम्भव होती है, उनमे जन-जीवन के लिए कोई प्रेरणा नही होती और उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण से नही होता।

इसके अतिरिक्त सातवाँ कारण यह है कि कवि ने सस्कृत-वृत्तो क प्रयोग हिन्दी भाषा मे भी प्रचलित करने की इच्छा से तथा अपने इस कवि-कौशल को प्रदर्शित करने की लालसा से 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया। उस समय तक हिन्दी मे प्राय कवित्त, सवैये, दोहा, छप्पय आदि ही अधिक प्रचलित थे। यदि कोई कवि इन वृत्तो को अपनाकर कोई अतुकान्त कविता लिखता था, तो वह अत्यन्त नीरस, कृत्रिम, तथा आडम्बरपूर्ण-सी जान पडती थी और संस्कृत के वृत्तो मे कविता लिखना अत्यन्त श्रम-साध्य भी था। अत. उस समय हिन्दी के कवि सस्कृत के छन्दो या वृत्तो का प्रयोग नही करते थे। इसका आनन्द सस्कृत-साहित्य मे ही था वहाँ मन्दाक्रान्ता, भुजग-प्रयात, मालिनी, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि छन्दो मे अत्यन्त रमणीय एव मनोहर रचनाएँ मिलती हैं। परन्तु इन छन्दो को अपनाते हुए हिन्दी के कवि डरते थे। अत. इस अभाव की पूर्ति के लिए 'प्रियप्रवास' का प्रणयन हुआ। महाकवि हरिऔध ने इसके बारे मे सकेत करते हुए स्पष्ट लिखा है—"भिन्न तुकान्त कविता लिखने के लिए सस्कृत-वृत्त बहुत ही उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त भाषा-छन्दो मे मैंने जो एक आध अतुकान्त कविता देखी, उसको

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका—ग्रंथ का विषय, पृ० ३०

बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमे वह लावण्य नही मिला, जो सस्कृत-वृत्तो मे पाया जाता है। अतएव मैंने इस ग्रथ को सस्कृत-वृत्तो मे ही लिखा है।"[१] अतः भाषा के गौरव की वृद्धि के लिए उसमे नूतन छन्दो एव ललित-वृत्तो का समावेश करने के लिए 'प्रियप्रवास' लिखा गया।

निष्कर्ष यह है कि खडी बोली मे उस समय तक जो-जो अभाव कवि को दिखाई दिये, उन सभी अभावो पर दृष्टिपात करते हुए उनकी पूर्ति के हेतु इस महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना हुई। यह दूसरी बात है कि उन अभावो की पूर्ति किस सीमा तक हुई अथवा उससे हिन्दी-साहित्य के भडार की कितनी श्रीवृद्धि हुई। परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि 'प्रियप्रवास' की रचना ने तत्कालीन महाकाव्य के अभाव को पूरा किया, खडी बोली मे अतुकान्त सस्कृत-वृत्तो मे महाकाव्य लिखने का श्रीगणेश किया, पूर्व प्रचलित पौराणिक गाथाओ की अनर्गलता एव असम्बद्धता को हटाकर उन्हे वैज्ञानिक तथा तर्क-प्रधान युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया तथा मानव समाज के लिए नवीन आदर्शो की स्थापना करते हुए लोकोपकार एव लोकानुरजन की भावना का प्रचार किया। अत. 'प्रियप्रवास' का सृजन हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक युगान्तरकारी घटना है।

'प्रियप्रवास' का नामकरण—इस महाकाव्य का आद्योपान्त अनुशीलन करने के उपरान्त पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इसमे यशोदा, गोप, गोपी आदि के विलाप के अतिरिक्त और कुछ नही है। सभी सर्गो मे, श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण ब्रज के सभी प्राणी विलाप करते हुए दिखाई देते है। अत. इसी सत्य को हृदय मे धारण करते हुए महाकवि हरिऔध ने पहले इस काव्य का नाम "ब्रजागना विलाप" रखा था।[२] वैसे भी इस ग्रथ मे ब्रजागनाओ अर्थात् यशोदा, गोपी आदि के विलाप की ही भरमार है और वे श्रीकृष्ण के वियोग मे व्यथित होकर रात दिन शोकमग्ना ही अकित की गई है। परन्तु आगे चलकर ब्रज के उस करुण-क्रदन मे अथवा वियोग-जन्य विलाप के अवसर पर श्रीमती राधा को विरह व्यथित होकर भी अत्यत सयत दिखलाया गया है तथा शोकातुर होकर भी उन्हे सदैव ब्रज के

---

१ **प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० ५**

२. **वही, पृ० २**

पीडित व्यक्तियो की सेवा करते हुए अकित किया गया है। इस युगान्तरकारी परिवर्तन के कारण यह काव्य कोरा 'ब्रजागनाओ का विलाप' नही हो सकता, अपितु इसका नामकरण 'प्रियप्रवास' ही सर्वथा उचित जान पडता है। क्योकि श्रीकृष्ण के प्रवास के कारण ही गोप-गोपियो के हृदय मे विरह-जन्य शोक-सागर उमडा था और इसी कारण श्रीमती राधा के लोकानुरञ्जनकारी चरित्र की सृष्टि हुई। साथ ही यदि इसका नाम 'ब्रजागना-विलाप' रहता, तो फिर इसमे तो गोपो के भी विरह-जन्य विलाप का वर्णन आया है और नन्द बाबा के भी विलाप का वर्णन है। अत यहाँ ब्रज की नारियो का ही केवल विलाप-वर्णन नही है, अपितु पुरुषो के भी विलाप का उल्लेख मिलता है। ऐसी दशा मे 'ब्रजागना-विलाप' नाम किसी प्रकार भी सार्थक नही दिखाई देता। अब रही बात 'प्रियप्रवास' नाम की सार्थकता के बारे मे तो इस विषय मे यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य की सम्पूर्ण कथा का केन्द्र ब्रज के प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण का मथुरा प्रवास ही है। माता यशोदा, नन्दबाबा, गोपी एव गोपजनो के परम प्रिय श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते है और फिर ब्रज मे कभी लौटकर नही आते। जो ब्रज-प्रदेश उनके मुखारविंद का दर्शन करके ही नित्य अपना अहोभाग्य समझता था, उसमे उनके जाते ही शोक का अथाह सागर हिलोरें लेने लगता है। सभी गोप-गोपियाँ उनके लोकोपकारी कार्यों का स्मरण करते हुए रातदिन शोकमग्न रहे आते है। नन्द और यशोदा भी अपने लाडले पुत्र का स्मरण करके कभी मूर्च्छित होते है, कभी रुदन करते है और कभी उसकी लोक-कल्याणकारी लीलाओ का स्मरण करते हुए बेचैन हो उठते है। ऐसे शोक-विह्वल ब्रज को समझाने के लिए उद्धव जी भी आते है, परन्तु उनके आगमन से भी कोई लाभ नही होता। वे भी अपने ज्ञान को गँवाकर उसी प्रिय कृष्ण के प्रेम मे लीन हो जाते हैं। परन्तु ऐसे भयकर विषाद के अवसर पर भी अपने प्रियतम की भावनाओ का पूर्णतया अनुसरण करने वाली राधा सारे ब्रज को सँभालने का भार अपने कंधो पर वहन करती है। वह अपने शोक, प्रेम एवं वेदना को छिपाकर सम्पूर्ण ब्रज की परिचर्या, सेवा एवं सुश्रूषा मे लगी रहती है। समस्त गोप-गोपियो को ढाढस बँधाती है और उनके शोक संताप को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के गुणानुवाद गाती हुई प्रेमविभोर हो जाती है। उसकी लोक-सेवा, उसके परोपकार एव उसके अन्तःकरण की उदारता को जन्म देने वाला भी उसके प्रिय का प्रवास ही है। अतः सम्पूर्ण काव्य इसी एक प्रमुख घटना के चारों ओर मकडी के जाल की तरह फैला हुआ है। यही घटना काव्य का श्रीगणेश

करने वाली है, इसी घटना से कथावस्तु का विकास हुआ है और इसी घटना के कारण कवि ने कथित घटनाये दिखाते हुए एक नवीनतम काव्य लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। अत सभी दृष्टियो से इस महाकाव्य का नाम 'प्रिय-प्रवास' ही सर्वथा सार्थक है।

प्रकरण २

प्रियप्रवास की वस्तु

कथा-सार—'प्रियप्रवास' की कथा वैसे तो अत्यत लघु है, क्योकि यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के गमनोपरान्त ब्रज की करुण-दशा का ही वर्णन किया है, परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति एव नूतन प्रणाली द्वारा हरिऔध जी ने उस कथा को १७ सर्गो मे अभिव्यक्त किया है। कथा का श्रीगणेश सध्या की पुनीत एव प्रेममयी अलौकिक छटा का वर्णन करते हुए किया गया है। सध्या की उस पुनीत बेला मे ब्रजजीवन श्रीकृष्ण अपने ग्वाल-बालो के साथ गाये चराकर बन से लौटते हुए बडी धूमधाम से गोकुल ग्राम मे आते है। श्रीकृष्ण की उस दिव्य छटा को देखते ही सम्पूर्ण गोकुल आनन्द-विभोर हो उठता है। सहसा रात्रि हो जाती है और फिर ब्रज के अन्दर ऐसे रमणीक दृश्य के देखने का सुअवसर किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं होता। क्योकि उसी दिन दो घडी रात व्यतीत होते ही एक घोषणा सुनाई पडती है, जिसमे यह कहा जा रहा था कि कल प्रात ही श्रीकृष्ण मथुरा जाने वाले है, वहाँ राजा कस ने उन्हे धनुष यज्ञ देखने के लिए बुलाया है। अत सभी गोपजनो को प्रात· ही प्रस्थान करने के लिए तैयार होजाना चाहिये। यह घाषणा नद बाबा की ओर से की गई थी। इसे सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम मे खलबली मच गई, उनके रग मे भग हो गया और वे श्रीकृष्ण के जाने के बारे मे नाना प्रकार की शकाये करने लगे। इतना ही नही उन्हे इस निमत्रण मे भी कस की कोई कुचाल दिखाई देने लगी, क्योकि श्रीकृष्ण के जन्म से ही पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, दुर्जयवत्स आदि ने अनेक बाधायें कस के आग्रह पर ही उपस्थित की थी। अतः इस घोषणा के सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम विषाद की मूर्ति बन गया।

इधर नद बाबा बडे विषम सकट मे पड गये। वे भी जानते थे कि कस का निमत्रण किसी न किसी षड्यत्र से अवश्य भरा हुआ है परन्तु निषेध

भी नही कर सकते थे । अत. उनकी सारी रात सकल्प-विकल्पो मे ही व्यतीत होने लगी । घर मे दासियाँ प्रस्थान की तैयारी कर रही थी । यदि उनमे से किसी दासी का रुदन नद बाबा के कान मे पड जाता था तो वे और भी व्यथित हो उठते थे । उधर यशोदा जी श्रीकृष्ण की शैया के समीप बैठी-बैठी शोक, विषाद एव सशय मे डूबी जारही थी । वे बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती कि कस के यहाँ मेरे लाल को किसी प्रकार का अनिष्ट न हो और वह सकुशल घर लौट आवे । श्रीकृष्ण के गमन की यह सूचना उसी रात मे बरसाने के अन्दर गोपराज वृषभानु के महलो मे भी पहुँच गई । वहाँ अत्यत सुकुमारी एव सौदर्यमयी राधा ने जैसे ही यह समाचार सुना, वह विधि के विधान की भर्त्सना करने लगी और कहने लगी कि यदि कल श्रीकृष्ण मथुरा चले जायेगे, तो फिर मेरा जीना सर्वथा असम्भव है । राधा के हृदय मे भी कस की क्रूरता के कारण अनेक प्रकार की आशकाये उठने लगी । रह-रहकर उसे अपने प्रेम का स्मरण होने लगा और वह सोचने लगी कि वैसे तो मै अपना हृदय श्रीकृष्ण के चरणो मे अर्पित कर चुकी हूँ, केवल अब विधिपूर्वक वरण करने की मेरी कामना और शेष रही है, परन्तु अब मुझे वह सफल होती हुई दिखाई नही देती । ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है ! इस तरह सोचते-विचारते राधा भी अत्यत शोक मे निमग्न हो गई ।

जैसे-तैसे वह काल-रात्रि व्यतीत हुई । प्रभात हुआ और सभी ब्रज-जन नद बाबा के द्वार पर आकर एकत्रित हो गये । इतने मे ही श्रीकृष्ण भी तैयार होकर द्वार पर आगये । तब सभी गोपजन व्याकुल होकर अक्रूर जी से विनय करने लगे कि जैसे भी हो आप हमारे जीवन-धन को मथुरा न ले जायँ । कृष्ण के गमन का समाचार पाकर सारी गाये भी न तो वन को गईं, न उन्होने तृण खाये और न अपने बछडो को दूध ही पिलाया, अपितु वे भी आकर नद-द्वार पर इकट्ठी हो गई । घर के शुक-सारिका आदि भी शोक मे लीन हो गये । ऐसा करुण दृश्य देखकर श्रीकृष्ण माता से आज्ञा लेने के लिए अन्दर गये । फिर माता के चरण छूकर तथा भाई बलराम को साथ लेकर रथ पर आ बैठे । उस क्षण यशोदा का हृदय भर आया । वे नद बाबा से आग्रह करते हुए कहने लगी कि मेरे दोनो लाल बडे सुकुमार है । इसलिए मार्ग मे किसी प्रकार का कष्ट मत होने देना । उस समय ब्रज-जन इतने प्रेम-विह्वल हो गये कि कुछ तो रथ के पहिये पकड कर बैठ गये, कुछ आगे लेट गये और कुछ व्यक्तियो ने घोडो की रासे पकडली । जैसे-तैसे श्रीकृष्ण के

समझाने पर तथा दो दिन मे ही लौट आने का आश्वासन देने पर वे लोग रथ को छोड सके। तब सभी प्रियजनो को बिलखता छोड़कर श्रीकृष्ण मथुरा को चले गये।

श्रीकृष्ण को मथुरा गये हुए कई दिन व्यतीत हो गये। परन्तु जब न तो कोई और ही लौटा और न वे ही आये, तब सारे ब्रज मे स्थान-स्थान पर उनके बारे मे आशकाये प्रकट करते हुए प्रतीक्षा होने लगी। कुछ प्रेमीजन तो नित्य पेडो पर चढकर, उनकी राह देखने लगे। कुछ गोपियाँ छतो पर चढकर झरोखो या मोखो मे से अथवा गवाक्षो से अपने प्रियतम कृष्ण के आने का पथ निहारने लगी। इस तरह सारे ब्रज मे बडी उत्कठा के साथ श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा होने लगी और सभी व्यक्ति उनकी प्रतीक्षा मे पागल होकर घूमने लगे। राधा की भी दशा ऐसी ही होगई। वह भ्रान्ता होकर कभी प्रात पवन को अपनी दूती बनाकर श्रीकृष्ण के पास अपने विरह का सदेश देने के लिए भेजती, तो कभी किसी सखी को अपने पास बैठाकर विरह-जन्य वेदना को व्यक्त करती थी।

एक दिन अकेले नद बाबा लुकते-छिपते गोकुल लौट आये। उन्हे एकाकी देखकर यशोदा माता तो मूर्च्छित हो गईं। होश आने पर फिर कृष्ण की कुशल के बारे मे प्रश्न पर प्रश्न करने लगी। परन्तु जब उन्हे नद जी ने यह बताया कि श्रीकृष्ण ने कुवलय हाथी, मल्लकूटादि को मारकर कस का भी बध कर दिया है, तबतो यशोदा जी अपने पुण्यो को सराहने लगी और ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद देने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण लौटकर क्यो नही आये, यह बात फिर उन्हे व्यथित करने लगी। जब नंद जी ने यह समझाया कि अब दो दिन पश्चात् वे भी यहाँ आजायेगे, तब कही यशोदा जी को थोडी सी शान्ति मिली। परन्तु जब दो दिन भी निकल गये और बलराम जी को छोडकर अन्य सभी गोपजन भी मथुरा से लौट आए, तब सम्पूर्ण ब्रज-जनो को धीरे-धीरे विश्वास सा होने लगा कि अब श्रीकृष्ण गोकुल मे लौटकर कभी नही आवेगे। अब उनके हृदय मे शोक और वेदना गहनता के साथ व्याप्त हो गयी और वे स्थान-स्थान पर बैठ कर श्रीकृष्ण के बाल-जीवन की मधुर लीलाओ का वर्णन करते हुए अपने-अपने प्रेम भाव को व्यक्त करने लगे।

जब मथुरा मे श्रीकृष्ण को रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये, तब उन्हे ब्रज-जनो के वियोग-जन्य दुख का ध्यान आया और उन्होने अपने प्रिय-सखा उद्धव को ब्रज-जनो को समझाने के लिये भेजा। उद्धव जी बडे ही ज्ञानी एवं प्रकाड पंडित थे। वे निर्गुण मार्ग के मानने वाले तथा ब्रह्म के

उपासक थे । वे रथ मे बैठकर ब्रज की अनुपम छटा निहारते हुए सध्या के समय गोकुल ग्राम मे प्रविष्ट हुए । रथ को आया हुआ देखकर सारी जनता उद्धव जी के रथ के पास आकर एकत्रित हो गई, पशु चरना छोडकर वहाँ आ गये और सभी वहाँ रथ को घेर कर खडे हो गये । परन्तु रथ मे उद्धव जी को बैठा हुआ देखकर सभी निराश हो गये तथा यह आशका करने लगे कि ऐसा ही एक व्यक्ति पहले आकर हमारे अनूठे रत्न को ले गया था । अब न जाने यह कौनसा रत्न यहाँ से लेने आया है ? तदुपरान्त उद्धव जी नद के भवनो मे पधारे । वहाँ मार्ग की थकावट दूर करके भोजन किया, फिर उन्होने श्रीकृष्ण के वियोग मे दुखी नद एव यशोदा को बडे आदर एव प्रेम के साथ समझाया । यशोदा जी ने सारी बातें सुनकर अपने हृदय की वेदना का वर्णन करना आरम्भ कर दिया, श्रीकृष्ण और बलराम की कुशल भी पूँछी और अपने पुत्र-प्रेम को प्रकट करते हुए पर्याप्त रुदन किया । यशोदा जी की व्यथा-कथा सुनते-सुनते सारी रात व्यतीत होगई, सबेरा हो गया, फिर भी वह कथा समाप्त न हुई । तब उद्धव जी नद-गृह से उठकर बाहर चले आये । वहाँ से चलकर वे यमुना के किनारे बैठे हुए गोपजनो के मध्य आए । गोपो ने भी अपने कृष्ण-प्रेम का वर्णन करते हुए उद्धव जी को काली नाग के विनाश, दावानल मे से गोप एव गायो की रक्षा, प्रलयकारी वर्षा से ब्रज-जनो के उद्धार आदि से सम्बन्धित श्रीकृष्ण की लोकोपकारी लीलाओ को कहकर सुनाया तथा अपने रोम-रोम मे व्याप्त श्रीकृष्ण के विरह का निवेदन किया । उनकी कथाये सुनकर उद्धव जी भी प्रेम-विभोर होने लगे ।

एक दिन उद्धव जी वृन्दावन की अनुपम छटा देखते हुए गोप-मडली मे आ बैठे । वहाँ गोपो ने श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए उनके अलौकिक चरित्र का वर्णन किया, उनके वन-विहार का रहस्य समझाया तथा विशालकाय अघोपनामी क्रूर-सर्प से किस तरह श्रीकृष्ण ने गोपो एव गायो की रक्षा की थी - यह सम्पूर्ण कथा प्रेम-विभोर होकर वर्णन की । इतना ही नही उन्होने भयकर अश्व, व्योम नाम के प्रवचक पशुपाल, आदि की लोमहर्षणकारी कथायें भी सुनाई और श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यो की भूरि-भूरि प्रशसा की । तदनन्तर एक दिन उद्धव जी यमुना के किनारे बैठकर वियोग-विधुरा गोपियो की वेदनापूर्ण बाते सुनते रहे । फिर उन्होने दुखी गोपियो को समझाने का भी प्रयत्न किया, लोकोपकार एव लोक सेवा करते हुए विश्व प्रेम मे लीन होने का उपदेश दिया तथा योग द्वारा अपने हृदय को

सुखी वनाने की सलाह दी। परन्तु गोपियो का प्रेम-विह्वल हृदय उनकी किसी वात से भी सतुष्ट न हुआ तथा वे बार-बार श्रीकृष्ण के दर्शन की ही लालसा प्रकट करने लगी। तदनन्तर एक दिन उद्धव जी ने कुजो मे भ्रमण करते हुए एक विरह-विधुरा गोपी की हृदय विदीर्णकारी एव मर्मभरी व्यथा-कथा सुनी, जिसे वह कभी फूल, कभी भौरे, कभी कली, कभी मुरलिका आदि को सम्बोधन करके कह रही थी। उसकी विरह-कथा सुनकर उद्धव जी का हृदय भी अत्यत व्यथित हो उठा और वे उस गोपी से कुछ कह न सके।

तदनन्तर एक दिन उद्धव जी श्रीमती राधा से मिलने के लिए बरसाने गये। वहाँ राधा अपनी सुललित वाटिका मे विराजमान थी। उद्धव जी राधा को प्रबोध देने के लिए इसी वाटिका मे पधारे। राधा ने उद्धव जी का स्वागत किया और उद्धव जी ने राधा से श्रीकृष्ण का प्रेम, माधुर्य्य, लोकोपकार, सेवा, शान्ति एव त्याग से भरा हुआ सदेशा कहा। उत्तर मे राधा ने भी यही निवेदन किया कि मै भी प्राणियो की सेवा, परोपकार, उदारता, त्याग एव दीनो के प्रति प्रेम, विश्वबधुत्व आदि की भावनाओ से ओत-प्रोत होकर प्रियतम श्रीकृष्ण के विचारो का अनुसरण कर रही हूँ, परन्तु मेरा हृदय भी एक नारी का हृदय है, उसमे श्रीकृष्ण की श्यामली मूर्ति समाई हुई है। अत मै उन्हे किसी प्रकार भुला नही सकती और रात-दिन विरह मे वह हृदय भी व्यथित होता रहता है। फिर भी मै अब प्रकृति के नाना रूपो मे अपने प्रियतम के दर्शन करके उसे समझाती रहती हूँ और अब मेरे हृदय मे विश्व-प्रेम जाग्रत हो गया है। अत मैं यही चाहती हूँ कि भले ही अब प्रियतम घर आवे या न आवे, परन्तु चिरजीवी रहे और सदैव जग-हित करते रहे, परन्तु एकबार आकर अपना मुख दु:खी नद यशोदा को अवश्य दिखा जावे। राधा की ऐसी अलौकिक प्रेम एवं नि.स्वार्थ भक्ति से भरी हुई बाते सुनकर उद्धव जी गद्‌गद् हो गये और राधा के चरणो की धूल लेकर तथा परमशान्ति के साथ वहाँ से विदा होकर मथुरा नगरी मे लौट आए। उद्धव जी के जाने के उपरान्त फिर कोई भी व्यक्ति मथुरा से गोकुल नही आया और न श्रीकृष्ण ही लौटे, वरन् कुछ काल उपरान्त यह समाचार सुनाई पडा कि अपनी विकराल सेना लेकर जरासन्ध ने मथुरा पर सत्तरह बार चढाई की और बार-बार श्रीकृष्ण ने उसे हराकर लौटा दिया। परन्तु अठारवी बार के आक्रमण से व्यग्र होकर श्रीकृष्ण मथुरा को छोडकर द्वारिकापुरी मे चले गये। इस समाचार से सम्पूर्ण

ब्रजभूमि मे अ र भी निराशा व्याप्त हो गई और सभी ब्रज-जन अथाह शोक-सागर मे डुबकियाँ लगाने लगे। अत मे राधा ने आजन्म कौमार्य-व्रत धारण करते हुए अपनी कुमारी सखियो का एक सगठन बनाया, और वे निरतर सभी रोगी, वृद्ध, दु खी एवं विरह-व्यथित गोप-गोपियो की तन्मयता के साथ सेवा करने लगी। इस तरह सेवा-भावना, लोकोपकार एव त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण राधा ब्रज-भूमि की आराध्या देवी बन गई। यद्यपि अपने अथक प्रयत्नो से राधा ब्रज-भूमि को सुखी बनाने का प्रयत्न करती थी, तथापि यहाँ जो सुख एव आनन्द श्रीकृष्ण के समय मे सर्वत्र छाया रहता था, वह फिर कभी भी दिखाई न दिया तथा कृष्ण जी के विरह-जन्य दु ख की छाया ब्रज-जनो की वश-परम्परा मे व्याप्त हो गई।

'प्रियप्रवास' मे वर्णित प्रमुख कथायें एवं प्रसग—हरिऔध जी ने मुख्य रूप से इस काव्य मे श्रीकृष्ण के मथुरा गमन का ही उल्लेख किया है, परन्तु उनके जाते ही गोकुल एव बरसाने मे विरह-व्यथित गोप-गोपीजन श्रीकृष्ण का गुण गान गाते हुए उनके जीवन से सबधित कितनी ही घटनाओ का वर्णन कथा के रूप मे करते है। वे कथाये इस प्रकार है —

(१) पूतना की कथा।
(२) तृणावर्त की कथा।
(३) शकटासुर की कथा।
(४) बकासुर की कथा।
(५) दुर्जयवत्स की कथा।
(६) अघासुर सर्प की कथा।
(७) केशी अश्व की कथा।
(८) यमलार्जुन की कथा।
(९) पशुपालक व्योम की कथा।
(१०) काली नाग की कथा।
(११) गोवर्द्धन धारण करने की कथा।
(१२) कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि के बध की कथा।
(१३) दावानल दाह की कथा।
(१४) जरासध की कथा और द्वारिका गमन।

उक्त कथाओ मे से पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, यमलार्जुन कुवलयापीड, मल्ल, कस, जरासंध आदि की कथाओ का तो सकेत रूप मे ही वर्णन मिलता है[1] जब कि निम्नलिखित कथाओ का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है .—

(१) कालीनाग की कथा।
(२) दावानल-दाह की कथा।

---

१ **प्रियप्रवास, पृ० १५-१८ तथा ७७-७८**

वर्षा के प्रकोप के कारण गोवर्द्धन धारण करने की कथा ।

(४) अघोपनामी सर्प की कथा ।

(५) विशाल अश्व की कथा ।

(६) व्योम पशुपाल की कथा ।

इन कथाओ के अतिरिक्त हरिऔध जी ने निम्नलिखित प्रसगो का वर्णन भी 'प्रियप्रवास' मे किया है—

(१) गोचारण के उपरान्त सध्या के समय श्रीकृष्ण का सजधज के साथ गोकुल मे प्रवेश ।

(२) अक्रूर के साथ मथुरा गमन और ब्रज-वासियो का विलाप ।

(३) श्रीकृष्ण की बाल-क्रीडाओ का वर्णन ।

(४) उद्धव का योग-सदेश ।

(५) महा रास का वर्णन ।

(६) गोपियो का विरह-निवेदन ।

(७) भ्रमर-गीत ।

(८) मुरली-माहात्म्य ।

(९) राधा की महत्ता ।

कृष्ण-कथा के मूल स्रोत—श्रीकृष्ण सबंधी कथाओ का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत मे मिलता है । महाभारत मे श्रीकृष्ण के द्वारिका चले जाने के उपरान्त की कथाओ का ही विशद वर्णन किया गया है, जब कि महाभारत के अशरूप 'हरिवश पुराण' मे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अन्य सभी कथाओ का उल्लेख विस्तार के साथ मिलता है । अत: 'हरिवश पुराण' ही ऐसा प्रथम ग्रथ है, जिसमे श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित सभी कथाये आई हैं । परन्तु विद्वानो की राय है कि यह 'हरिवश पुराण' महाभारत के बहुत पीछे लिखा गया है और महाभारत मे श्रीकृष्ण का वर्णन अधूरा रहने के कारण उसे पूरा करने के लिए पीछे से 'हरिवश पुराण' को उसमे जोड़ा गया है । इसी कारण इस पुराण की गणना १८ पुराणो मे नही है, अपितु इसे उपपुराण माना गया है ।[1] इस 'हरिवशपुराण' के 'विष्णु-पर्व' मे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन की कथाये विस्तार के साथ दी हुई है ।[2]

---

१ हिन्दुत्व, पृ० ४०९

२ देखिए हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व सर्ग ४ से ५६ तक

परन्तु यहाँ राधा, यशोदा, गोपियो, नद तथा गोपजनो के विरह का वर्णन नही मिलता ।

ब्रह्मपुराण के १८२ वे अध्याय से लेकर २१२ वे अध्याय तक भगवान् कृष्ण की सम्पूर्ण कथा विस्तार के साथ मिलती है । इसमे कृष्ण-जन्म से लेकर द्वारिका मे श्रीकृष्ण-गमन तथा प्रभास क्षेत्र मे जाकर यादवो के विध्वस तक का वर्णन बडी विशदता के साथ किया गया है । यहाँ पर भी कृष्ण जी की उन सभी लीलाग्रो का उल्लेख मिलता है, जो उन्होने गोकुल, वृन्दावन, मथुरा ग्रादि स्थानो पर ब्रज-प्रदेश मे की थी । तदनन्तर पद्मपुराण मे "स्वर्ग-खड" के अन्तर्गत ६६ वे अध्याय से श्रीकृष्ण चरित्र आरम्भ होता है और ७७ वे अध्याय तक चलता है । यहाँ श्रीकृष्ण की मथुरा-वृन्दावन मे की हुई लीलाग्रो का विशद वर्णन नही है, परन्तु वृन्दावन की छटा एव उसकी महिमा तथा मथुरा ग्रादि ब्रज के क्षेत्रो की महिमा का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है ।[1] यही श्रीकृष्ण के परब्रह्म स्वरूप की बडी विशद व्याख्या की गई है[2] तथा गोपिका, राधा, गोप आदि के माहात्म्य का भी अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है ।[3] इसके उपरान्त विष्णुपुराण के पाँचवें अश मे प्रथम अध्याय से लेकर ३८ वे अध्याय तक श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण कथा अत्यत विस्तार के साथ दी हुई है । यहाँ अन्य सम्पूर्ण कथाग्रो के अतिरिक्त महारास का वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ विस्तारपूर्वक दिया गया है ।[4] अन्य सभी लीलाग्रो का वर्णन और पुराणो जैसा ही है ।

तदनन्तर श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कध मे श्रीकृष्ण जी का चरित्र अत्यंत विस्तार के साथ ९० अध्यायो मे दिया गया है । सर्वप्रथम इसी पुराण मे श्रीकृष्ण की लीलाग्रो का विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है । यहाँ श्रीकृष्ण सबधी प्रत्येक घटना का सागोपाग उल्लेख किया गया है । यहाँ रासलीला का वर्णन भी अत्यन्त मार्मिक है[5] और महारास का विशद विवेचन किया गया है ।[6] श्रीकृष्ण के विरह मे व्यथित गोपियो की दीनावस्था,

---

१ पद्मपुराण, स्वर्गखड, अध्याय ६९ तथा ७१

२ वही, अध्याय ७०

३ वही, अध्याय ७०, ७१ और ७२

४ विष्णुपुराण, पचम अंश, अध्याय १३

५ श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंध १०, अध्याय २९

६. वही, अध्याय ३३

उद्धव का उन गोपियो को समझाने के जिए ब्रज यात्रा करना, उद्धव-गोपी सवाद, भ्रमर-गीत आदि का वर्णन जितनी मार्मिकता, सजीवता एव गम्भीरता के साथ इस पुराण मे मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही दिखाई देता।[1] उद्धव जी की यात्रा के समय ब्रज के प्राकृतिक सौदर्य का विस्तार-पूर्वक वर्णन भी इसी पुराण मे सर्वप्रथम मिलता है।[2] यही पुराण समस्त कृष्ण-भक्त कवियो एव कृष्ण-चरित्र वर्णन करने वालो का मूलाधार है।

अग्निपुराण के १२ वे अध्याय मे भी सक्षिप्त श्रीकृष्ण-कथा दी गई है। यह पुराण तो सकलन-काव्य है। इसमे रामायण, महाभारत आदि की सभी कथायें संक्षेप मे दी गई है। यहाँ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सभी कथायें एव उनकी सम्पूर्ण लीलाये वर्णित है। किन्तु यहाँ महारास, गोपी-विरह, उद्धव-गोपी सम्वाद, राधा-माहात्म्य आदि का वर्णन नही दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे प्रथम ब्रह्मखड के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के गोलोकस्थित परब्रह्म स्वरूप का बडा ही विशद वर्णन मिलता है।[3] यहाँ राधा का भी अत्यन्त महत्व प्रदर्शित किया गया है तथा राधा जी के गण्डप्रदेश से कोटिसंख्यक गोपियो की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इतना ही नही इस पुराण मे गौ, गोप एव गोपियो तथा श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की भी बडी ही सुन्दर दार्शनिक व्याख्या की गई है।[4] आगे चलकर 'श्रीकृष्ण जन्म-खड' मे भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर युवावस्था तक ब्रज-प्रदेश मे की हुई विभिन्न लीलाओ का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ रास-क्रीडा का वर्णन अत्यन्त मार्मिक है।[5] यहाँ पर राधा-उद्धव सवाद भी बडे विस्तार के साथ दिया गया है, तथा राधा के कुशल-प्रश्न करने पर उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के कुशल-समाचार पाते ही राधा की मूर्च्छावस्था, उद्धव का उन्हे समझाना, राधा की अत्यन्त विरह-कातर अवस्था आदि का वर्णन यहाँ बडा ही मार्मिक है।[6] यहाँ उद्धव द्वारा राधा जी की भक्ति का वर्णन भी बडा ही अद्वितीय

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंध १०, अध्याय ४६, ४७

२ वही, अध्याय ४६

३ ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखड, अध्याय २, ३

४ वही, अध्याय ५

५. वही, श्रीकृष्ण जन्मखंड, अध्याय २८

६. वही, अध्याय ९३

है।[1] इस पुराण मे एक विशेषता यह है कि भगवान् कृष्ण अपने विरह में व्यथित नन्दादि व्रजजनो को आश्वासन देने के लिए गोकुल पधारते है और भांडीर वन मे एकत्रित समस्त गोप, गोपी, नन्द, यशोदा आदि को ब्रह्मा जी के शाप से यादवो के विनाश, द्वारिका नगरी का समुद्र मे विलय, पांडवो के मोक्ष आदि की कथाये सुनाते हुए समस्त व्रजजनो का समाधान करते हैं तथा अन्त मे अपने धाम को लौट जाते है।[2] यहाँ श्रीमद्भागवत पुराण से अन्तर इतना ही है कि वहाँ पर तो समस्त व्रजजनो से भगवान् कृष्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र मे मिलते है,[3] जबकि यहाँ उनका मिलन व्रज में ही कराया गया है।

वराहपुराण मे श्रीकृष्ण की कथा का तो उल्लेख नही मिलता, परन्तु यहाँ मथुरा माहात्म्य के साथ-साथ काम्यक वन, वृन्दावन, भद्रवन, भाडीर वन महावन, लोहजघ वन, वकुल वन आदि व्रज के विभिन्न वनो की रमणीय शोभा एव उनके प्रभाव का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ मिलता है।[4] देवी-भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण-कथा अत्यन्त सक्षेप मे मिलती है। यहाँ केवल पाँच अध्यायो में ही भगवान् कृष्ण के जन्म एव अन्य लीलाओ का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे यहाँ सभी घटनाओ एव लीलाओ का सकेत सक्षेप मे मिल जाता है। क्योकि कृष्णजन्म, वसुदेव का गोकुल गमन, कस द्वारा देवकी के हाथो से कन्या का छीनना और उसका आकाश मे चला जाना, पूतना, वकासुर, वत्सासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अघासुर केशी आदि का वध, कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कंस आदि का विनाश, जरासध का आक्रमण, कृष्ण जी का द्वारिका गमन आदि सभी प्रसगो की ओर यहाँ सकेत किया गया है।[5]

इसके अतिरिक्त जैनियो के जिनसेन कृत अरिष्टनेमि पुराण मे भी श्रीकृष्ण की कथा मिलती है। यहाँ श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन तक की कथा ४४ अध्यायो मे बडे विस्तार के साथ दी गई है। इस कथा मे कृष्ण द्वारा केशी, गज, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि के वध का वर्णन है,

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म-खंड, अध्याय ९६
२. वही, अध्याय १२९
३ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय ८२
४ वराहपुराण, अध्याय १५३
५ देवीभागवत पुराण, चतुर्थ स्कध, अध्याय २०–२५

जरासंध के मथुरा पर आक्रमण का भी उल्लेख है और उसी के भय से श्रीकृष्ण का द्वारिका मे पलायन करने का भी वर्णन मिलता है।[1] परन्तु यहाँ गोप-गोपियो की विरहावस्था, उद्धव-गोपी सवाद आदि का वर्णन नही मिलता।

इस तरह श्रीकृष्ण सम्बन्धी कथाये महाभारत से लेकर विभिन्न पुराणो मे फैली हुई है। भारत मे विष्णु के अवतारो मे से राम और कृष्ण के ही नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है और इनसे सम्बन्ध रखने वाली गाथायें ही अधिक से अधिक भारतीय ग्रथो मे सगृहीत मिलती है। इन ग्रथो मे से कृष्ण-कथा के लिए सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत पुराण को दिया जाता है। यही पुराण कृष्ण-भक्तो की परमनिधि है और इसी के आधार पर महात्मा सूरदास, नददास, कृष्णदास आदि अष्टछाप के कवियो ने अपनी रचनाये प्रस्तुत की है। भक्तिकाल के अधिकाश कृष्ण-भक्त कवि इसी पुराण से प्रभावित है। रीतिकाल की कृष्ण-कथाओ पर भी बहुत कुछ इसी पुराण का प्रभाव है। वैसे रीतिकालीन कवि गाथा सप्तशती, अमरुक शतक, आर्या सप्तशती आदि से भी प्रभावित हुए है। आधुनिक युग मे भी कृष्ण-सम्बन्धी वे ही कथाये अधिक प्रभावित हुई हैं, जिनका उल्लेख भक्तिकाल के कवियो ने भागवत पुराण के दशम स्कध से प्रभावित होकर किया है। आधुनिक युग का 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य भी प्रमुख रूप से महाभारत एव श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर ही लिखा गया है। इस तरह भारतीय कृष्ण-कथाओ पर श्रीमद्-भागवत पुराण का प्रभाव सर्वोपरि है।

'भागवत' और 'प्रियप्रवास' की कथाओं में रूपान्तर-

(१) **तृणावर्त की कथा**—श्रीमद्भागवत मे लिखा है कि तृणावर्त नाम का एक दैत्य था। वह कस का निजी सेवक था। कस की प्रेरणा से ही बवडर के रूप मे वह गोकुल मे आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्ण को उडाकर आकाश मे ले गया। उसने गोकुल मे आते ही भयकर बवडर का रूप धारण कर लिया, परन्तु जब वह श्रीकृष्ण को आकाश मे ले गया, तब श्रीकृष्ण ने भी अपना भार बढा लिया। अत· कृष्ण जी के भार को न सह सकने के कारण उस दैत्य का वेग रुक गया और कृष्णजी ने उसका गला ऐसा पकडा कि वह अपने को न छुडा सका। अन्त मे उसकी बोलती बन्द हो गई और वह मर गया।[2] इस कथा मे अतिमानवीय बाते अधिक है।

---

१. **अरिष्टनेमि पुराण, अध्याय ३५–४०**

२. **श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कध, अध्याय ७**

हरिऔध जी ने इस अतिमानवीय रूप को निकाल कर उसको बुद्धिसंगत बनाने का प्रयत्न किया है और इस कथा को सरल और सीधे ढग से रखा है। आपने तृणावर्त को दैत्य नही माना है, अपितु उसे अचानक ही उठने वाली भयकर आँधी कहा है, जिसकी भयकर गर्जना ने समस्त दिशाओ को कँपा दिया था। जिसके प्रबल वेग के कारण सर्वत्र घनघोर बादल छागये, अनेक वृक्ष उखड गये, छते उड गई, भवन हिल गये तथा समस्त व्रजजनो की बुरी दशा हो गई। परन्तु तृणो के इस आवर्त्त या भ्रमर की यह बिडम्बना कुछ क्षणो मे ही इस तरह समाप्त हो गई, जिस तरह प्राय आँधियाँ कुछ देर चलने के बाद स्वय ही रुक जाती है। उस समय कृष्ण भी अनायास घर मे कही छिपकर बैठ गये थे, परन्तु आँधी के समाप्त होते ही हँसते और किलकते हुए घर मे से निकल आये। अत यह कोई दैत्य की लीला या अतिमानव का कार्य नही था, अपितु प्रकृति का प्रकोप था, जो प्राय होता ही रहता है।[1]

(२) **कालिय नाग की कथा**—श्रीमद्भागवत मे कालिय नाग को रमणक द्वीप मे रहने वाला एक महान् सर्प माना गया है। वह बडा विषैला था और गरुड तक की परवा नही करता था। एक बार गरुण और कालिय नाग मे युद्ध हो गया। कालिय नाग अपने एक सौ एक फन फैलाकर गरुण को डसने के लिए उन पर टूट पडा। परन्तु गरुड़ ने अपने पख से ऐसा प्रहार किया कि उसकी चोट खाकर कालिय नाग रमणक द्वीप से भागकर यमुना के कुड मे आकर रहने लगा था। इस कुण्ड मे गरुड जी शापवश आ नही सकते थे।[2] अतः यहाँ वह स्वच्छदतापूर्वक अपने विषैले प्रभाव से यमुना के उस कुण्ड के जल को विषाक्त बनाकर रहा आता था। उस जल को जो कोई प्राणी पीता, वही तुरन्त मर जाता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने खेल ही खेल मे उस कालिय दह मे कूदकर उस नाग को पकड लिया और अपने पैरो की चोट से उसके एक सौ एक फनो को कुचल डाला। इससे उस नाग की जीवनी-शक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनो से खून उगलने लगा तथा अत मे चक्कर काटकर मूर्च्छित हो गया। अन्त मे उसकी पत्नियो ने प्रार्थना करके उस नाग के प्राण बचाये। परन्तु श्रीकृष्ण ने कहा कि अब इसे इस यमुना कुण्ड को छोडकर अपने रमणक द्वीप मे ही चला जाना चाहिए। अन्त मे कालिय नाग और उसकी पत्नियो ने श्रीकृष्ण की पूजा की और वे सब अपने

---

१ **प्रियप्रवास २।३६-४५**

१ **श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १७**

परिवार सहित रमणक द्वीप को चले गये।[१] हरिऔध जी ने इस कथा मे यह परिवर्तत किया है कि उस नाग को सदैव उसी कुण्ड मे रहने वाला लिखा है और अपनी जाति एव लोक-हित की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण को उस नाग के भगाने का कार्य करते हुए बताया है। ब्रज-जनो की आकुलता, यशोदा-नन्द की अधीरता, सभी के रोदन आदि का वर्णन तो दोनो स्थानो पर समान हीं है। परन्तु उस नाग को वश मे करने की पद्धति मे हरिऔध जी ने परिवर्तन प्रस्तुत किया है। 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण पहले वेणु-नाद के द्वारा बडी सावधानी से उस भयकर नाग को वश मे करते है और फिर युक्तियों के साथ उसे निकटवर्ती पर्वत के समीप एक गहन वन मे निकाल देते है। साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि बहुत से व्यक्ति यह भी कहते है कि श्रीकृष्ण ने उस नाग को सपरिवार मार डाला था। कुछ मनीषी यह भी विचार करते है कि वह नाग अभी तक किसी गड्ढे में छिपा पडा है और बहुत से जनो से यह भी सुना गया है कि वह नाग विष-दतहीन होकर इस ब्रज-भूमि को छोडकर कहीं अन्यत्र चला गया है।[२] इस तरह इस कथा मे से भी कवि ने कृष्ण जी के अति मानवीय रूप को हटाकर एक साधारण व्यक्ति के रूप की प्रस्थापना की है।

(३) **दावानल की कथा**—श्रीमद्भागवत पुराण मे दावानल का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक दिन जिस समय सभी गाये वन मे चर रही थी, उसी समय अचानक दावाग्नि लग गई। साथ ही बडी जोर से आँधी भी चलने लगी। उस समय समस्त गोप, गाये तथा अन्य वन के प्राणी श्रीकृष्ण सहित उस भयकर दावाग्नि मे फँस गये। तब अपने सखा ग्वाल-बालो की असहाय अवस्था देखकर भगवान् कृष्ण बोले—"डरो मत, तुम अपनी आँखे बद करलो।" इतना सुनते ही समस्त गोपो ने अपनी-अपनी आँखे बद करली। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस भयकर आग को अपने मुँह से पी लिया और सभी प्राणियो को उस घोर सकट से बचा लिया। इतना ही नही तदनन्तर आँखे खोलते ही समस्त गोपो ने अपने को भाडीर वट के पास पाया। इस तरह सभी प्राणियो को दावानल से बचा देख सभी ग्वाल-बाल बडे विस्मित हुए और श्रीकृष्ण की योगसिद्धि एव योगमाया के प्रभाव से अपनी

---

१ **श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १६**

२. **प्रियप्रवास ११।११-५४**

रक्षा देखकर सब यही समझने लगे कि श्रीकृष्ण कोई देवता है।[१] हरिऔध जी ने भी इस भयकर दावानल का ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु ग्वाल-बालो, गायो आदि की अत्यत कारुणिक दशा देखकर श्रीकृष्ण ने उनके उद्धार का जो उपाय यहाँ किया है, वह भागवत से सर्वथा भिन्न है। भागवत मे तो वे आग को पी जाते है। परन्तु यहाँ अपने बन्धु-वर्ग एव अपनी गायो की रक्षा के लिए वे आग मे कूद पडते है तथा अपनी अलौकिक स्फूर्ति दिखाते हुए समस्त ग्वालो एव गायो को उस भयकर दावानल मे से एक दुरूह पथ द्वारा निकाल लाते है।[२] यहाँ भी उस अतिमानवीय कार्य को साधारण जनोचित बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(४) **गोवर्द्धन-धारण की कथा**—श्रीमद्भागवत पुराण मे लिखा है कि पहले ब्रजजन इन्द्र के लिए यज्ञ किया करते थे। परन्तु कृष्ण जी के कहने से एक बार इन्द्र के लिए किया जाने वाला यज्ञ ब्रज मे बन्द कर दिया गया। अपनी पूजा के बन्द हो जाने से इन्द्र क्रुद्ध हो गये और उन्होने प्रलयकारी मेघो को बुला कर ब्रज पर मूसलाधार वर्षा करने की आज्ञा दी। सहसा ब्रज मे घनघोर घटायें छा गईं और भयकर वर्षा हुई, जिसमे सारा ब्रज डूबने लगा। तब भगवान् कृष्ण ने अपने ब्रज-प्रदेश की रक्षा करने के लिए खेल ही खेल मे एक ही हाथ से गिरिराज गोवर्द्धन को उखाड लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्ते के पुष्प को उखाडकर हाथ पर रख लेते है वैसे ही उन्होने उस महान पर्वत को धारण कर लिया। तदनन्तर भगवान ने समस्त गोपो, गायो एव अन्य प्राणियो को सम्पूर्ण सामग्री के साथ उस पर्वत के गड्ढे मे आराम से स्थापित कर दिया। इस तरह वे सात दिन तक बराबर उस पर्वत को धारण करते रहे। अत मे जब इन्द्र का कोप शान्त हो गया, वर्षा सम्बन्धी सारी बाधा दूर हो गई, तब उस पर्वत को भगवान् ने सब प्राणियो के देखते-देखते पूर्ववत् उसके स्थान पर ही रख दिया।[३] हरिऔध जी ने इस कथा को भी बुद्धिसगत बनाने के लिए यह परिवर्तन किया है कि ब्रज मे होने वाली उस भयकर वर्षा से अपने बन्धु-बाधवो, गायो, ग्वाल-बालो आदि को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने सबसे यह कहा कि यह आपत्ति तो शीघ्र दूर हो नही सकती, अत आप सभी लोग घर छोडकर गोवर्द्धन पर्वत

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय १९

२. प्रियप्रवास, ११।५६-९६

३ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय २५

की कंदराओ, दरियो अथवा गुफाओ मे आकर रहने लगो। इसमे बहुत सी कदरायें अत्यत दिव्य है, बहुत विस्तृत है और वे पुर-ग्राम के निकट भी है। कृष्ण जी की यह प्रिय बात सुनकर सभी ब्रजजन तुरन्त ही उस पर्वत मे रहने के लिए चल दिये। वहाँ कृष्ण जी ने उनके लिए सभी प्रकार की सुविधाये प्रस्तुत कर दी थी और रोगी, वृद्ध एव दुःखी जनो को लेजाने के लिए उन्होने बहुत से सहायक लगा दिये थे। इस तरह सम्पूर्ण ब्रज श्रीकृष्ण के कहने पर गिरिराज गोवर्द्धन की कदराओ मे जाकर रहने लगा था और उस पर्वत पर श्रीकृष्ण दिनरात घूम-घूम कर समस्त ब्रज-जनो की सुख-सुविधा मे लगे रहते थे। अत· उनका इतना अधिक प्रसार देखकर सभी यह कहने लगे कि श्याम ने पर्वत को उंगली पर उठा लिया है।[1]

(५) **अघासुर की कथा**—भागवत मे लिखा है कि अघासुर पूतना और बकासुर का छोटा भाई था तथा कस के द्वारा ब्रज मे कृष्ण एव गोपो को नष्ट करने के लिए भेजा गया था। एक दिन वह भयकर अजगर का रूप धारण कर के उस मार्ग मे लेट गया, जहाँ से गोप-मडली गायें चराने के लिए वन मे जाया करती थी। उसका शरीर एक योजन लम्बा तथा पर्वत के समान विशाल एवं मोटा था। उसका विचार था कि जैसे ही ग्वाल-बाल यहाँ से निकलेंगे, मे तुरन्त ही उन्हे निगल जाऊँगा। इसीलिए वह अपने चौड़े मुख को फाडे हुए मार्ग मे लेट गया। जब ग्वाल-बालो ने उसे देखा, तो वे उसके बारे मे नाना प्रकार की कल्पनायें करने लगे। तब श्रीकृष्ण स्वय उसके मुख मे घुस गये और मुख मे जाकर अपने शरीर को इतना बडा बना लिया कि उसका गला ही रुँध गया। आँखे उलट गई और वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा। अत मे उसे मार कर भगवान कृष्ण उसके मुख से बाहर निकल आये और सभी ग्वाल-बालो को उस दैत्य से बचा लिया।[2] हरिऔध जी ने इस कथा को साधारण रूप देते हुए उस भीषण सर्प को वही पर्वत की कदराओ मे रहता हुआ बताया है और लिखा है कि वह कभी-कभी अपनी भूख शान्त करने के लिए बाहर निकल आता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने एक पेड पर चढकर उस भीषण सर्प को देख लिया और तुरन्त उसके समीप पहुँच कर अपने वेणु को इतनी सुन्दर रीति से धीरे-धीरे बजाने लगे कि वह सर्प वेणुनाद पर मोहित हो गया। तब बडे कौशल के साथ श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ अस्त्र-

---

१. **प्रियप्रवास १२।१८-६८**

२ **श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय १२**

शस्त्र द्वारा उसका बध कर दिया। उस सर्प की वह विशाल काया बहुत दिनो तक वन मे पडी रही।[1] अत. उसे दैत्य आदि न मानकर कवि ने केवल एक भयानक सर्प ही माना है और कुशल रीति से उसके वध का वर्णन किया है।

(६) **केशी की कथा**—भागवत मे लिखा है कि केशी नाम का एक दत्य था, जिसे कस ने श्रीकृष्ण को मारने के लिए भेजा था। वह दैत्य एक बडे भारी घोडे का रूप धारण करके वेग से दौडता हुआ व्रज मे आया। उसकी हिनहिनाहट से सारा गोकुल ग्राम भयभीत हो उठा। तब वह श्रीकृष्ण के पास पहुँच गया और सिह के समान गरजता हुआ अपनी दुलत्ती से उन्हे मारने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु श्रीकृष्ण तो बड़े चालाक थे। वे उसकी दुलत्ती से बच गये और उन्होने अवसर पाकर अपने दोनो हाथो से उसके दोनो पिछले पैर पकड लिए। फिर जैसे गरुड साँप को पकड कर झटक देते है, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने भी तीव्रता से उसे घुमाकर बड़े अपमान के साथ चार सौ हाथ की दूरी पर फेककर स्वय अकडकर खडे हो गये। वह केशी पुन. सावधान होकर भगवान् पर आ झपटा। अब की बार श्रीकृष्ण ने अपना एक हाथ उसके मुँह मे अन्दर कर दिया, जिससे उसके सम्पूर्ण दाँत टूट गये। वह हाथ मुँह मे जाते ही बढने लगा, जिससे उस केशी दैत्य की साँस के आने-जाने का मार्ग रुक गया। अब तो वह छटपटाने लगा और थोडी ही देर मे निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पडा। इस तरह अनायास ही प्रचड बाहु द्वारा भगवान् कृष्ण ने उस विशाल अश्व रूपधारी केशी दैत्य का विनाश कर दिया।[2] हरिऔध जी ने अन्य सभी बाते तो वैसी ही लिखी है, जैसी कि भागवत मे वर्णित है, परन्तु एक तो उसे दैत्य नही माना है, दूसरे उसके बध के बारे मे अतिमानवीय तत्व को निकाल कर अर्थात् विशाल भुजा को मुख मे न डाल कर श्रीकृष्ण ने एक विशाल डडा लेकर उसे घेर लिया और लगातार आघात करके उसे मार डाला, ऐसा लिखा है।[3] अत. कवि की दृष्टि यहाँ भी कथा को बुद्धिसगत बनाने की ओर रही है।

(७) **व्योमासुर की कथा**—भागवत मे लिखा है कि व्योमासुर मायावियो के आचार्य मयासुर का पुत्र था और बडा ही मायावी था। एक दिन वन मे ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण सहित लुका-छिपी का खेल-खेल रहे थे। उसी

---

१ **प्रियप्रवास १३।३७-५७**

२ **श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय ३७**

३ **प्रियप्रवास, १३, ५८-६७**

समय यह व्योमासुर ग्वाल का वेष धारण करके वहाँ आ मिला और जो ग्वाल चोर बने हुए थे उनके साथ चोर बन कर ही खेलने लगा। अब वह चोर बन कर बहुत से ग्वालो को चुरा-चुराकर एक पहाड़ की गुफा मे ले जाकर डाल देता और उस गुफा के दरवाजे को एक बड़ी चट्टान से ढक देता था। इस तरह जब केवल चार-पाँच ग्वाल ही शेष रह गये, तब भगवान् कृष्ण को उसकी करतूत पता चल गई और जिस समय वह ग्वाल-बालो को लिए जा रहा था, उसी समय उन्होने जैसे सिंह भेडिये को दबोच ले उसी तरह उसे धर दबाया। व्योमासुर भी बडा बली था। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे अपने शिकजे मे फाँसकर तथा दोनो हाथो से भूमि पर गिराकर उसका गला घोट दिया। कुछ ही देर बाद राक्षस मर गया। तब भगवान् कृष्ण ने गुफा के द्वार पर लगी चट्टान को तोड कर ग्वाल-बालो को सकट से छुडाया।[1] हरिऔध जी ने इस कथा को पूर्णत बदल दिया है। आपने व्योम को एक पशुपाल माना है, जो प्राणियो को पीड़ा देकर अपना मनोविनोद किया करता था। वह कभी बैल, बछड़े या गाये चुरा लेजाता था, कभी उन्हें जल मे डुबा देता था और कभी उन्हे भारी डडे से आघात करके अगहीन कर देता था। कभी-कभी वह वृथा ही वन मे आग लगाकर निरीह गायें और बछडो को जला देता था। उसके इन दुष्कर्मों एव दुराचारो से सारी ब्रजभूमि पीड़ित थी। तब श्रीकृष्ण ने एक भारी एव लम्बी सी यष्टि (छडी) लेकर उस नीच को मार डाला और अपने ब्रजजनो को उस खल की क्रूरता से बचा लिया।[2] कवि का ध्यान यहाँ पर भी कथा को न्यायसंगत एव तर्कसम्मत बनाने की ओर रहा है।

इन कथाओ के अतिरिक्त जितनी भी अन्य कथाओ के सकेत 'प्रियप्रवास' मे मिलते है, उनका न तो कवि ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और न कुछ उनमे परिवर्तन ही प्रस्तुत किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि कथाओ का जो क्रम होना चाहिए था, वह क्रम कवि ने अपने इस काव्य मे नहीं रखा है। यहाँ जन्म से लेकर जरासंध के आक्रमण तक की घटनाओ को कवि ने आभीरो या ग्वाल-बालो या गोपियो के स्मरण के रूप मे ही प्रस्तुत किया है। केवल क्रम से चार घटनाओ का ही वर्णन मिलता है—(१) अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण एव बलराम का मथुरा गमन, (२) उद्धव का गोप-

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय ३७

२. प्रियप्रवास १३।६८-८४

गोपियो के समझाने के लिए गोकुल मे आगमन, (२) उद्धव का गोप-गोपियो को योग मार्ग का उपदेश देना तथा स्वय राधा के भक्त होकर मथुरा लौटना और (४) जरासध के आक्रमण एव श्रीकृष्ण का द्वारिकागमन। इन चार घटनाओ का वर्णन तो कवि ने ठीक-ठीक क्रम से किया है, परन्तु श्रीकृष्ण सबधी शेष घटनाओ को आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र विरह-व्यथित गोप-गोपियो के मुख से कहलवाकर कथा-वस्तु की नवीन ढग से योजना की है।

वस्तु मे नवीन उद्भावनायें—अभी तक 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु से सम्बन्धित उन घटनाओ पर विचार किया गया है, जिनका उल्लेख कथाओ के रूप मे प्राचीन ग्रन्थो मे भी मिल जाता है। परन्तु अब देखना यह है कि उन प्राचीन कथाओ के अतिरिक्त हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे वस्तु सम्बन्धी और कौन-कौन सी नवीन उद्भावनाये की हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता और जो कवि की अपनी देन मानी जाती है। उनमें से निम्नलिखित तीन प्रसग प्रमुख है

(१) पवन-दूती प्रसग, (२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप और (३) राधा का लोक-सेविका रूप।

(१) पवन-दूती प्रसंग—'प्रियप्रवास' मे विरह-विधुरा राधा श्रीकृष्ण के वियोग मे अत्यन्त दु:खी होकर अपनी वेदना को श्रीकृष्ण तक पहुँचाने के लिए प्रात पवन को दूती बनाकर भेजती है। प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की प्रथा भारतीय काव्यो मे अत्यन्त प्राचीन है। इसका श्रीगणेश हमे सर्वप्रथम ऋग्वेद मे ही मिल जाता है, क्योकि ऋग्वेद मे प्रकृति के पदार्थों को अपना सदेश देवताओ तक लेजाने वाला माना गया है। उदाहरण के लिए 'अग्नि सूक्त' मे ही यह कहा गया है कि "अग्नि प्राचीन एव नवीन ऋषियो द्वारा प्रार्थना एव स्तुति करने योग्य है। वह अग्नि समस्त देवताओ को यहाँ बुलाकर लावे, जिससे वे हमारे यज्ञ को पूर्ण करे।"[१] यहाँ स्पष्ट ही अग्नि को देवताओ के पास यज्ञ का सदेश लेजाने वाला माना गया है। इसी आधार पर आगे चलकर काव्यो मे पशु, पक्षी, वानर, मेघ आदि को सदेश लेकर जाता हुआ चित्रित किया गया है। उपनिषद् की कथाओ मे नचिकेता को इसीलिए बैल, अग्नि, पक्षी आदि से ब्रह्म का सदेश प्राप्त होता है। रामायण मे भगवान् राम का सदेश एक वानर हनुमान लेकर जाता है और

---

१ **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।**
स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋग्वेद १।१।२

सीताजी को उनकी सारी व्यथा-कथा सुनाता है। महाभारत मे 'नलोपाख्यान' के अतर्गत हस पक्षी निषध देश के राजा नल का सदेश लेकर दमयन्ती के पास जाता है।[१] महाकवि कालीदास रचित 'मेघदूत' काव्य मे तो स्पष्ट ही मेघ विरही यक्ष का सदेश अलकापुरी मे स्थित यक्ष की पत्नी के पास ले जाता हुआ चित्रित किया गया है, क्योकि वहाँ यक्ष मेघ से कहता है कि "हे मेघ ! आप सतप्त जीवो को शरण देने वाले है अर्थात् जो धूप से दुखी है अथवा जो प्रवास-विरह से दुःखी हैं, उन्हे क्रमशः जल से और अपने स्थान पर जाने की प्रेरणा करके आप उनकी रक्षा करते है। मै भी भगवान् कुबेर के क्रोध से अपनी प्रिया से वियुक्त हो गया हूँ। अतः मेरे सदेश को मेरी विरहिणी प्रिया के समीप ले जाइये। मेरी वह प्रिया यक्षेश्वर की नगरी उस अलकापुरी मे निवास करती है, जिसके बाहरी उद्यान मे विराजमान शिवजी के शिर की चन्द्रिका से वहाँ के धनिको के गृह सदैव दैदीप्यमान रहते है।"[२] कालिदास के 'मेघदूत' के ही अनुकरण पर आगे चलकर धोई का 'पवनदूत' लिखा गया। इसी आधार पर 'नेमिदूत', 'हसदूत', 'उद्धवदूत' आदि काव्य लिखे गये।

हिन्दी-साहित्य मे भी यह दूत-प्रणाली प्रारम्भ से प्रचलित है। हिन्दी भाषा के सर्वप्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासौ' मे महाराज पृथ्वीराज का सदेश लेकर एक तोता पद्मावती के पास समुद्र-शिखर नामक दुर्ग मे जाता है और वह तोता महाराज पृथ्वीराज का सदेश देता हुआ उनके यश, वैभव आदि के बारे मे अनेक कथाये सुनाता है।[३] महाकवि विद्यापति ने भी अपने पदो मे विरहिणी नायिका के समीप काग को उसके प्रिय का सदेश लेकर आने वाला माना है, क्योकि एक दिन विरहिणी अपने आँगन मे चन्दन के वृक्ष पर बैठकर बोलते हुए काग से कहती है कि यदि तुम्हारे बोलने से आज मेरे

---

१. महाभारत, वन पर्व, अध्याय ५२।२१-३२

२ संतप्तानां त्वमसि शरण तत्पयोद प्रियाया·
सदेशं मे हर धनपतिक्रोध विश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या ॥
—मेघदूत, पूर्वमेघ, ७

३ सुकसमीप मन कुंवरि कौ लग्यौ वचन के हेतु।
अति विचित्र पंडित सुआ कथत जु कथा अमेत ॥
—पद्मावती, विवाह समय—१३

प्रियतम घर आजायँ, तो मैं तेरी चोच सोने से मढवा दूँगी ।[1] सूफी कवियो मे तो यह प्रणाली अत्यधिक प्रचलित दिखाई देती है । उनके काव्यो मे प्राय सभी विरहिणी नारियाँ अपना-अपना सदेश तोता, परेवा, भौरा, काग आदि के द्वारा ही भेजती हैं । सूफी कवि जायसी के 'पदमावत' मे पद्मावती का सदेश लेकर तोता आता है, जो राजा रतनसेन को पद्मावती के सौदर्य का वर्णन करके अपने साथ ही लिवा ले जाता है । आगे चलकर राजा रतनसेन के वियोग मे व्यथित उनकी पहली रानी नागमनी अपना विरह-सदेश भौरा एव काग द्वारा भेजती है और कहती है कि प्रियतम से कह देना कि तुम्हारी प्रिया तुम्हारे वियोग की अग्नि मे जलकर मर गई, उसी का धुँआ हमे लगा, जिससे हम काले हो गये और घबडाकर तुम्हारे पास आए है ।[2] सूफी कवि उसमान ने अपने 'चित्रावली' काव्य मे चित्रावलि के विरह का सदेश लेकर परेवा को राजकुमार के पास भेजा है । वह परेवा राजकुमार को सदेश सुनाता है तथा उसे चित्रावलि मे मिलाने की पूरी-पूरी व्यवस्था करता है ।[3] सूफी कवि कासिमशाह ने अपने 'हंस जवाहिर' काव्य मे जवाहिर हस पक्षी को अपने प्रियतम का नाम स्मरण करते हुए सुनती है, जिसे सुनकर वह चकित हो जाती है और उसके द्वारा अपने विरह का सदेश भेजने की इच्छा प्रकट करती है ।[4] अत मे उसी के द्वारा अपना सदेश भेजती है । सूफी कवियो के काव्यो मे अनेक पक्षी सदेहवाहक का कार्य करते हुए दिखाई देते हैं ।

---

१. मोरा रे अँगनवाँ चनन केरि गछिआ ताहि चढ़ि कुरूरय काग रे ।
सोने चोंच बाँधि देव तोयँ बायस जओ पिआ आओल आज रे ।।

—विद्यापति पदावली—भावोल्लास—२२२

२. पियसौं कहेउ सदेसड़ा, हे भौंरा हे काग ।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग ।।

—नागमती विरहखड

३. चला परेवा कहि यह बाता । आवा जहँ जोगी रंगराता ।।
कहेसि कुँवर दुख रैनि बिहानी । उठि चलु अब सुख घरी तुलानी ।।

—सूफी काव्य सग्रह, पृ० १३८

४. कहो नाँव तुम आपनो, कहो बसो ज्यहि देश ।
सुमरिन करौं सो हिये मंह, पठवो तहाँ सदेश ।।

—सूफी काव्य संग्रह, पृ० १५६

महाकवि तुलसीदास ने भी अपने काव्यो मे प्राकृतिक जीव-जन्तुओ को सदेशवाहक के रूप मे कार्य करते हुए अकित किया है। सर्वप्रथम वे गृद्धराज जटायु नामक पक्षी के द्वारा अपने पिता के पास सदेश भेजते हैं और कहते है कि तुम सीताहरण की बात पिताजी से मत कहना, क्योकि यह सुनकर पिताजी को अत्यत दुख होगा। यह सब समाचार तो दशानन स्वय अपने परिवार के सहित स्वर्ग मे आकर पिताजी को सुनायेगा।[१] तदनन्तर 'बाल्मीकि रामायण' की भाँति तुलसी के 'रामचरित मानस' मे हनुमान तथा अगद जैसे बानर राम का सदेश लेकर क्रमश सीताजी के पास और रावण के दरबार मे जाते है। रीतिकाल के स्वच्छन्द कवि घनानद ने विरहिणी का विरह-निवेदन करते हुए पवन को उसके विरह का सदेश लेजाने के लिए आग्रह किया है और बताया है कि "हे पवन! तू सब जगह आती-जाती रहती है, तनिक मुझ पर भी कृपा कर और मेरे प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के पैरो की धूल तनिक मेरे लिए लाकर देदे, जिसे मै अपनी विरह-व्यथा को दूर करने के लिए अपनी आँखो मे धारण कर लूँगी।"[२]

इस प्रकार हरिऔध जी के सामने प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। उसी परम्परा के अनुकूल प्रसग देखकर आपने अपने 'प्रियप्रवास' मे पवन को दूती बनाकर भेजने की

---

१ मेरी सुनियो, तात! संदेसो।
सिया-हरन जनि कह्यो पितासों, होइहै अधिक अँदेसो।
रावरे पुन्य प्रताप, अनल मँह अलप दिननि रिपु दहिहै।
कुल-समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहै॥

—गीतावली, अरण्यकांड

२ ए रे वीर पौन! तेरो सबै ओर गौन,
वीर तोसो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान,
घन-आनन्द-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-विथा की भूरि आँखिन मै राखौं पूरि,
धूरि तिन्हे पांयन की हा! हा! नैकु आनि दै।

—घनानंद कवित्त

हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' मे राधा पवन के सम्मुख इस तरह व्यक्त करती है —

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत मे जो दिखावे।
धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियो को मिटाना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम मे तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना, तप्त भूतागना को ।।

इसके साथ ही 'मेघदूत' मे यक्ष कहता है—"हे मेघ ! तुम विदिशा-नगरी की गुफाओ मे आराम करके, वन की नदियो के तटवर्ती बगीचो मे उत्पन्न मागधी कुसुमो को नूतन जल के बिन्दुओ से सीचकर, कपोलो पर के पसीने के बिन्दुओ को पोछ देने के कारण जिन महिलाओ के कमल पत्रो के बने कर्ण-भूषण मलिन पड गये है, उन फूलो को तोडने वाली रमणियो को छायादान देकर कुछ देर तक उनसे परिचय प्राप्त करना।"[1] 'प्रियप्रवास' मे राधा इसी भाव को पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है —

तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानो मे वर नगर के सुन्दरी मालिनो को।
वे कार्यो मे स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होगी।
जो श्रान्ता हो सरस गति से तो उन्हे मोह लेना।
जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प सभार से ले।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमो को रिझाना।

'मेघदूत' मे यक्ष मेघ से कहता है कि "हे मेघ ! यदि तुम महाकाल के मन्दिर मे सायकाल के समय न पहुँचकर किसी अन्य समय पहुँचे, तो कम से कम सायकाल तक वहाँ अवश्य रुकना, क्योकि प्रदोष काल मे प्रशसनीय पवित्र पूजा के समय नगाडे की ध्वनि का कार्य अपनी गर्जना-ध्वनि द्वारा पूर्ण करने के कारण तुम्हे अपनी गभीर गर्जना का अखड फल प्राप्त होगा।"[2]

---

१. विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिंच-
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।
—मेघदूत पूर्व मेघ, २६

२. अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।

'प्रियप्रवास' मे इसी भाव को राधा पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है—

देख पूजा समय मथुरा मन्दिरो-मध्य जाना।
नाना वाद्यो मधुर-स्वर की मुग्धता को बढाना।
किम्वा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलो को।
धीरे-धीरे मधुर रव से मुग्ध हो हो बजाना।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हरिऔध जी के 'पवन-दूती' प्रसग पर 'मेघदूत' का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे पडा है। इसके अतिरिक्त घनानद का भी प्रभाव इस वर्णन पर दिखाई देता है। क्योकि घनानद ने जहाँ विरहिणी नायिका के द्वारा पवन से यह कहलवाया है:—

"एरे वीर पौन! तेरो सबै ओर गौन,
वीर तोसौ और कौन मनै ढरकौही बानिदै।

× × ×

विरह-विथा की मूरि आँखिन मैं राखौ पूरि
धूरि तिन्ह पायन की हा! हा! नैकु आनिदै।"

वहाँ हरिऔध जी की राधा भी पवन से यही याचना करती है:—

यो प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोडी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमे तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूँगी।
जो ला देगी चरणरज तो तू बडा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि उसको अग मे मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय-तल मे वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख मे ले मलूँगी।

इस तरह हरिऔध जी के इस पवनदूती-प्रसग पर अपने पूर्ववर्ती कवियो का पर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि

कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।
—मेघदूत, पूर्व मेघ ३४

इसमे कुछ नवीनता एव मलिकौता ही नही है। कवि ने राधा के मुख से पवन को विरह-व्यथा का सदेश देने के लिए जो-जो मार्मिक युक्तियाँ एव क्रियाये कहलवाई है, उनमे पर्याप्त नवीनता एव मौलिकता के दर्शन होते है। कालिदास ने तो केवल मेघोचित कार्यकलापो का दिग्दर्शन कराके अन्त मे यक्ष-पत्नी के अनुपम सौदर्य की छटा अकित की है, जब कि हरिऔध जी ने पवनोचित क्रियाओ का उल्लेख करके नाना प्रकार से दूत कार्य करने की युक्तियाँ दी है, तथा अन्त मे श्रीकृष्ण के समीप से उनकी चरण-धूल, मृदुल-स्वर, नवल-तन की सुगधि, अगराग के पतित कण अथवा पुष्पमाला का कोई विकच पुष्प मे से कोई एक पदार्थ लाने का आग्रह किया है। यदि इनमे से कोई भी पदार्थ वह न ला सके, तो उससे यह कहा है कि—

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बाते हमारी ।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा ।।
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा ।
जी जाऊँगी हृदय तल मे मै तुझी को लगा के ।।

कवि की इन उक्तियो मे सजीवता एव मार्मिकता के साथ पर्याप्त नवीनता के भी दर्शन होते है। परन्तु इस पवनदूती-प्रसग मे राधा एक विरहिणी नायिका न रह कर अत्यन्त नीति-निपुणा, युक्ति-कुशला, स्वभाव से ही अतीव चतुरा नायिका के रूप मे दिखाई देती है। वह ऐसी ज्ञात नही होती कि उसके हृदय मे विरह की विह्वलता हो व्यथा की कसक हो, वेदना की तीव्रता हो और चेतन-अचेतन मे अन्तर जानने की क्षमता न हो। साथ ही वह ऐसी भी नही दिखाई देती कि 'भ्रान्ता होके परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से' नित्य ही वेदनाये प्रकट करने वाली विक्षिप्त नारी हो,[1] क्योकि भ्रान्ता नारी पवन को कभी इतनी युक्तियाँ नही बता सकती। अत पवनदूती-प्रसग तो मार्मिक है, परन्तु यहाँ राधा के विरह-निरूपण मे अस्वाभाविकता आगई है और वियोग की सुन्दर व्यजना नही हुई है। राधा का वह विरह कुछ-कुछ कृत्रिम एव आरोपित सा हो गया है, क्योकि नवीन-नवीन उक्तियो के घटाटोप मे विरह की गभीरता एव मार्मिकता नष्ट होगई है तथा उसमें 'मेघदूत' के यक्ष जैसी स्वाभाविकता नही आसकी है।

(२) **श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप**—श्रीकृष्ण को ईश्वर का रूप मानकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति का विकास तो बहुत पीछे हुआ है। पहले श्रीकृष्ण का

---

१ **प्रियप्रवास १६।८३**

नाम ऋग्वेद के अष्टम मडल मे एक वैदिक ऋषि के रूप मै मिलता है। वेदो की अनुक्रमणिका मे उन ऋषि कृष्ण को आगिरस गोत्र का बतलाया गया है। तदनन्तर छादोग्य उपनिषद् मे कृष्ण देवकी-पुत्र के रूप मे अकित किये गए है और वे घोर आगिरस के शिष्य बताए गये है।[1] यदि वैदिक-ऋषि कृष्ण तथा उपनिषद् के कृष्ण आगिरस गोत्र के या आगिरस के शिष्य हैं, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण उपनिषद् काल तक एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप मे प्रसिद्ध थे।

ऋग्वेद मे इन्द्र के अनेक नामो का उल्लेख करते हुए उसे हरि, केशव, वृष्णीपति, वृषण, वासुदेव आदि कहा गया है।[2] यह वासुदेव नाम तृतीय आरण्यक मे भी मिलता है। ब्राह्मणकाल के अनतर जब 'सात्वत धर्म' का प्रचार हुआ, तब उस धर्म के अराध्य देव वासुदेव कृष्ण ही थे। जातक कथाओ मे वासुदेव को मथुरा के समीपवर्ती एक राजा कहा है तथा महाभारत मे तो कृष्ण को स्पष्ट ही वासुदेव, यादव, वार्ष्णेय आदि कह कर वसुदेव-देवकी का पुत्र, वृष्णिवशी, यदुवशी आदि स्वीकार किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त छादोग्य उपनिषद् मे भी जब "तद्धैतद् घोर आगिरस. कृष्णाय देवकी पुत्राय" आदि वाक्यो म देवकी-पुत्र कृष्ण की चर्चा मिल जाती है, तब वसुदेव-देवकी के पुत्र वासुदेव और कृष्ण के साम्य की कल्पना निराधार नही जान पडती। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल तक ऐसी जन-श्रुतियाँ अवश्य प्रचलित रही होगी, जिनमे वासुदेव तथा कृष्ण को एक माना जाता रहा होगा। फिर 'सात्वत धर्म' का प्रचार होने पर जब वासुदेव को देवत्व पद प्राप्त हुआ, तब श्रीकृष्ण को भी अनायास ही देवत्व पद प्राप्त हो गया। डा० रामकुमार वर्मा ने एक और मत की ओर सकेत किया है। आपने लिखा है कि "जातकी की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र नाम है और यह क्षत्रियो द्वारा भी यज्ञ-समय मे धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्णरूप है कार्ष्णायिन। वासुदेव उसी कार्ष्णायिन गोत्र के थे। अत. उनका नाम कृष्ण हो गया।"[4]

इसके अतिरिक्त महाभारत मे नारायण के चार अवतार माने गये

---

१ छांदोग्य उपनिषद् ३।१७

२. वैष्णव धर्म, पृष्ठ १४

३. महाभारत—भीष्मपर्व, अध्याय ३५

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ४६३

है—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमे से वासुदेव को आदि—ब्रह्म, सकर्षण को प्रकृति, प्रद्युम्न को मानस और अनिरुद्ध को अहकार माना गया है तथा वासुदेव से ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास मानते हुए उन्हे सम्पूर्ण वेदो का मुख प्रणव, सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय सयम, सरलता और परमतत्व का रूप कहा है। इतना ही नही उन्ही वासुदेव को सनातन पुरुष, विष्णु तथा ससार की सृष्टि एव प्रलय करने वाले अव्यक्त एव सनातन ब्रह्म भी माना है।[1]

परन्तु सर भण्डारकर का कहना है कि वासुदेव और कृष्ण मे अन्तर है। उनका मत है कि 'सात्वत' एक क्षत्रिय वश का नाम था, जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव इसी 'सात्वत' वश के एक महापुरुष थे और उनका समय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का है। उन्होने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उसी वश के लोगो ने वासुदेव को ही साकार रूप से ब्रह्म मान लिया। 'भगवत् गीता' उन्ही के वश का ग्रथ है।[2] जो कुछ भी हो, यह तो सभी विद्वान् मानते है कि ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के लगभग श्रीकृष्ण को देवत्व रूप प्राप्त हो चुका था, क्योकि पाणिनि की अष्टाध्यायी मे वासुदेव और अर्जुन देव-युग्म माने गये है। प्रसिद्ध यात्री मैगस्थनीज़ ने भी अपने विवरण मे लिखा है कि श्रीकृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर मे प्रचलित थी। मैगस्थनीज़ का समय भी ईसा से ३०० वर्ष पूर्व का है। यदि वासुदेव की पूजा मौर्यकाल मे प्रचलित थी, तो निश्चित ही इसका श्रीगणेश पहले ही हो गया था।

भारत मे दूसरी शताब्दी के आसपास आभीरो का आगमन हुआ। यह जाति गोपालकृष्ण की उपासक थी। इसके देवता श्रीकृष्ण थे। जिस समय इस जाति ने यहाँ अपने राज्य की स्थापना की, उस समय यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण और वासुदेव के भारत मे प्रचलित रूपो का इनके देवता के साथ भी सम्मिश्रण हुआ। इसी कारण सम्भवत. ऋषि कृष्ण, परब्रह्म वासुदेव

---

१. वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥
पुरुष सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
स्वर्ग प्रलयकर्त्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व-मोक्षपर्व, अध्याय २१०

२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४६२।

तथा विष्णुरूप कृष्ण तीनो मिलकर गोपालकृष्ण के रूप मे आराध्य देव हो गये। तदनन्तर तीसरी शताब्दी मे लिखे हुए 'हरिवश पुराण' मे उस काल तक कृष्ण के बारे मे प्रचलित समस्त जनश्रुतियो को सकलित कर दिया गया और श्रीकृष्ण को गोप, गोपी एव गायो का प्रिय सखा, परब्रह्म तथा गोपाल रूप देकर उनके सभी पूर्व-प्रचलित रूपो का समन्वय कर दिया गया। इसके साथ ही ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण आदि मे भी श्रीकृष्ण के इसी रूप की कथा विस्तार के साथ लिखी गई। परन्तु दसवी शताब्दी मे आकर जब 'श्रीमद्भागवत्पुराण' की रचना हुई तथा उसके आधार पर 'नारद-भक्तिसूत्र' एव 'शाडिल्य-भक्तिसूत्र' लिखे गये, तब श्रीकृष्ण की भक्ति सम्बन्धी भावना अत्यधिक विकसित हुई और सर्वत्र श्रीकृष्ण की कथाये बडी श्रद्धा-भक्ति के साथ सुनी जाने लगी। फिर क्या था, एक ओर रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर करके राम-भक्ति का प्रचार किया, तो दूसरी ओर निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी के आदर्शों को मानते हुए चैतन्य महाप्रभु तथा बल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार 'भागवत पुराण' के आधार पर किया, जिसमे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया गया तथा आत्मचितन की अपेक्षा आत्मसमर्पण पर जोर दिया गया। धीरे-धीरे १५ वी शताब्दी तक कृष्ण-भक्ति पूर्णतया विकसित होगई और इसका सबसे अधिक श्रेय बल्लभाचार्य को है, जिन्होने ब्रज-भूमि मे आकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया और उन्ही के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने कृष्ण-साहित्य के प्रचार हेतु अष्टछाप की स्थापना की, जिसमे सूरदास, नददास, कुम्भनदास आदि उच्चकोटि के आठ कवि थे, जिन्होंने ब्रजभाषा मे अत्यन्त सरस एव सुन्दर रचनाये प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण के गोपाल एव विष्णु-अवतार-रूप का प्रचार जनसाधारण मे किया। उधर सस्कृत मे महाकवि जयदेव ने 'गीतगोविंद' लिखा, जिसकी सरसता, पदावली की सुकुमारता एव भावो की मधुरता ने जनसाधारण को मुग्ध कर लिया था। इसी तरह मिथिला के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने भी श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का चित्रण करते हुए अपने पद लिखे, जो हिन्दी साहित्य की अनूठी निधि है और जिनकी सुकुमार भावना, कोमल कल्पना तथा मनोरजक अभिव्यंजना ने चैतन्य महाप्रभु जैसे कृष्ण-भक्त को भी आकृष्ट कर लिया था।

✓ इस प्रकार हिन्दी के भक्तिकाल तक श्रीकृष्ण के दो रूप जनता में प्रचलित थे—पहला गोपालकृष्ण का मधुर प्रेमाभक्ति से परिपूर्ण स्वरूप तथा दूसरा परब्रह्म रूप, जिसमे उन्हे अवतार मानकर भी जगत का स्रष्टा,

संस्थापक एवं संहारक माना गया था। जयदेव ने 'भागवत' के आधार पर विलासपूर्ण लीलाये करने वाले कृष्ण को जनता के सम्मुख तनिक अधिक प्रकाश रूप मे लाने की चेष्टा की थी, जिससे भक्तिकाल मे कृष्ण के तीनो मिश्रित रूपो का वर्णन किया गया, अर्थात् उन्हे परात्पर ब्रह्म भी माना गया, प्रेमाभक्ति का आलम्बन भी स्वीकार किया गया और गोपियो के साथ विलास-क्रीडायें करने वाला भी अकित किया गया। परन्तु हिन्दी के रीतिकाल मे आकर कृष्ण के अन्य रूपो की अपेक्षा विलास-क्रीडा वाले रूप की ही अधिक चर्चा हुई और उन्हे सभी प्रकार की शृगारिक चेष्टाओ का नायक मानकर राधा के साथ निरन्तर विलास-क्रीडाये करने वाला ही चित्रित किया गया। हो सकता है कि रीतिकाल पर आभीर युग के लिखे हुए गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक-शतक आदि का प्रभाव हो, परन्तु कृष्ण के इस विलासमय रूप के लिए गीतगोविंदकार जयदेव तथा मैथिली कवि विद्यापति अधिक उत्तरदायी हैं, क्योकि इन दोनो की रचनाओ मे भक्ति की अपेक्षा विलास का ही प्राधान्य है और दोनो की रचनाओ से कृष्ण के देवत्व की उतनी अभिव्यंजना नही होती, जितनी कि विलासी, लम्पट, कामुक एव रसिक नायक की अभिव्यजना होती है। वैसे दोनो ही उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त जान पडते है, परन्तु दोनो को हम कृष्ण के माधुर्य रूप मे ही तल्लीन देखते हैं और उसी तल्लीनता के कारण दोनो ने कृष्ण के विलासप्रिय जीवन की मधुर झाकी अकित की है।

आधुनिक युग के प्रारभिक कवियो मे कृष्ण का मिला-जुला रूप प्रचलित रहा। कुछ कवि भक्ति-काल से प्रभावित होकर कृष्ण की सरस एव मधुर क्रीड़ाओ को देवत्व का आवरण चढाकर वर्णन करते रहे और कुछ कवि रीतिकाल से प्रभावित होकर केवल उनकी शृगारमयी लीलाओ मे मग्न होकर उनका चित्रण करते रहे। स्वय हमारे हरिऔध जी ने भी पहले 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण' 'प्रेमाम्बु प्रवाह', 'प्रेमाम्बु वारिधि' आदि ग्रथो मे श्रीकृष्ण के प्रेम एव माधुर्य से परिपूर्ण ब्रह्मरूप का ही निरूपण किया था। परन्तु 'प्रियप्रवास' तक आते आते कवि का विचार पूर्णतया बदल गया। अब उन्हे यह बात उचित नही प्रतीत हुई कि किसी देवता या अवतारी पुरुष का चित्रण इस तरह किया जावे कि उसके चरित्र से कामुकता, विलासिता एवं अश्लीलता की गध आने लगे। इसके अतिरिक्त वह करणीय, अकरणीय अथवा अन्यथा करणीय सभी प्रकार के कार्य कर सकता है, उसमे असंभव कार्यों के करने की ही क्षमता होती है अर्थात् उसके किए हुए सम्भव कायो को भी व्यर्थ ही असंभव

बनाकर चित्रित किया जाय यह उन्हे समीचीन नही ज्ञात हुआ ।[1] इसलिए कवि ने 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण के समस्त प्राचीन रूपो का निराकरण करते हुए उन्हे महाभारत के महापुरुष की भाँति चित्रित करने का बीडा उठाया। यद्यपि महाभारत मे श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यों की ही चर्चा अधिक है, तथापि कही-कही भीष्म, अर्जुन, आदि के मुख से कृष्ण के ब्रह्मरूप की चर्चा भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाती है। परन्तु 'प्रियप्रवास' मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को समाज सुधारक, परोपकारी, लोक-सेवक, जाति-उद्धारक, सफल-सगठन कर्त्ता, विश्व प्रेमी, सच्चे नेता आदि रूपो मे अकित किया है। वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलाजलि देकर समष्टि की ओर अपना ध्यान लगा देते है, अत्याचारियो का विनाश करके समाज मे सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते है, अपने सुख, आनन्द एव प्रियजनो के अटूट प्रेमक त की परवा नही करते तथा विश्व-प्रेम मे लीन होकर और सम्पूर्ण जगत के त्रस्त प्राणियो की पुकार सुनकर अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते है। इस तरह हरिऔध जी ने कृष्ण के परम्परागत रूप का आमूल-चूल परिवर्तन करके युगानुकूल सच्चे मानव के आदर्श रूप मे अकित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यहाँ आकर कृष्ण न तो विलासी एव परकीया-प्रेम मे लीन होकर गोपियो के साथ विहार करने वाले ही रहे और न ब्रह्मरूप को प्राप्त होकर केवल आराधना की ही वस्तु रहे, अपितु कवि ने उन्हे एक ऐसे महापुरुष के रूप मे चित्रित किया है, जो समाज का अपना व्यक्ति है, जिसे हमारे दुख-दर्द का ध्यान है, जो हमारी दुर्बलताओ को जानता है, जो हमारी सहायता के लिए कठिन से कठिन कष्ट सहकर भी आ सकता है और जिसके आचरण, व्यवहार, रीति-नीति, प्रेम, दया, सेवा, मनुजोचित कार्य आदि से हम अपना जीवन भी उन्नत बना सकते हैं।

(३) **राधा का लोक-सेविका रूप**—राधा के बारे में अभी तक यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि राधा का विकास कब और कैसे ? श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण से अनन्य भाव के साथ प्रेम करने वाली गोपियो का वर्णन तो मिलता है, जो महारास के अवसर पर कृष्ण की मुरली के बजते ही अपने-अपने समस्त कार्यो को छोड़कर कृष्ण जी के पास सभी वन मे भागी चली आती है,[2] तनिक कृष्ण जी के आँखो से ओझल हो जाने पर विरह

---

१. **प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ३०**

२. **श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कंध, अध्याय २९**

के कारण करुण-क्रन्दन करने लगती है,[१] तथा जो उद्धव जी से बातें करते समय भ्रमर को सम्बोधन करते हुए उन्हे पर्याप्त व्यग्य पूर्ण उलाहने देती है।[२] परन्तु वहाँ राधा का नाम नही मिलता। कुछ विद्वान राधा को मध्य एशिया से चलकर आये हुए भ्रमणशील आभीरो की प्रेम-देवी मानते है। कुछ उन्हे द्रवड़ जाति की उपास्य देवी कहते है और उनका अस्तित्व वेदो से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वान् मनीषियो की राय मे राधा किसी अज्ञातनामा कवि की मधुर कल्पना है, जो कवि के विलुप्त हो जाने पर भी आज तक विद्यमान है तथा सदैव विद्यमान रहेगी। कुछ भी हो राधा का नाम सर्वप्रथम नवी शताब्दी के अतर्गत आनदवर्द्धनाचार्य द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' नामक साहित्य-ग्रथ मे मिलता है। वहाँ एक उद्धरण देते हुए 'राधा' नाम आया है।[3] इसके अतिरिक्त गाथासप्तशती, पचतत्र, ब्रह्मवैवर्त-पुराण आदि मे भी राधा का नाम मिल जाता है। परन्तु कविवर जयदेव के 'गीतगोविंद' मे राधा सबसे पहले अपने दिव्य सौदर्य के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमिका एव वियोग-विधुरा के रूप मे अकित की गई है। यहाँ राधा वासन्ती-कुसुम के समान सुकुमार अवयवो से सुरक्षित होकर एक विक्षिप्त की भाँति अपने प्रियतम कृष्ण को ढूंढती फिरती है। यही पर राधा मे विलास-प्रियता, वियोग-कातरता तथा सच्ची प्रेमिका के दर्शन होते है।[४]

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कध, अध्याय ३०

२. वही, अध्याय ४७

३. तेषां गोपवधूविलाससुहृदो राधारहः साक्षिणां।
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनया तीरे लतावेश्मनाम्॥
—हिन्दीध्वन्यालोक, उद्योत २, पृ० १२६

४. स्तन विनिहितमपि हारमुदारम्।
सा मनुते कृशतनुरिति भारम्।
राधिका तव विरहे केशव!
सरसमसृणमपि मलयज पकम्।
पश्यति विषमिव वपुषि सशकम्।
श्वसित पवनमनुपम परिणाहम्।
मदन दहनमिव वहति सदाहम्।

तदनन्तर चडीदास की राधा का स्वरूप हमारे सामने आता है। चडीदास ने राधा को परकीया नायिका के रूप मे चित्रित किया है। यही राधा श्रीकृष्ण के साथ विहार करने वाली, सकेत स्थल पर उत्सुक होकर मिलने वाली, अभिसार के लिए लुक-छिपकर जाने वाली, मान करने वाली, प्रेम की कसक से विह्वल होने वाली आदि-आदि कितने ही रूपो मे चित्रित की गई है। चडीदास के अनन्तर विद्यापति की राधा हमारे सम्मुख आती है, जिसमे विरह-वेदना की अपेक्षा काम-पीडा अधिक है, जो कुतूहल एव विलास की पुतली बनी हुई है तथा जो चपलता एव अनुराग की उद्भ्रान्त लीला से परिव्याप्त रहती है। वह श्रीकृष्ण के साथ रास-लीला मे मग्न होकर निरन्तर विहार करने वाली परकीया नायिका है। उसमे क्रिया-चातुरी, वाग्वैदग्ध्य, मिलन-कौशल अपेक्षाकृत अधिक है तथा वह काम-क्रीडा मे प्रवीण एव विरह मे भी इच्छापूर्ति न होने के दु ख से दु.खी ही अधिक चित्रित की गई है। कृष्ण की प्रतीक्षा मे मार्ग देखते-देखते उसके नेत्र अधे हो जाते है, नाखूनो से दिन लिखते-लिखते उसके नाखून घिस जाते है और उसे यही पश्चाताप रहता है कि जिस समय वह श्रीकृष्ण के साथ भ्रमण किया करती थी, उस समय तो वह निरी बालिका ही थी, अब उसके यौवन का भी पूर्ण विकास हो गया है, परन्तु ऐसे अवसर पर कृष्ण अब आते ही नही। उस समय जिन फलो को वे कच्चा ही देख गये थे, अब वे पूर्णत. परिपक्व हो गये है और आँचल मे भी नही समाते।[१] राधा के इन मनोभावो के कारण विरह मे भी कामुकता का ही प्राधान्य दिखाई देता है।

विद्यापति के उपरान्त सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियो की राधा के दर्शन होते है। यहाँ राधा का स्वरूप अत्यन्त मर्यादा के साथ चित्रित किया गया है। वह सयोग के समय कृष्ण के साथ आनन्द-क्रीड़ाये करने वाली

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्।
विरह विहित मरणेव निकामम्।
श्रीजयदेव भणित मिति गीतम्।
सुखयतु केशवपद मुपनीतम्।"
—गीत गोविंदम्, चतुर्थसर्ग ६।१-६

१. आसकलता लगाओल सजनी नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी आँचर तर न समाय॥
—विद्यापति की पदावली, १९५

तथा वियोग के अवसर पर अत्यन्त शोक एव वेदना मे विह्वल होकर निरतर कृष्ण-प्रेम मे निमग्न चित्रित की गई है। यहाँ आकर राधा एक उपास्य देवी की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। यहाँ "जयदेव की राधा के समान उसमे प्रगल्भ व्याकुलता नही है, विद्यापति की राधा के समान उसमे मुग्ध कौतूहल और अनभिज्ञ प्रेम-लालसा नही है, चडीदास की राधा के समान उनमे अधीर कर देने वाली गलद् वाष्पा भावुकता भी नही है, पर कोई सहृदय इन सभी बातो का उसमे एक विचित्र मिश्रण के रूप मे अनुभव कर सकता है।"[1]

कृष्ण-भक्त कवियो के उपरान्त रीतिकालीन कवियो ने भी राधा के स्वरूप का चित्रण किया है। यहाँ आकर राधा पुन अत्यत रूप-सुन्दरी, काम-क्रीडा-निपुण, कामिनी एव अल्हड यौवना हो गई है। उसके चित्रण मे पवित्रता एव शुद्ध प्रेम के स्थान पर विलासिता एव कामुकता का रग अधिक गहरा हो गया है। यहाँ आकर राधा "कुछ रसिका, कुछ मुखरा कुछ विलासिनी, कुछ चचल, कुछ निशका और कुछ-कुछ बाल-तरुणी है। वह कृष्ण के साथ गलबहियाँ डाले गली से निकल जाती है, कृष्ण के बतरस के लिए तरह-तरह का उत्पात मचाती है, पनघट पर हाथापाई करती है, कभी हँसती है, कभी मचलती है, कभी छिपती है, कभी बाहर निकल आती है—अर्थात् कैशोर प्रेम की साक्षात् रूपा है, उसमे न लोक के उत्तरदायित्व की चिन्ता है, न परलोक बनाने की परवा—वह अल्हड किशोरी है। यही उसका सच्चा रूप है। उसे हम वियोगिनी के रूप मे पाते है, मगर यह वियोग शायद इसलिये उस पर लाद दिया गया है कि प्रेमिका को वियोगिनी बनना जरूरी है। इस जबर्दस्ती से उसका कोमल प्रफुल्लचित्त भाराक्रान्त जरूर हो जाता है, पर स्पष्ट ही जान पड़ता है कि यह वियोग की गर्मी आगन्तुक है।"[2]

रीतिकाल के उपरान्त भी कुछ समय तक ब्रजभाषा की कविताओ मे राधा का रीतिकालीन रूप ही चित्रित होता रहा, परन्तु द्विवेदी-काल की नैतिकता, लोक-हित आदि की भावनाओ ने मानव-जीवन मे एक आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया, तथा कवियों की स्त्री सम्बन्धिनी भावना मे भी क्रान्ति उत्पन्न की। नारी-जीवन का सुधार ही इस युग की प्रमुख देन है। युग की इसी भावना से प्रभावित होकर हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे लोक-सेक कृष्ण की भाँति राधा के चरित्र मे भी परोपकार, लोक-सेवा, विश्व-प्रेम आदि

---

१ हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ—पृ० ४६१

२. वही, पृ० ४३४

का समावेश किया। इसी कारण यहाँ राधा सूर की राधा की तरह कृष्ण के विरह मे व्याकुल होकर इधर-उधर मारी-मारी नही फिरती, अपितु वह अन्य विरह-कातर गोपियो, गोपो तथा दीन-हीन, रोगी, असहाय प्राणियो की सेवा-सुश्रूषा मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है।[1] वह नन्द एव यशोदा की भी देखभाल करती है तथा उन्हे शोकमग्न देखकर भली प्रकार सात्वना दिया करती है।[2] उसके जीवन मे वियोग की कातरता ने विश्व-प्रेम एव सेवा-भावना को जाग्रत कर दिया है। उसे अब श्रीकृष्ण के ब्रज मे लौट आने की भी चिन्ता नही है। वह तो यही चाहती है कि उसके प्रियतम कृष्ण भले ही घर आवे या न आवे, परन्तु जहाँ भी रहे कुशल से रहे, और विश्व के कल्याण मे लगे रहे।[3] वह उद्धव जी के मुख से कृष्ण का सदेश सुनकर और यह जानकर कि श्रीकृष्ण 'सर्वभूत हिताय' लोकमगलकारी कार्यों मे लगे हुए है, तो वह भी अपनी विरह-जन्य छटपटाहट को दृढता के साथ दबाती हुई यही कहती है कि "अब ससार मे जितनी भी वस्तुएँ मुझे दिखाई देती है, उनमे सर्वत्र मुझे अपने प्रिय कृष्ण का ही रग और रूप दिखाई देता है, फिर मै उन सबको हृदय से प्यार क्यो नही करूँगी ? अब तो निस्संदेह मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जाग्रत हो गया है।"[4] इसी विश्व-प्रेम के वशीभूत होकर राधा निरन्तर लोक-हित एव लोक-सेवा मे लीन हो जाती है और अपने इन्ही भावो एव कार्यो के कारण वह ब्रज मे मानवी से एक आराध्या देवी के प्रतिष्ठित पद पर आसीन दिखाई देती है। हरिऔध जी ने राधा के ऐसे ही लोक-कल्याणकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा 'प्रियप्रवास' मे की है, जिसमे राधा के पूर्ववर्ती रूपो से पूर्णतया भिन्नता है, नवीनता है, भव्यता है और जिसमे एक आदर्श नारी के जीवन की दिव्य झाँकी विद्यमान है।

---

१ प्रियप्रवास १७।४६–५१

२ वही, १७।३६–४१

३. "प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहें न आवें।" १६।९८

४ पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित रँग औ रूप मे देखती हूँ।
तो मै कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा।
—प्रियप्रवास १६।१०५

वस्तु मे रूपान्तर तथा नवीन उद्भावना के कारण—सबसे प्रमुख कारण यह है कि हरिऔध जी जिस युग मे अवतीर्ण हुए थे, वह क्रान्ति का युग था। सर्वत्र सुधार एवं परिवर्तन का स्वर गूँज रहा था और सभी प्रकार की सकीर्णता, एकदेशीयता एव एकागिता के विरुद्ध आवाज उठाकर प्रत्येक क्षेत्र मे उदारता, विश्व-बधुत्व, मानवता, कर्मण्यता आदि को महत्व दिया जा रहा था। समाज का प्रत्येक प्राणी आमूल परिवर्तन के लिए लालायित हो रहा था और उस परिवर्तन के लिए अनेक सुधारवादी सस्थाये भारत मे आन्दोलन कर रही थी, जिनमे से प्रमुख-प्रमुख सस्थाओ का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। राजनीतिक जीवन मे भी कॉग्रेस ने नवचेतना का सचार कर दिया था और सर्वत्र स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, स्वदेश-प्रेम, स्वजाति-उद्धार आदि की गूँज सुनाई पडती थी। अत इन्ही सभी क्रान्तिकारी भावनाओ से प्रेरित होकर युग की पुकार को अकित करने के लिए हरिऔध जी ने प्राचीन कथाओ मे रूपान्तर करके नवीन उद्भावना करते हुए उन्हे इस क्रान्तिकारी युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

दूसरे, इस युग मे वैज्ञानिक-दृष्टिकोण एव बौद्धिकता की प्रबलता के कारण कोई भी व्यक्ति प्राचीन अतिमानुषिक कार्यों एव असभाव्य घटनाओ मे विश्वास नही कर सकता था। साथ ही ये सब कार्य ऐसे जान पडते हैं, मानो व्यर्थ ही ईश्वर को महत्व देने के लिए अथवा उसे "कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम् समर्थः प्रभु" के रग मे रगने के लिए इन सब असभाव्य घटनाओ की योजना प्राचीन युग मे हुई हो, क्योकि अतिमानुषिक कार्यो का उल्लेख होने से ही धर्मान्ध व्यक्ति ईश्वर की महत्ता को स्वीकार कर सकता है। परन्तु अब पाँसा पलट चुका है। आज ईश्वर के बारे मे आँख मीचकर कोई विश्वास नही कर सकता। इसी कारण आधुनिक-युग मे उन सभी अतिमानुषिक कार्यो को मानुषिक अथवा मानव द्वारा किये जाने योग्य बनाने का प्रयत्न हुआ है। साथ ही उनके रहस्य को समझाकर उन्हे तर्कसम्मत एव बुद्धिग्राह्य बनाने की भी चेष्टा की गई है। इसी चेष्टा एवं प्रयत्न से प्रेरित होकर हरिऔध जी ने भी प्राचीन अतिमानुषिक एवं असभाव्य कथाओ को मानुषिक एव संभाव्य बनाते हुए अपने 'प्रियप्रवास' मे उन्हे रूपान्तरित करके प्रस्तुत किया है।

तीसरे, भगवान् के अवतार के बारे में प्राय यही धारणा प्रचलित है कि जब-जब धर्म की हानि एवं अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब सज्जनो की रक्षा के लिए, दुष्टो का विनाश करने के लिए और धर्म की संस्थापना करने

के लिए प्रत्येक युग मे भगवान् अवतार लेते है ।[1] अतः उनके सभी कार्य ऐसे होते है जिनसे दुष्टो का विनाश एव सज्जनो की रक्षा हो । इसी एक उद्देश्य को आधार बनाकर हमारे यहाँ भगवान् से सम्बन्धित प्राय. ऐसी अनेक कथायें गढी गई, जिनमे उक्त दोनो बातो का ही समावेश हुआ और जिनमे भगवान् के अवतार को सदैव अद्भुत एव अलौकिक कार्य करते हुए ससार मे जीवन यापन करते हुए दिखाया गया । श्रीकृष्ण के बारे मे भी इसीलिए अनेकानेक साधारण घटनाये भी असाधारण बनाई गई और उन्हे अतिरजित रूप देकर भक्तो को भाव-विभोर करने के लिए अथवा अवतारी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा जाग्रत करने के लिए ऐसे प्रयत्न किए गये । इससे ईश्वर जन-साधारण की वस्तु न रहकर एक अलौकिक एव अद्भुत वस्तु हो गया और जनता उसके कार्यो एव गुणो का अनुसरण करके दिव्य एव अद्भुत कहकर बस दूर से ही नमस्कार करने लगी । हरिऔध जी ने इस बात को तनिक गम्भीरता के साथ सोचा । वे चाहते थे कि जन-साधारण उन कार्यो एव गुणो को आदर्श मानकर उनका अनुसरण करना भी सीखे । इसी कारण अवतार के बारे मे उनका स्पष्ट विचार था कि "मानवता का चरम विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है—अवतारवाद है ।"[2] अत· अवतारी पुरुष के कार्यो को मानवता के लिए उचित एव उपादेय बनाते हुए उन्हे आपने इस तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, जिससे सर्व साधारण भी उन कार्यो को अपना कर मानवता के पुजारी बन सकें । उनकी दृष्टि मे यही सबसे बडी भगवान् की पूजा है कि हम उनके गुणो एव कार्यो को अपनाते हुए प्राणीमात्र की सेवा, परोपकार, पर-पीडा का निवारण, भूखे-प्यासो को अन्न-जल का दान, शरणागतो की रक्षा आदि मे सदैव लीन रहे ।[3] अतः अवतार सम्बन्धी अपने इन्ही नवीन विचारो को प्रस्तुत करने के लिए आपने कथाओ मे रूपान्तर किया है और नवीन उद्भावनायें की हैं ।

---

१ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ४।७–८

२ महाकवि हरिऔध—पृ० १७३

३. प्रियप्रवास—१६ । ११४—१२७

चौथे, इस समय तक हिन्दी-साहित्य मे श्रीकृष्ण दो रूपो मे विशेष रूप से चित्रित हुए थे—(१) परब्रह्म, (२) परकीया के उपपति। भक्तिकाल के समस्त कृष्ण-भक्त कवियो ने उन्हे अजर, अमर, अनादि, अगोचर आदि कह कर परब्रह्म के रूप मे चित्रित किया था और रीतिकाल मे आकर श्रीकृष्ण को प्राय: परकीया राधा से प्रेम करने वाले तथा गोपियो के साथ अठखेलियाँ करने वाले एक उपपति के रूप मे चित्रित किया गया था। उक्त दोनो रूपो का गहन अनुशीलन करने के उपरान्त हरिऔध जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसे हम अवतारी पुरुष मान कर परब्रह्म कहते है, उसी को परकीयाओ का शृंगारी एव विलासी उपपति बनाना कहाँ तक उचित है। वे कला मे उपयोगितावाद एव नैतिकता के समर्थक थे तथा श्रीकृष्ण को ब्रह्म का रूप भी मानते थे, क्योकि आपने 'प्रेमाम्बु-प्रश्रवण', 'प्रेमाम्बु-प्रवाह', एव 'प्रेमाम्बु-वारिधि' मे उन्हे परब्रह्म के रूप मे ही अकित किया है। परन्तु उनका विचार था कि वह परब्रह्म अवतार लेकर ईसाई या मुसलमानो की तरह ईश्वर तथा मनुष्य के बीच की कडी नही बनता और न ईश्वर का सदेश ही देने के लिए यहाँ आता है, अपितु वह मानव के आदर्श उपस्थित करके उन्हे ईश्वर के पथ पर अग्रसर होने की शिक्षा देने आता है अथवा मानव को ईश्वर बनाता हुआ इस भूतल को स्वर्ग बनाने के लिए अवतीर्ण होता है।[1] अपने युग की इसी विचारधारा को साकार रूप देने के लिए अथवा राधा और श्रीकृष्ण को आदर्श मानवी एव मानव के रूप मे अकित करने के लिए आपने कथाओ मे रूपान्तर किया है और नवीन उद्भावनाये की है।

पाँचवे, इस युग मे जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट प्रेम की जो लहर सर्वसाधारण के मानस मे हिलोरे ले रही थी, उसे किसी महाकाव्य मे अभी तक साकार रूप नही दिया गया था। हरिऔध जी ने इस भावना को व्यक्त करने के लिए राधा और श्रीकृष्ण का चरित्र सर्वथा उचित समझा,

---

१. 'साकेत' में राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने भी इसीलिए राम के मुख से यह कहलवाया है —

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ में नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

—साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३४-२३५

क्योकि श्रीकृष्ण ने अनेक ऐसे कार्य किए थे, जिनका सबध अपनी दुखिया जन्मभूमि के उद्धार से था। इसी कारण आपने सभी कथाओ मे जननी-जन्मभूमि के उद्धार का वर्णन करते हुए भारतीय जनता के हृदय मे भी अपनी जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति जाग्रत करने के लिए ये रूपान्तर प्रस्तुत किये है और नवीव उद्भावनाये की है।

छठे, अभी तक किसी भी महाकाव्य मे नारी को समाज-सेवा, लोकोपकार, दीनो के प्रति सहानुभूति, विश्व प्रेम मे लीन आदि दिखाने की चेष्टा नही हुई थी। इस युग मे पुरुष के साथ नारी को भी सामाजिक कार्यो मे भाग लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा था। वह राजनीतिक जीवन मे भी पुरुष के कधे से कधा भिडाकर कार्य कर रही थी। परन्तु नारी के ऐसे रूप को कवियो ने अभी तक उपेक्षित ही समझा था। अत. नारी के इस क्रान्तिकारी एव जन-हितकारी रूप की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए कवि ने कथाओ मे रूपान्तर करते हुए नवीन उद्भावनाये की और कृष्ण के साथ-साथ राधा को भी विश्व-प्रेम मे लीन दिखाने की चेष्टा की।[1]

कथा वस्तु का शास्त्रीय-विधान

वस्तु-विश्लेषण—साहित्य-शास्त्र मे वस्तु दो प्रकार की मानी गई है—(१) अधिकारिक और (२) प्रासगिक। काव्य की प्रमुख वस्तु अधिकारिक होती है, क्योकि 'अधिकार' से अभिप्राय फल के स्वामित्व से है और अधिकारी वह कहलाता है, जो फल का स्वामी होता है। इस प्रकार अधिकारी या प्रधान नायक से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक वस्तु कहलाता है। दूसरी प्रासगिक वस्तु वह होती है, जो अधिकारिक वस्तु की सहायक अथवा उपयोगी हुआ करती है।[2] यह प्रासगिक वस्तु भी पुन. दो प्रकार की होती है—(१) पताका और (२) प्रकरी। पताका वह प्रासगिक वस्तु है जो व्यापक होती है तथा प्रधान फल की सहायक होकर अत तक चलती है और प्रकरी उस प्रासगिक वस्तु को कहते है, जो अल्पदेश व्यापक होती है तथा मध्य मे ही समाप्त हो जाती है।[3] इस दृष्टि से जब 'प्रियप्रवास' की कथा-वस्तु पर विचार

---

१ मेरे जी में हृदय-विजयी विश्व का प्रेम जागा।

—षोडस सर्ग, पृ० २५४

२ साहित्य दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३८२-३८३

३. वही, पृ० ४००-४०१

करते है तो पता चलता है कि यहाँ राधा-कृष्ण की कथा प्रमुख रूप से वर्णित है, क्योकि उनके पारस्परिक प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम मे दिखाई गई है। अत. राधाकृष्ण की कथा अधिकारिक वस्तु है। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित कितनी ही प्रासगिक कथाये आई है, जिनमे से प्रमुख प्रासगिक कथा गोप-गोपी एव नन्द-यशोदा के विरह की कथा है, जो काव्य के पचमसर्ग से लेकर अन्त तक चलती है। अत. यह 'पताका' वस्तु के अतर्गत आती है। इसके अतिरिक्त अक्रूर-आगमन तथा कृष्ण का मथुरा गमन, उद्धव का मथुरा आगमन एवं गोप-गोपियो से वार्त्तालाप, गोप-गोपी का श्रीकृष्ण की नाना कथाओ का वर्णन आदि 'प्रकरी' वस्तु के अन्तर्गत आते है, क्योकि इन विभिन्न कथाओ मे से प्रत्येक कथा काव्य के अल्प देश मे ही व्याप्त है।

साहित्य-शास्त्रो मे कथा-वस्तु का ऐतिहासिक एव कल्पित दृष्टि से भी विचार किया गया है। ऐतिहासिक वस्तु 'प्रख्यात' कहलाती है और कवि कल्पित वस्तु को 'उत्पाद्य' कहते है। यदि वस्तु का कुछ भाग ऐतिहासिक एव कुछ कल्पित हो, तो उसे 'मिश्र' वस्तु कहते है।[1] इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'प्रियप्रवास्' की वस्तु पूर्णतया ऐतिहासिक होने से 'प्रख्यात' है। इतिहास से अभिप्राय किसी देश या राष्ट्र की उन सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक मनोवृत्तियो एव धारणाओ से भी है, जो युग के अनुसार बनती-बिगड़ती रहती हैं तथा जिनकी परम्परा राष्ट्र मे व्याप्त होकर नवजीवन का सचार किया करती है। आज 'इतिहास' का अर्थ केवल भूतकालीन कुछ घटनाये ही मान लिया गया है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है। यहाँ तो वैदिक काल से लेकर आजतक हमारे धर्म-ग्रथो मे भी जो कुछ वर्णन मिलता है, वह भी इस देश का सच्चा इतिहास है। पुराणो के बारे मे भी पहले बडी तुच्छ भावना थी। परन्तु अब भारतीय ही क्या, पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लगे है कि सभी पुराण भारतीय इतिहास की अक्षय निधि है। 'प्रियप्रवास' काव्य ऐसे ही इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है, जिसमे पौराणिक आख्यान के साथ-साथ युग की परिवर्तित धारणा एव मनोवृत्ति को भी काव्य रूप प्रदान किया गया है। अतः यह काव्य देश के सच्चे इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है। इसी कारण उसकी कथावस्तु 'प्रख्यात' है।

---

१. दशरूपक १।१५

साहित्यशास्त्रियो ने कथावस्तु का विभाजन एक और आधार पर किया है। उनका विचार है कि जिस कथा मे देवताओ का वर्णन हो वह दिव्य कथावस्तु होती है और जिसमे मर्त्यलोक के पुरुषो का वर्णन हो वह 'मर्त्य' कहलाती है।[1] इस आधार पर 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञान होता है कि पौराणिक दृष्टि से तो श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष है और वे देवो से भी बढकर है। अत उनकी कथा 'दिव्य' होनी चाहिए। परन्तु कवि ने उन्हे एक मर्त्यलोक के महात्मा या महापुरुष के रूप मे ही चित्रित किया है। इस आधार पर उनकी यह कथा 'मर्त्य' की कोटि मे आती है। यह विभाजन उस समय का है, जिस समय प्राय: दो ही प्रकार की कथाये काव्यो मे चित्रित होती थी अर्थात् या तो लेखक किसी देवता या अवतारी पुरुष का वर्णन करते थे या किसी राजा, महाराजा, सूर-सामन्त आदि का वर्णन किया जाता था। अब युग बदल गया है। अब देवता, ईश्वर एव राजाओ के स्थान पर श्रमिको, देशप्रेमियो एव महापुरुषो का भी वर्णन किया जाता है। इनकी कथाओ को भले ही 'मर्त्य' कहा जाय, परन्तु वे सभी समाज के असाधारण व्यक्ति होते है। यहाँ श्रीकृष्ण मर्त्यलोक के प्राणी होकर भी समाज की सेवा, लोकोपकार, विश्व-प्रेम आदि से ओतप्रोत दिखाये गये है। अत भले ही उनको देवता या ईश्वर की कोटि मे न रखा गया हो, फिर भी वे देवोमय गुणो से युक्त हैं, उनमे असाधारण व्यक्तित्व है और वे समाज के अलौकिक महापुरुष हैं। अत उनकी यह कथा भी 'दिव्य' वस्तु की ही कोटि मे आती है।

पताकास्थानक—पताकास्थानको की योजना कथावस्तु मे सौंदर्य-बर्द्धन के हेतु की जाती है। इसके साथ ही इनके द्वारा आगामी कथा की सूचना भी बडे चमत्कारपूर्ण ढग से व्यजनात्मक शैली मे दी जाती है। इन पताकास्थानको द्वारा प्रमुख रूप से दो प्रकार से आगामी कथा सूचित की जाती है—(१) तुल्य स विधान द्वारा अथवा अन्योक्ति द्वारा और (२) तुल्य विशेषणो द्वारा अथवा समासोक्ति द्वारा।[2] इसी आधार पर दो प्रकार के पताकास्थानक माने गये है—अन्योक्तिमूलक तथा समासोक्तिमूलक। परन्तु साहित्यदर्पणकार ने चार प्रकार के पताकास्थानको का उल्लेख किया है।[3]

---

१. दशरूपक १।१६
२ वही १।१४
३ साहित्य-दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह पृ० ३८६–३८८

फिर भी दो पताकास्थानक प्रमुख माने गये हैं। इनमे से प्रथम अन्योक्तिमूलक पताका स्थानक का रूप 'प्रियप्रवास' की इन पक्तियो मे विद्यमान है —

"अरुणिमा—जगती—तल-रजिनी ।
वहन थी करती अब कालिमा ।
मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा ।
अवनि थी तमसावृत हो रही ।[1]

यहाँ सध्याकालीन मनोहर लालिमा के स्थान पर कालिमा के घिर आने का वर्णन करते हुए कवि ने नवराग-पूरित दिशाओ एव पृथ्वी को अन्धकार से परिपूर्ण बताया है। इस कथन द्वारा सकेत किया गया है कि ब्रजभूमि मे अब तक श्रीकृष्ण के रहने से जो सर्वत्र अनुराग सहित आनन्द छाया हुआ था, अब कुछ ही क्षणो के उपरान्त घोर विषाद छा जायेगा। अत प्राकृतिक पदार्थो के वर्णन द्वारा अन्योक्ति का सहारा लेते हुए कवि ने यहाँ आगामी घटना का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है।

दूसरे समासोक्तिमूलक पताकास्थानक को हम 'प्रियप्रवास' की निम्न-लिखित पक्तियो मे देख सकते है :—

"सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था ।
कजो मे से मधुप कढ के घूमते थे भ्रमे से ।
मानो खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही ।
कोई भी थी अनवत-मुखी कान्तिहीना मलीना ।[2]

इन पक्तियो मे कवि ने कृष्ण-विरह की खोटी घडी आने का अनुमान करके यमुना के नीले जल को शोक-पूर्ण कहा है, कमलो मे से मिलकर भ्रमरो को भ्रमित-सा होकर घूमता हुआ बतलाया है और कुमुदिनी को शोभाहीन एवं मलीन होकर मुख नीचा किए हुए अंकित किया है। यहाँ कवि ने श्लिष्ट पदावली का प्रयोग करते हुए यह सकेत किया है कि अब कृष्ण-विरह की खोटी घडी आने वाली है, जिसके कारण मधुकर जैसे प्रेमी गोप-गोपीजन अपने-अपने कमल जैसे गृहो से निकल कर कृष्ण के विरह मे नित्य भ्रमित से होकर घूमते फिरेंगे और कुमुदिनी जैसी सुकुमार राधा कृष्ण के गमन का समाचार पाते ही कान्तिहीन एव मलिन होकर अवनत-मुखी बन जायेगी,

---

१ प्रियप्रवास १।३५

२ वही ५।१०

जैसा कि आगामी छठे सर्ग मे राधा की वेदना का वर्णन कर 'पवनदूती प्रसग' मे उसकी दशा का वर्णन किया भी है। इतना ही नहीं कृष्ण के जाते ही यमुना के जल की ही भाँति सारी ब्रजभूमि भी शोक-छाया मे डूब जायेगी। अत यहाँ "शोकछायापगा", 'भ्रमे से घूमते थे', 'अवनत-मुखी' आदि पद श्लिष्ट है और इनके द्वारा समासोक्ति की व्यंजना हो रही है, जिससे समस्त पद समासोक्तिमूलक पताकास्थानक का उदाहरण उपस्थित करते है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—कथानक के अन्तर्गत प्रयोजन की सिद्धि के हेतु पाँच अर्थ-प्रकृतियो की योजना की जाती है—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। बीज अर्थप्रकृति वह है जो मुख्य हेतु होता है। धान्य के बीज की भाँति प्रबन्धकाव्य का यह 'बीज' आरम्भ मे अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे उपस्थित रहता है तथा उत्तरोत्तर विकसित एव वृद्धिशील होता चला जाता है।[1] इस दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में यह 'बीज' अर्थ-प्रकृति इन पक्तियो मे मिलती है :—

यह अलौकिक-बालक-बालिका।
जब हुए कल-क्रीडन-योग्य थे।
परम तन्मय हो बहु प्रेम से।
तब परस्पर थे मिल खेलते।[2]

क्योकि राधा और श्रीकृष्ण का यही बाल्य-प्रेम पहले प्रणय का रूप धारण करता है और तदनन्तर विश्व प्रेम मे परिणत हो जाता है, जो कि कवि का प्रतिपाद्य विषय है और जिसका उत्तरोत्तर विकास इस काव्य मे दिखाया गया है।

दूसरी 'बिन्दु' अर्थप्रकृति वह होती है, जो प्रबन्धो के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की सम्भावना मे अविच्छेद का कारण बनती है अर्थात् जो कथा के समाप्त होने की सम्भावना के अवसर पर उस कथा को पुन अविच्छिन्न रूप से आगे बढाया करती है।[3] 'प्रियप्रवास' मे षष्ठ सर्ग के अन्तर्गत राधा के विलाप पर कथा समाप्त सी होती दिखाई देती है, परन्तु 'पवन दूती प्रसंग' ने उस कथा को पुनः आगे बढा दिया है। जैसे —

---

१ साहित्य-दर्पण डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३६८
२. प्रियप्रवास, ४।१३
३. साहित्य-दर्पण, पृ० ३६९

"बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह मे थी अकेली ।
आके आँसू दृग-युगल मे थे धरा को भिगोते ।
आई धीरे इस सदन मे पुष्प-सद्गध को ले ।
प्रात वाली सुपवन इसी काल वातायनो से ।[१]

और उसके आते ही राधा पहले उस पर कुपित होती है, परन्तु फिर उसी के द्वारा अपना सदेशा भेजने के लिए तैयार हो जाती है । अत विच्छिन्न कथा को अविच्छिन्न करने का कार्य इस पवन ने आकर किया है । इसी से यहाँ 'बिन्दु' अर्थप्रकृति है ।

तीसरी पताका तथा चौथी प्रकरी अर्थप्रकृतियो का उल्लेख कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए पहले ही किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त पाँचवी अर्थप्रकृति 'कार्य' कहलाती है । 'कार्य' उस अर्थप्रकृति को कहते है, जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यो का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि मे नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है ।[२] 'प्रियप्रवास' मे इस अर्थप्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित पक्तियो मे दिखाई देता है :—

"वे छाया थी सुजन शिर की शासिका थी खलो की ।
कगालो की परम निधि थी औषधी पीडितो की ।
दीनो की थी वहिन, जननी थी अनथाश्रितो की ।
आराध्या थी ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थी ।[३]

इस तरह अन्तिम सर्ग मे जाकर नायिका के अभीष्ट फल की प्राप्ति दिखाई गई है । यह काव्य वैसे नायिका प्रधान है, क्योकि श्रीकृष्ण के विश्व-प्रेम सम्बन्धी कार्यो का राधा भी अनुसरण करती हैं—यही कवि ने यहाँ चित्रित किया है । इस तरह समस्त काव्य मे अर्थप्रकृतियो की योजना अत्यन्त विशद रूप मे मिल जाती है ।

सधियाँ तथा कार्यावस्थायें—किसी भी प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु को सुव्यवस्थित ढग से प्रस्तुत करने के लिए आचार्यों ने सधियो एव कार्यावस्थाओ की योजना बताई है । सधियाँ पाँच होती है—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श और (५) उपसंहृति या निर्वहण । कार्यावस्थाये भी

---

१. **प्रियप्रवास, ६।२७**
२. **साहित्यदर्पण, पृ० ४०२**
३. **प्रियप्रवास, १७।४९**

पाँच होती है—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। इनमे से प्रत्येक संधि मे क्रमश एक कार्यावस्था भी रहती है अर्थात् मुख सधि मे आरम्भ, प्रतिमुख मे यत्न, गर्भ मे प्राप्त्याशा, विमर्श मे नियताप्ति तथा उपसहृति मे फलागम कार्यावस्था रहती है। पाश्चात्य विद्वानो ने वस्तु मे ६ कार्यावस्थाये मानी है—(१) आरम्भ या व्याख्या (Exposition), (२) प्रारम्भिक सघर्षमयी घटना (Incident), (२) कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति (Rising Action), (४) चरम सीमा (Crisis), (५) निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denoument) और (६) अन्तिम फल (Catastrophe)। परन्तु भारतीय आलोचको की राय मे पाँच ही प्रमुख कार्यावस्थाये हैं, क्योकि तीसरी प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था मे पाश्चात्य विद्वानो द्वारा स्वीकृत कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति तथा चरमसीमा नाम की दोनो कार्यावस्थाये आ जाती हैं।[1] अत अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' मे इनकी योजना किस प्रकार मिलती है।

साहित्य-शास्त्र मे मुख सधि कथावस्तु के उस भाग को कहते है, जिसमे नायक की प्रारम्भावस्था का वर्णन रहता है, इसके अन्तर्गत 'बीज' नामक अर्थप्रकृति और प्रारम्भ नामक कार्यावस्था रहती है और यह सधि भिन्न-भिन्न रस-भावो की अभिव्यजना से परिपूर्ण रहती है।[2] यह 'आरभ' अवस्था कहलाती है, जिसमे फल की सिद्धि के लिए औत्सुक्य का वर्णन किया है।[3] 'प्रियप्रवास' मे यह 'मुख सधि' प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक चलती है, क्योकि इन पाँच सर्गों के अन्तर्गत कवि ने कथानायक श्रीकृष्ण के गमन-सबधी कथा के प्रारम्भिक अवतरण का वर्णन किया है। इन सर्गों मे पहले एक सध्या के समय श्रीकृष्ण गौचारण से लौटते है, सध्या के व्यतीत होते ही कस का निमत्रण लेकर अक्रूर जी के आने का समाचार सुनाई पडता है और प्रभात होते ही वे बलराम, नदबाबा तथा अन्य साथियो के साथ मथुरा चल देते हैं। उनकी 'विश्व-प्रेम' सबधी यात्रा का प्रारम्भ इन्ही सर्गों मे वर्णित है। ये सभी वर्णन विभिन्न रस-भावो से युक्त है। प्रथमसर्ग मे सयोग शृगार का

---

१. काव्य के रूप-पृ० १७-१८

२ साहित्य दर्पण (हिन्दी व्याख्या), पृ० ४०६

३. वही, पृ० ४०५

अत्यत मनोरजक वर्णन है द्वितीय सर्ग मे भीषण घोषणा के सुनते ही विषाद की काली छाया सारे गोकुल मे छा जाती है। अतः यहाँ भय, शोक, चिन्ता दैन्य, मोह, ग्लानि, स्मृति, आवेग आदि भावो का अत्यत सजीवता के साथ वर्णन किया गया हैं। तृतीय सर्ग वात्सल्य भाव का अतीव समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है। चतुर्थ सर्ग मे राधा के प्रेमभाव मे सयोग एव वियोग शृगार की सजीव झाँकी मिल जाती है तथा पचम सर्ग गोप-गोपियो के करुण-विलाप, विरह-जन्य वेदना आदि से परिपूर्ण है। इस तरह मुख-सधि मे नाना रसो एव भावो की सु दर अभिव्यक्ति हुई है तथा नायक श्रीकृष्ण तथा नायिका राधा जिस 'विश्व-प्रेम' सबधी फल को आगे चलकर प्राप्त करते है, उसके औत्सुक्य का वर्णन भी इन सर्गो मे मिल जाता है। इसी कारण इन पाँच सर्गों मे 'बीज' अर्थप्रकृति एव 'प्रारम्भ' कार्यावस्था के साथ मुख सधि विद्यमान है।

प्रतिमुख सधि वह कहलाती जिसमे मुख सधि के अन्तर्गत निवेशित बीज का ऐसा उद्भेद दिखाया जाता है, जो कभी दिखाई देता है और कभी दिखाई नही देता[1] तथा 'प्रयत्नावस्था' वह कहलाती है, जिसे फल प्राप्ति के लिए सत्वर उद्योग के रूप मे देखा जाता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे षष्ठ सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग के अत तक प्रतिमुख सधि है, क्योकि इन तीन सर्गों मे कवि ने उस 'विश्व-प्रेम' सबधी बीज का उद्भेद कृष्ण के मथुरा जाकर चाणूर, कुवलय, कस आदि का बध करके वही मथुरा मे रहकर सत्वर उद्योगो के द्वारा दिखाया है और राधा के हृदय मे उस प्रेम का वर्णन 'पवनदूती प्रसग' द्वारा किया है। इतना ही नही यहाँ उस बीज का उद्भेद गोपो एव नद के कथनो मे भी कही-कही दिखाई देता है, और कही उनके रुदन मे लुप्त भी हो जाता है। इसी कारण इन तीन सर्गो मे 'बिन्दु' अर्थप्रकृति एव 'प्रयत्न' कार्यावस्था के साथ प्रतिमुख सधि है।

गर्भ सधि वहाँ होती है, जहाँ 'मुख' और 'प्रतिमुख' सधि मे क्रमश किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रमुख कार्य रूपी बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है, जिसमे बीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ-साथ चला करती है।[3] इसमे 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था रहती है और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था वह है

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० ४१०

२. वही, पृ० ४०१

३ वही, पृ० ४११

जिसमे फल-सिद्धि के साधक और प्रतिबधक के पारस्परिक द्वन्द्व मे फल-सिद्धि की आशा अथवा सभावना का वर्णन किया जाता है।[1] 'प्रियप्रवास' मे यह गर्भ सधि नवम सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक चलती है, क्योकि इन सर्गो मे उद्धव जी मथुरा से गोकुल आते है तथा गोकुल मे आकर वे नद, यशोदा, गोप, गोपियो आदि समस्त व्रज-जनो को कृष्ण-प्रेम मे डूबा हुआ देखते है। इतना ही नही नवम सर्ग मे कृष्ण को भी गोप-गोपियो के प्रेम मे लीन देखने के कारण पहले 'विश्व-प्रेम' सबधी बीज के ह्रास का सा आभास मिलता है कि कही कृष्ण ही गोकुल न लौट जाये और विश्व-कल्याण के कार्य न करे। परन्तु उद्धव के भेजने से यह आशका समाप्त हो जाती है, फिर भी व्रज-जनो की प्रेम-विभोर वार्त्तायें सुन-सुनकर उद्धव को बराबर यह चिन्ता बनी रहती है कि कही इनका प्रेम कृष्ण को यहाँ पुन न खीच लावे। इसी कारण त्रयोदश सर्ग तक फल-सिद्धि के साधक एव प्रतिबधको मे पारस्परिक द्वन्द्व चलता रहता है और 'विश्व-प्रेम' सबंधी फल-सिद्धि की सभावना ही बनी रहती है। अत. इन पाँच सर्गो मे गोप-गोपी तथा नद-यशोदा के विरह की कथा सम्बन्धी 'पताका' अर्थप्रकृति और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था के साथ-साथ गर्भ सधि मिलती है।

विमर्श सधि वहाँ होती है जहाँ गर्भ सधि मे उद्भिन्न प्रमुख कार्यरूपी बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ जिसमे बाह्य परिस्थिति (जैसे-शाप, अमगलकारी घटना आदि) के कारण आने वाली विघ्न-बाधाओ का भी समावेश होता है।[2] इसमे 'नियताप्ति' कार्यावस्था रहती है। 'नियताप्ति' कार्य की वह अवस्था है जिसमे विघ्न-बाधा की निवृत्ति मे फल-प्राप्ति की सभावना का निश्चित वर्णन किया जाता है।[3] 'प्रियप्रवास' मे यह विमर्श सधि चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के प्रारम्भिक आठ छदो तक मिलती है, जहाँ मथुरा से भी आगे द्वारिका मे श्रीकृष्ण के चले जाने का वर्णन किया गया है।[4] यहाँ तक कवि ने 'विश्व-प्रेम' सम्बन्धी कार्य के बीज को

---

१. साहित्य दर्पण, पृ० ४०६

२ वही, पृ० ४१२

३ वही, पृ० ४०७

४ ज्यो होता है शरद ऋतु के बीतने में हताश।
स्वाती-सेवी अतिशय तृषावान प्रेमी पपीहा।
वैसे ही श्री कुवर-वर के द्वारिका में पधारे।
छाई सारी व्रज-अवनि मे सर्वदेशी निराशा॥—प्रियप्रवास, १७।८

और भी अधिक उद्भिन्न होता हुआ दिखाया है, क्योकि श्रीकृष्ण इस कार्य के हेतु अब मथुरा छोडकर द्वारिका चले जाते हे। इसके साथ ही राधा के हृदय मे जाग्रत विश्व-प्रेम का वर्णन भी इन्ही सर्गो मे किया गया है, क्योकि षोडश सर्ग मे वह भी कृष्ण के विश्व-प्रेम मे अनुरक्त होकर यही कहती है—

"यो है मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा।"

इसके साथ ही जरासध के सत्तरह वार के आक्रमणो द्वारा कवि ने यहाँ अमगल एव अशुभ विघ्न-बाधाओ का भी उल्लेख किया हे, जो बाह्य परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु उस विघ्न-बाधा से न श्रीकृष्ण के हृदय मे विश्व-प्रेम कम हुआ है और न राधा के हृदय मे। श्रीकृष्ण तो उस बाधा से बचकर द्वारिका चले जाते है और राधा उनके द्वारिका चले जाने पर लोक-हित मे लीन होने का निश्चय कर लेती है। अत चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के आरम्भ तक विमर्श सधि की योजना की गई है, जिसमे 'नियताप्ति' कार्यावस्था तथा जरासध की कथा सम्बन्धी 'प्रकरी' अर्थप्रकृति भी विद्यमान है।

निर्बहण या उपसहृति सधि वह कहलाती है, जिसमे पूर्व नियोजित चारो सधियो मे उपन्यस्त बीजादि रूप कथा-भाग प्रधान फल के निष्पादक बनते हुए दिखाई देते है। इसमे कथा का उपसहार दिखाया जाता है।[1] इसके अतर्गत 'फलागम' नामक कार्यावस्था रहती है, जिसमे समग्र फल की प्राप्ति का उल्लेख किया जाता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे यह सधि सप्तदश सर्ग के नवम छद की "प्राणी आशा-कमल-पग को है नही त्याग पाता" पक्ति से लेकर काव्य के अन्त तक चलती है, क्योकि यहाँ से कवि ने द्वारिका-गमन द्वारा कृष्ण के हृदय में व्याप्त विश्व-प्रेम की पुष्टि करके राधा के लिए हृदय मे उत्थित विश्व-प्रेम का भी व्यावहारिक रूप से वर्णन किया है। अब राधा भी निरतर गोप, गोपी, नद, यशोदा आदि की सेवा-सुश्रूषा के अतिरिक्त सदैव लोकहितकारी कार्यो मे लीन रही आती है, उसने अपनी सखियो का एक दल भी बना लिया है, जो यत्र-तत्र जाकर ब्रज मे शान्ति का विस्तार करता है, दुखीजनो को धैर्य बँधाता है और ब्रज की हित-साधना मे लगा रहता है। इसकी सस्थापिका श्रीमती राधा हैं, जो विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत है। इसी कारण कवि ने अन्त मे यही कामना की है—

---

१ साहित्य दर्पण, पृ० ४१३-४१४

२ वही, पृ० ४०७

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा! भरत-भुव के अक मे और आवे।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे।"[1]

अतः उक्त पक्तियो तक कवि ने 'फलागम' कार्यावस्था और 'कार्य' अर्थप्रकृति के साथ-साथ निर्वहण या उपसहृति नामक पचम सधि की योजना की है।

कथावस्तु की समीक्षा—'प्रियप्रवास' की समस्त कथा दो भागो मे विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की कथा प्रथम सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग तक चलती है, जिसमे कस का निमत्रण लेकर अक्रूर जी गोकुल पधारते है और अपने साथ श्रीकृष्ण को ले जाते है और श्रीकृष्ण समस्त ब्रज-जनो को रोता-बिलखता छोडकर मथुरा मे जा बसते है। कथा का उत्तरार्द्ध नवम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक है, जिसमे श्रीकृष्ण ब्रज-जनो को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को भेजते है, उद्धव गोकुल मे आकर नद-यशोदा, गोप-गोपी एव राधा की व्यथित दशा कुछ दिन ब्रज मे रहकर देखते है और कृष्ण का लोकोपकार एव विश्व-प्रेम से भरा हुआ सदेश समस्त ब्रज-जनो को देते है। अन्त मे उद्धव भी मथुरा लौट जाते है, श्रीकृष्ण जरासध के आक्रमणो से घबडाकर द्वारिका चले जाते हैं, और राधा विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर ब्रजभूमि की सेवा एव हित-साधना मे लीन हो जाती है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा तो अत्यन्त अल्प है, किन्तु गोपियो, नद-यशोदा एव राधा के विलाप-कलाप से ही सारा कलेवर भर दिया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण को एक महात्मा एव महापुरुष के रूप मे अकित करने का तो प्रयत्न किया गया है, परन्तु वे रगमच पर आकर स्वय कोई पराक्रम नही दिखाते और न कोई हित-साधन का ही कार्य करते है, अपितु उनके लोकप्रिय कार्यों का उद्घाटन गोप-गोपियो द्वारा विरह-निवेदन करते समय किया जाता है। वैसे उनकी इस कथा मे घटना-क्रम का अभाव नही है, परन्तु वे सभी घटनाये स्मृति के रूप मे आने के कारण पाठको को आकृष्ट करने मे सर्वथा असमर्थ है। विरह-वर्णन की प्रधानता होने के कारण पाठक का मन ऊब जाता है तथा इन मार्मिक स्थलो मे उसका मन नही रमता। प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक तो कथा का तनिक क्रमिक विकास दिखाई देता है, परन्तु षष्ठ सर्ग से जो करुण-क्रदन प्रारम्भ

---

१ प्रियप्रवास, १७।५४

हुआ है वह अंत तक बराबर चलता रहता है, जिससे न तो कथानक मे प्रवाह रहा है और न प्रस्पदन, अपितु एकरसता के कारण शिथिलता आ गई है। वैसे कवि ने उस करुण-क्रदन के बीच कृष्ण के पराक्रम एव शील का वर्णन करके कथानक मे कुछ गति प्रदान करने की चेष्टा की है और स्थान, समय एव कार्य की अन्विति पर भी ध्यान दिया है, परन्तु बीच-बीच मे गोपो के लम्बे-लम्बे भाषणो ने कथा की गति मे व्याघात उत्पन्न कर दिया है। एक गोप अपनी व्यथा-कथा समाप्त नही करता कि तुरन्त दूसरा गोप दौडकर रगमच पर आ खडा होता है और अपने स्वगत-भाषण के मारे चित्त को बेचैन कर देता है। वह औरो को बोलने तक का अवकाश तब तक नही देता, जब तक उसकी सारी कथा समाप्त नही होती। यहाँ तक कि उद्धव भी उनकी कथायें सुनते हैं और मौन बने रहते है। उनका यह मौन रहना और भी कथा को अस्वाभाविक बना देता है तथा कवि की कथा-योजना सम्बन्धी शिथिलता एव अनभिज्ञता का परिचायक हो जाता है। इससे सारी कथा नीरस और प्रभाव-हीन हो गई है तथा कही भी सवाद-जन्य वैचित्र्य के दर्शन नही होते।

कथानक की योजना करते समय कवि का विचार यह था कि सर्वत्र श्रीकृष्ण को महा-पुरुष के रूप मे ही अकित किया जावेगा तथा उनके अति-मानुषिक एव असम्भव कार्यो को बुद्धिसगत तथा तर्कसम्मत बनाने का प्रयत्न किया जावेगा। परन्तु कवि अपनी इस योजना मे सफल नही हो सका है। वैसे कवि ने अधिकाश घटनाओ को तर्कसम्मत एव मानवोचित बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। परन्तु जब हम यह देखते है कि एक 'पयोमुख बालक' उन्मत्त गजेन्द्र से लडता है या भयकर मुष्टिक, चाणूर आदि से भिडता है और जीत जाता है[1], तब हमे कवि भी परम्परा का पालक ही जान पडता। ऐसे ही जब हम बारह वर्ष के बालक कृष्ण को कालियानाग का दमन करने के लिए एक ऊँची कदम्ब की डाल पर चढकर उस प्रसिद्ध कालीदह मे कूदते देखते हैं और कई पन्नगो एव पन्नगियो के साथ उस कालीदह मे ऊपर आकर तथा फणीश के सिर पर सुशोभित होकर अपने हाथ मे वर रज्जु लिए हुए वशी बजाते देखते है,[2] तब हमारी बुद्धि जबाब दे देती है और तब हमे कवि किसी भी प्रकार कथा को तर्कसगत या बुद्धिग्राह्य बनाता हुआ नही दिखाई

---

१. प्रियप्रवास ३।६०-६५

२. वही ११।३७-४१

देता । यही बात गोवर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने मे है । वहाँ कवि ने अपनी नवीन उद्‌भावना द्वारा यह सिद्ध किया है कि गोवर्द्धन पर्वत मे श्रीकृष्ण का प्रसार इतना अधिक था और वे इतनी फुर्ती के साथ सभी लोगो के पास आते-जाते दिखाई देते थे, कि जिससे यह जान पडता था मानो उन्होने पर्वत को अँगुली पर उठा लिया हो ।[1] अत ऐसी-ऐसी नवीन उद्‌भावनाओ के कारण न तो कवि कथा मे कौतूहल एव आश्चर्य की सृष्टि कर सका है और न रोमाचित करने वाले अप्रत्याशित मोडो को ही स्थान दे सका है, अपितु इस मौलिकता के चक्कर मे पडकर कथा हास्यास्पद हो गई है तथा श्रीकृष्ण का चरित्र भी कुछ मानवोचित और कुछ परब्रह्म जैसा ही हो गया है ।

हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने श्रीकृष्ण के विलासी एव लीलामय रूप की अपेक्षा लोक-हितैषी, समाजसेवी तथा विश्व-प्रेमी रूप की अच्छी प्रतिष्ठा की है और जिस प्रकार के नायक की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार की नायिका भी चित्रित की गई है । इतना ही नही प्रकृति-चित्रण एव उद्धव के आगमन पर ब्रज-जनो के व्यवहार-चित्रण मे भी कवि ने बडा कौशल दिखाया है । परन्तु इन सभी वर्णनो पर भागवत का बडा गहरा प्रभाव है । इतना ही नही सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियो से प्रभावित होकर भी कवि ने वात्सल्य, भ्रमरगीत एव विरह-प्रसगो की योजना की है । परन्तु करुण-क्रन्दन तथा प्रकृति-चित्रण की बहुलता कथानक के आकर्षण को समाप्त कर देती है और ऐसा जान पडता है कि कवि के पास वर्णन करने के लिए व्यापारो का सर्वथा अभाव है । प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी न ठीक ही लिखा है—"हरिऔध ने वर्त्तमान बुद्धिवाद और सुधारवाद की प्रगति के प्रभाव मे आकर कृष्ण को और राधा को एक आदर्श महात्मा और त्यागिनी के रूप मे चित्रित करने की कोशिश तो की, परन्तु अपनी इस कोशिश के लिए उन्होने जो क्षेत्र अर्थात् प्रतिपाद्य विषय (Theme) चुना, वह उसके बिल्कुल ही अनुपयुक्त था । गोपियो की पुराण सगत परम्परागत रासलीलामूलक वियोग-गाथा की नीव पर आदर्शवाद और बुद्धिवाद की किलेबदी हो नही सकती। हाँ, श्रीकृष्ण-चरित्र की अन्य गाथायें अवश्य है, जिन पर यह किलेबदी खडी की जा सकती है । महाभारत के सैकडो ऐसे प्रसग हैं जिनपर वीर, नीतिज्ञ, महापुरुष अथवा योगिराज श्रीकृष्ण पर सुसगत कविताएँ रची जा सकती है ।"[2]

---

१. प्रियप्रवास १२।६६-६७

२. महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० ९३

सक्षेप मे हम यह कह सकते है कि कथानक की योजना तो कवि ने सर्वथा शास्त्रीय नियमानुसार ही की है, इसमे सधियो एव कार्यावस्थाओ का ध्यान रखा है, कृष्ण के परम्परागत रूप को परिवर्तित करके उन्हे युगानुकूल समाजसुधारक एव लोक-रक्षक नेता के रूप मे रखा है, प्रकृति की भी अत्यन्त रमणीक झाँकियाँ अकित की है, राधा के लोकहितैषी रूप की अभिव्यक्ति करके नारी-आन्दोलन को भी महत्त्व प्रदान किया है तथा कथा के कुछ मार्मिक स्थलो—जैसे, कस के निमत्रण पर यशोदा और नन्द के हार्दिक भावो का निरूपण, कृष्ण के मथुरा-गमन के अवसर पर ब्रज-जनो का करुण-विलाप, पवन-दूती प्रसग, नद के लौटने पर यशोदा माता का करुण-क्रन्दन, उद्धव-गोपी सवाद मे लोकहित एव विश्व-प्रेम की महत्ता, गोपियो की कृष्ण-वियोग सम्बन्धी विक्षिप्तता, राधा-उद्धव सवाद आदि को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है। इतना ही नही कृष्ण के लोकोपकारक कार्यों मे जातीय-प्रेम, स्वदेश-रक्षा स्वजाति-उद्धार, कर्त्तव्यपालन की अटूट आकाक्षा, जननी-जन्म-भूमि का उत्कट प्रेम, सर्वभूत हित, विश्व-प्रेम आदि का समावेश करके सर्वसाधारण के सम्मुख जीवन उन्नत करने एव अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाने का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। अत भले ही कथानक अन्यान्य अभावो से युक्त हो, परन्तु वह आधुनिक वैज्ञानिक युग के सर्वथा अनुकूल है तथा आगामी कवियो के लिए एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का कार्य कर रहा है।

प्रकरण ३

प्रियप्रवास का काव्यत्व—भावपक्ष

'प्रियप्रवास' मे प्रबधात्मकता—भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने एक प्रबध काव्य के लिए कितनी ही बाते आवश्यक बताई है,[1] विस्ताररूप से उन सबका उल्लेख न करके हम यहाँ केवल उन्ही बातो का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते है, जो सर्वसम्मत है, जिनका होना अत्यन्त आवश्यक है और जिनके बिना किसी काव्य को प्रबन्ध काव्य नही कहा जा सकता। वे बाते निम्नलिखित है —

(१) प्रबन्ध काव्य मे एक सानुबध कथा होनी चाहिए, जिसमे प्रकथन की भी प्रधानता हो तथा जहाँ आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट हो।

(२) उसमे प्रासगिक कथाओ की सुसम्बद्ध योजना होनी चाहिए।

(३) उसमे आये हुए वस्तु-वर्णनो मे रसात्मकता की प्रधानता होनी चाहिए।

(४) उसके अन्तर्गत प्रासगिक कथाओ और वस्तु-वर्णनो का मुख्य कथा के साथ पूर्णतया सम्बन्ध निर्वाह होना चाहिए।

(५) 'कार्य' की दृष्टि से उसके समस्त कथानक मे एकरूपता होनी चाहिए।

सानुबध कथा—उक्त विशेषताओ के आधार पर यदि हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टिपात करते है, तो पता चलता है कि कवि ने प्रथम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक कथा की सुसम्बद्ध योजना की है, जिसमे श्रीकृष्ण के गमन द्वारा व्याप्त विरह का वर्णन करते हुए उनके लोकोपकारी कार्यो एव राधा के विश्व-प्रेम का चित्रण किया है। सारी कथा तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक कथा का आदि भाग है, जिसमे कस

---

१. **विस्तार-पूर्बक अध्ययन के लिए देखिए लेखक कृत "कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दर्शन", पृष्ठ १३०–१३२**

के निमन्त्रण पर अक्रूर जी श्रीकृष्ण को लेकर मथुरा चले जाते है और सारी ब्रजभूमि श्रीकृष्ण के जाते ही विलखती-विसूरती रह जाती है। कथा का दूसरा भाग षष्ठ सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक है, जिसमे कवि ने कृष्ण के विरह से व्यथित ब्रज-जनो की आकुलता एव विषादमयी स्थिति का चित्रण किया है, उन्हे समझाने के लिए मथुरा से उद्धव का आगमन दिखाया है और उद्धव को भी उनकी व्यथा-कथा सुनते-सुनते बेचैन दिखाया है। यह कथा का मध्य भाग है। इसके अनन्तर चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक कथा का अन्तिम भाग या अवसान दिखाया गया है, क्योकि इन सर्गों मे ही उद्धव पहले गोपियो को कृष्ण का विश्व-प्रेम, लोकहित एव स्वार्थ-त्याग सम्बन्धी सन्देश सुनाते है, फिर उनसे योग-द्वारा चित्त को सँभालने का आग्रह करते है और पुन राधा के पास जाकर श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम सम्बन्धी सन्देश सुनाते हुए राधा को भी विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत बना देते है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा आदि, मध्य और अवसान सहित सुसम्बद्ध दिखाई देती है। इतना अवश्य है कि इस कथा मे ब्रज-जनो की विषादमयी करुण-स्थिति का चित्रण अधिक है, जिससे पाठको का मन पढते-पढते या सुनते-सुनते ऊब जाता है। परन्तु कवि ने इस ऊब एव शिथिलता को दूर करने के लिए बीच-बीच म श्रीकृष्ण के समाजसेवी एव लोकोपकारी कार्यो एव पराक्रमो का वर्णन किया है, जिससे कथा मे गतिशीलता उत्पन्न हुई है, फिर भी कवि कथा के विषाद-पूर्ण वातावरण की एकरसता को दूर नही कर सका है। इसका कारण यह जान पडता है कि कवि ने पहले इस काव्य का नाम 'ब्रजागना विलाप' रखा था[1] और इसी के अनुसार कथा की योजना की थी। 'प्रियप्रवास' नाम तो पीछे दिया गया है। इसी से कथा मे विलाप या विषाद की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। यह समस्त कथा प्रकथन-पूर्ण भी है, क्योकि यहाँ अधिकाश स्थल इतिवृत्तात्मक प्रकथन प्रणाली को अपनाते हुए ही लिखे गये है। अत. इस काव्य मे प्रकथनपूर्ण सुसम्बद्ध कथा की योजना मिलती है।

प्रासगिक कथा-योजना—'प्रियप्रवास' मे जितनी भी प्रासगिक कथाये आई है, उनमे से अधिकाश कथाये तो स्मृति के रूप मे ही वर्णित हैं, परन्तु अक्रूर का आगमन तथा श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन, उद्धव का आगमन और गोप-गोपी, नद-यशोदा तथा राधा को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाना, जरासध के आक्रमण तथा श्रीकृष्ण का द्वारिका-गमन आदि कछ ऐसी प्रासगिक कथाये

1. प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० २

है, जिनको कवि ने घटित होता हुआ दिखाया है। साधारणतया प्रासगिक कथाओ एव घटनाओ की दृष्टि से दो प्रकार के काव्य देखे जाते है—प्रथम तो वे है जिनमे कवि की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के लिए ही उसके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाये दी जाती है तथा दूसरे वे है जिनमे कवि की दृष्टि व्यक्ति पर न रह कर किसी मुख्य घटना पर रहती है और उसी घटना के उपक्रम के रूप मे सारा वस्तु-विन्यास किया जाता है। प्रथम कोटि मे रघुवश, बुद्धचरित्र, विक्रमाकदेव चरित्र आते है तथा दूसरी कोटि मे कुमार-सभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि आते है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि इस वर्गीकरण के आधार पर 'प्रियप्रवास' की गणना द्वितीय कोटि के महाकाव्यो मे की जा सकती है, क्योकि यहाँ कवि की दृष्टि विश्व-प्रेम एव लोकहित के कारण श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन एव राधा के हृदय मे भी विश्व-प्रेम की व्यजना करने की ओर रही है और इसी कारण कवि ने यहाँ केवल उन घटनाओ का वर्णन ही किया है जिनका सम्बन्ध कृष्ण के जातीय, राष्ट्रीय एव सार्वभौम हित से है। इन्ही घटनाओ मे कालियनाग, दावानल, गोवर्द्धन पर्वत को उठाना, अघासुर, व्योमासुर आदि के वृत्तान्त आते है। ये सभी प्रासगिक कथाये मुख्य कथा से पूर्णतया सुसम्बद्ध है और कृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम की परिचायिका है। अत उक्त सभी प्रासगिक कथाओ को मुख्य कथा का अग माना जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन कथाओ मे परम्परागत कथाओ से भिन्नता प्रस्तुत करते हुए कवि ने जो परिवर्तन किया है, वह अधिक तर्क-सम्मत एव बुद्धिग्राह्य नही बन सका है, परन्तु कवि की योजना सर्वथा प्रबन्ध काव्य के ही अनुकूल है।

वस्तु-वर्णनो की रसात्मकता—हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे कितने ही स्थल ऐसे चुने है, जिनके वर्णन मे अद्भुत कौशल दिखाते हुए सरसता का सचार किया है। 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग मे आया हुआ सध्याकालीन गोचारण का दृश्य कितना आकर्षक एव मनोमोहक है। उस समय सध्या की अरुणिमा से रजित, गो-रज से विभूषित, विविध धेनु एव ग्वालबालो के मध्य अलकृत श्रीकृष्ण से सुशोभित तथा नाना वशी-वेणु आदि वाद्यो से निनादित व्रज-भूमि की सध्याकालीन छटा किसे विमुग्ध नही करती।[2] इतना ही नही

---

१ जायसी-ग्रथावली भूमिका, पृ० ७१

२. प्रियप्रवास १।१–१२

उस ग्वाल-मडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड पड़ती है तथा सम्पूर्ण जन-मडली नद-गृह तक बडे हर्ष एव उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठको के हृदय मे सरसता का सचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की बेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एव करुणा का सागर ब्रज मे उमड पड़ता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम मे लीन होकर अपने-अपने कार्य छोडकर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्सदेह पत्थर भी रो सकते हैं। कवि ने तो लिखा भी है :—

"घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बाते दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हा हा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।[१]

उस शोक मे सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण मे खिचकर गाये भी वहाँ भागी चली आती हैं तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[२] इसके अतिरिक्त ब्रज के गोप एव गोपीजनो की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इस तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है, जिसमे सजीवता एव मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए बिना नही रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक हैं :—

"हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणी के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन मम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।"[३]

---

१. प्रियप्रवास ५।६६
२ वही ५।३७–४०
३. वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण मे भी कवि ने पर्याप्त सरसता का संचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एवं लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाओ के चित्रण मे कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बाते करती हुई कृष्ण के विरह मे भ्रमित एक विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन. विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी संवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एवं चित्ताकर्षक है। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का संचार करते हुए उन्हे चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हे हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते है, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्‌बोधन कर सकते है, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते है तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबधकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो मे करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्हे पढते-पढते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु-वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होने के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिससे न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके है और न विप्रलम्भ शृगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह मे विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीडा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन से प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सर्ग उसी रात्रि मे नद और यशोदा की व्यथित एव आशंकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१ जायसी ग्रथावली—भूमिका, पृ० ७३।

हुए प्रारम्भ हुआ है तथा अन्त तक इसी का वर्णन चलता है। यही बात अन्य सर्गों मे भी विद्यमान है कि प्रत्येक सर्ग अपने से पूर्व सर्ग से पूर्णतया सम्बद्ध है। प्रत्येक सर्ग की कथा नदी की धारा की भाँति अविरल गति से प्रवाहित होती हुई बढती चली जाती है और कही भी कथा विश्रृखलित होती हुई नही दिखाई देती। इतना अवश्य है कि सर्गों के बीच-बीच मे अन्य कथाओ का समावेश करने के लिए कवि ने एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया है अर्थात् उन कथाओ को स्मृति के रूप मे रखा है, उन्हे घटित होते हुए दिखाने की चेष्टा नही की है। इस नवीन परम्परा के कारण अथवा स्मृति रूप मे कथाओ का उल्लेख करने के कारण कथाओ का क्रम-भंग हो गया है। श्रीमद्भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण की बाल-कथायें क्रमश इस तरह आई है—पूतना-उद्धार, तृणावर्त-उद्धार, अघासुर उद्धार, कालिय नाग की कथा, दावानल से रक्षा, गोवर्द्धन धारण, केशी तथा व्योमासुर का उद्धार तत्पश्चात् मथुरा जाकर कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि का बध। परन्तु हरिऔध जी ने इन कथाओ का वर्णन यथाक्रम न करके इनमे से पहले तो पूतना और तृणावर्त की कथा के उपरान्त कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि के बध की सूचना दी है और फिर अघासुर-बध की कथा का उल्लेख न करके पहले कालियनाग की कथा का वर्णन बडी सजीवता के साथ किया है। तदुपरान्त आपने दावानल, गोवर्द्धन-धारण, केशी, व्योमासुर आदि की कथाये सुनवाई है। इस तरह भागवत से यहाँ क्रम बदलकर कथाये कहलवाई गई है। परन्तु यह कोई व्यतिक्रम नही माना जा सकता, क्योकि जब इन कथाओ को काव्य मे घटित होता हुआ दिखाया ही नही गया है, तब फिर उन्हे आगे-पीछे कभी भी किसी के द्वारा कहलवाया जा सकता है। मुख्य कथा तो यहाँ श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम मे लीन होकर मथुरा-गमन तथा उनके गमनोपरान्त उद्धव द्वारा दिये जाने वाले विश्व-प्रेम एव लोकहित सम्बन्धी सदेश को सुनकर राधा का भी विश्व-प्रेम मे लीन होना है। इस कथा की सगति मे कही व्याघात उत्पन्न नही होता तथा वह कही विश्रृखलित होती हुई नही दिखाई देती, अपितु इस कथा के अनुसार सर्गो का विभाजन भी सर्वथा उपयुक्त एव समीचीन जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त मुख्य प्रासगिक कथाये तो यहाँ चार ही है—(१) कंस के निमत्रण पर श्रीकृष्ण का मथुरा गमन, (२) गोपियो को समझाने के लिए उद्धव का मथुरा से आगमन, (३) उद्धव-गोपी तथा उद्धव-राधा संवाद और (४) कृष्ण का जरासध के आक्रमणो से दु.खी होकर मथुरा से द्वारिका चला जाना। इन कथाओ को कवि ने राधा-कृष्ण के विश्व-प्रेम

सम्बन्धी मुख्य कथान से अत्यन्त सुसम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है तथा उनमे एकरूपता एव सुसम्बद्धता विद्यमान है।

'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता—प्रबन्ध काव्य की सबसे बडी विशेषता ही यह होती है कि उसकी सारी कथा एक उद्देश्य, एक ध्येय अथवा एक 'कार्य' की सिद्धि को अपना लक्ष्य बनाकर क्रमश चलती है। इस लक्ष्य-प्राप्ति या कार्य-सिद्धि के लिए ही सारी कथा मे अन्य प्रासगिक कथाओ की योजना की जाती है, उसको सधियो एव कार्यावस्थाओ मे विभक्त करके प्रस्तुत किया जाता है तथा उसमे आदि, मध्य एव अवसान की योजना करते हुये कार्य-सकलन पर ध्यान दिया जाता है। इतना ही नही आचार्यों की दृष्टि मे चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति भी प्रबध काव्य का उद्देश्य है। अतः प्रबंध काव्य की कथावस्तु मे उक्त चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिए भी व्यवस्था की जाती है। इन सभी आधारो पर जब हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि जैसे रामचरितमानस का ध्येय रावण वध, पदमावत का ध्येय पद्मिनी का सती होना और 'कामायनी' का ध्येय मनु को आनद की प्राप्ति है, उसी तरह 'प्रियप्रवास' का ध्येय कृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम का सदेश पाकर राधा का विश्व-प्रेम मे लीन होना है। इस ध्येय या कार्य की दृष्टि से ही सारी कथा यहाँ नियोजित है। इसी कारण यहाँ कविने पहले श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम मे लीन होकर अपनी प्रिय क्रीड़ा-भूमि, वात्सल्यमयी माता, दुलारपूर्ण पिता, चिरस्नेही सखा तथा चिरप्रेमिका गोपियों का परित्याग करके मथुरा-गमन का वर्णन किया है और भी फिर इसी लोकहित अथवा विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर वे मथुरा नगरी को भी छोडकर द्वारिका में जा बसते हैं। उनके इसी लोकहित एव विश्व-प्रेम के संदेश को लेकर उद्धव ब्रज मे पधारते हैं और सभी गोप-गोपियो एव राधा को सदेश देते हैं। उस संदेश को सुनते ही राधा अपनी अन्य कुमारी सखियो को लेकर एक सुन्दर सगठित दल स्थापित करती है तथा सारे ब्रज प्रदेश मे सुख और शान्ति का प्रचार करती हुई लोकहित एवं विश्व-प्रेम मे लीन होजाती है। इतना ही नही इस कथा-विस्तार मे कवि ने कृष्ण और राधा को विश्व-प्रेम मे लीन दिखाकर मोक्ष प्राप्त करते हुए भी अकित किया है। इस तरह सम्पूर्ण कथा का झुकाव एक 'कार्य' की ही ओर है, उसी कार्य को दृष्टि मे रखकर कवि ने कथा का प्रारम्भ कृष्ण के मथुरा-गमन से किया है, उसी 'कार्य' को दृष्टि मे रखकर कवि ने बीच-बीच मे गोप-गोपियो के मुख से कृष्ण के लोकहित एव समाज उद्धार के कार्यों का वर्णन किया है और उसी 'कार्य' के कारण अन्त मे राधा भी ब्रज के कण-कण मे कृष्ण के स्वरूप की झाँकी देखते हुए उस ब्रज-

भूमि की सेवा, परोपकार, हितसाधना एवं सुख-शान्ति के प्रसार मे तल्लीन चित्रित किया है। अत: 'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा 'कार्य' की दृष्टि से पूर्णतया सुसंगठित एव सुसम्बद्ध दिखाई देती है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रियप्रवास' मे प्रबधात्मकता है, उसकी सारी कथा सुन्दरता के साथ नियोजित है तथा उसमें कथा का क्रमिक विकास विद्यमान है। उसकी कथा मे मुक्तक काव्य की तरह पूर्वापर सम्बन्ध कही भी विच्छेद नही हुआ है, अपितु अन्य पूर्वघटित प्रासगिक कथाओ को भी "आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का सग छोडो······जो ऊबी हैं कथन पहले हूँ उसी का सुनाता"[1] अथवा "निज मनोहर-भाषण वृद्ध ने, जब समाप्त किया बहुमुग्ध हो। अपर एक प्रतिष्ठित गोप यो, तब लगा कहने सु-गुणावली"[2] या "समाप्त ज्यो ही इस यूथ ने किया, अतीव प्यारे अपने प्रसग को। लगा सुनाने उस काल ही उन्हे, स्वकीय बाते फिर अन्य गोप यो"[3] आदि कहकर परस्पर सम्बद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है। यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने के कारण पाठक ऊब जाते हैं, क्योकि एक गोप या आभीर अपनी बात समाप्त करता नही कि तुरन्त ही दूसरा गोप रगमच पर आ धमकता है और अपनी गाथा सुनाने लग जाता है, इससे लगातार भाषणो के सुनने से जैसे सर-दर्द होने लगता है, वही दशा इन गाथाओ को सुनते-सुनते भी हो जाती है, फिर भी कवि ने कथाओ को सुसम्बद्ध करके मुख्य कथा से जोड़ने का अच्छा प्रयत्न किया है और इन कथाओ द्वारा लोकहित, लोकोपकार, विश्व-प्रेम, समाज-सुधार आदि का वातावरण बनाते हुए कृष्ण के आदर्श जीवन की ओर अच्छा सकेत किया है। यहाँ कवि ने नाटकीय प्रणाली को अपनाते हुए संकेतो द्वारा ही कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन किया है, परन्तु इसका कारण भी 'कार्य' की लक्ष्य-प्राप्ति ही है, क्योकि इन सकेतो द्वारा कृष्ण को प्रारम्भ से ही लोकहित मे लीन दिखाकर कवि ने उन्हे आदर्श मानव, जन-सेवी नेता, लोकोपकारी महात्मा आदि रूपो मे चित्रित किया है और कृष्ण की इन्ही विशेषताओ को अपनाते हुए राधा को भी लोक-सेविका, विश्व-प्रेमिका एवं ब्रजजन की आराध्या देवी के रूप मे अंकित किया है। अत. लक्ष्य-प्राप्ति या 'कार्य'-सिद्धि की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सुन्दर प्रबध काव्य है।

---

१ प्रियप्रवास, ८।२३

२. वही ११।५५

३. वही १२।७२

कृष्ण, यशोदा, नारद आदि स्वय अपने मनोभावो को प्रकट करते है।[1] 'आत्म-चरित' से अभिप्राय काव्य रूप मे लिखे हुए अपने जीवन-चरित्र से है। यह विधा भी बडी तीव्र गति से अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है। वैसे इसका श्रीगणेश 'प्रसाद' आदि कवियो के समय मे ही हो गया था, क्योकि प्रेमचन्द जी ने सन् १६३२ ई० मे हस का एक विशेषाक निकाला था, जिसमे सभी लेखको के आत्मचरित दिये थे। उसके लिए प्रसाद जी ने 'आत्मकथा' शीर्षक देकर २२ पक्तियो मे अपना सक्षिप्त आत्मचरित लिखा था।[2]

अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' की गणना प्रबधकाव्य के उक्त भेदो मे से किसमे की जा सकती है। उक्त सात भेदो मे से यह गीतिकथा तो है नही, क्योकि वहाँ बैलेड की भाँति कथा का न तो प्रारम्भिक रूप है और न यह कोरा भावोद्दीपक गीतरूप ही है, अपितु यह एक सर्गबद्ध विस्तृत रचना है। इसे मुक्तक-प्रबध भी नही कहा जा सकता, क्योकि यहाँ उद्धव-शतक की तरह मुक्तक-छन्दो को क्रम-बद्ध रूप मे सकलित नही किया गया है, अपितु सारी कथा पूर्वापर सबध रखने वाले छन्दो मे लिखी गई है। यह नाट्य-प्रगीत भी नही है, क्योकि 'द्वापर' काव्य की तरह यहाँ सभी पात्र अपने-अपने मनोभावो को प्रकट करते हुए अवतीर्ण नही होते। इसके अतिरिक्त यह कोरा पद्य बद्ध आत्मचरित भी नही है। अब शेष भेदों मे से महाकाव्य, खडकाव्य एव एकार्थकाव्य रह जाते है, जिन पर हमे विशेष रूप से विचार करना है।

सर्वप्रथम खडकाव्य को लेते है। खडकाव्य के बारे मे आचार्यों का विचार है कि उसमे काव्य के एक अश का अनुसरण किया जाता है। उसमे जीवन के किसी एक अग, किसी एक घटना या किसी एक कथा का वर्णन रहता है, जो स्वत. पूर्ण होता है। जैसे मेघदूत, जयद्रथ-बध आदि।[3] इस दृष्टि से विचार करने पर 'प्रियप्रवास' मे कृष्णजी के मथुरा-गमन पर ब्रज के लोगो की करुण दशा का ही वर्णन किया गया है। केवल एक इसी घटना को विस्तारपूर्वक १७ सर्गों में वर्णन करके कवि ने उसे तूल दे दिया है। अत इसमे कृष्ण के जीवन की एक ही घटना का वर्णन होने के कारण यह खड-काव्य दिखाई देता है। यह दूसरी बात है कि कृष्ण के जीवन से सबधित अन्य घटनाओ को पात्रो के मुख से कहलवाकर कथा की सूच्य प्रणाली को अपनाते

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ८०–८१
२ हंस-मासिक पत्र, जनवरी-फरवरी १६३२ ई०
३. काव्य-दर्पण, पृ० ३२७

हुए कवि ने उसमे अन्य कथाओ का समावेश कर दिया है। परन्तु ये कथाये स्मृति रूप मे आई हैं, जिनको घटित नही दिखाया गया है और जो उसी एक घटना के प्रसग मे सकलित की गई है। इस कारण कथानक की लघुता, जीवन के एक अग का वर्णन और केवल एक घटना का ही उल्लेख होने से इसे खडकाव्य के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसके कथानक को एक प्रबध काव्य के लिए भी समुचित नही समझते। उन्होने इसी कारण लिखा है—"इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अत. प्रबध काव्य के सब अवयव इसमे कहाँ आ सकते? किसी के वियोग मे कैसी-कैसी बाते मन मे उठती है और क्या-क्या कहकर लोग रोते है, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।'[1] यहाँ कथा की लघुता खडकाव्य के अनुकूल तो सर्वथा जान पडती है, परन्तु खडकाव्य मे जिस तरह काव्य के एक अश का ही अनुसरण किया जाता है, वह बात यहाँ नही है। यहाँ चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण एव वस्तु-वर्णन भी अपेक्षाकृत विस्तृत है और यहाँ काव्यगत विविधता है यहाँ कथा यद्यपि लघु है, तथापि उसे तूल देकर ही सही, विस्तृत बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। इतना ही नही स्मृति रूप मे कही गई कथायें भी विभिन्न घटना-वचित्र्यो से परिपूर्ण है। इसलिए इसे खडकाव्य नही कहा जा सकता, अपितु खंडकाव्य से विस्तृत किसी विधा मे इसकी गणना की जा सकती है।

अब प्रबधकाव्य का एक विस्तृत रूप 'एकार्थ काव्य' के नाम से भी अभिहित होने लगा है। एकार्थ काव्य का एक लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि "कोई-प्रबध काव्य महा-काव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, किन्तु उसमे महाकाव्य के लक्षण नही होते और न उसमे उसके ऐसा वस्तु-विस्तार ही देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्ग बद्ध होता है। जैसे, 'प्रियप्रवास', साकेत, कामायनी आदि।"[2] इस आधार पर आपने 'प्रियप्रवास' को एकार्थ काव्य कहा है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा है कि "एकार्थ काव्य मे कथा प्रवाह मे मोड कम होते है। गगा-वतरण, प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी वस्तुतः एकार्थ काव्य हैं।[3] एकार्थ-

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८ (सातवाँ संस्करण)
२. काव्य दर्पण, पृ० ३२७
३. वाङ्मय विमर्श, पृ० ४५

काव्य की उक्त कसौटियो पर कसकर यदि हम 'प्रियप्रवास' को देखें तो पता चलेगा कि डा० दशरथ ओझा ने एकार्थ काव्य मे पच सधियो के विधान का न होना स्वीकार किया है,[1] परन्तु यहाँ हम पहले ही देख चुके है कि 'प्रियप्रवास' मे पाचो सधियाँ विद्यमान है तथा सारी कक्षा पच सधियो, पच कार्यावस्थाओ एव पच अर्थप्रकृतियो के अनुकूल नियोजित है। दूसरे आपने लिखा कि हैं कि एकार्थ काव्य मे कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भाव-व्यजना को ओर अधिक रहता है।'[2] 'प्रियप्रवास' मे कथा मे एकरसता होने के कारण उसकी गति तो ऋजु है और कवि भाव-व्यजना मे लीन रहा है, परन्तु कवि ने उसमे मोड प्रस्तुत करते हुए गति भी प्रदान की है। जैसे, स्मृति रूप मे कृष्ण के जीवन की लोकहितकारी कथाओ का वर्णन करके कवि ने कथा की ऋजुता को परिवर्तित करने की भी चेष्टा की है, उद्धव-गोपी-सवाद भी कथा मे नवीन मोड उपस्थित कर देता है और राधा-उद्धव-सवाद ने भी कथा मे एक नवीन वक्रता प्रदान की है। प० रामदहिन लिश्र ने लिखा है कि एकार्थ काव्य में महाकाव्य के लक्षण ही नही होते। आप यहाँ देखेंगे कि 'प्रियप्रवास' मे महाकाव्य के प्राचीन लक्षण तो सभी पूर्ण रूपेण विद्यमान है। आगमी पृष्ठो मे उनका उल्लेख विस्तार के साथ किया जायेगा।

डा० गुलाबराय ने उक्त एकार्थ काव्य सबधी धारण का निराकरण करते हुए स्पष्ट लिखा है—"पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' दोनो को ही साहित्य की एक नई विधा एकार्थ काव्य के अन्तर्गत रखा है। विस्तार और मोड का प्रश्न सापेक्षित है, अप्रत्याशित मोड़ो के लिए कल्पित कथानको मे अधिक गुजाइश रहती है। कृष्ण कथा इतनी प्रचलित है कि उसमे मोड़ो की सम्भावना नही रहती। सर्गों और छन्दो की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' मे महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमे महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः सभी आ गये हैं।"[3] आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने भी प्रियप्रवास को महाकाव्य मानते हुए अन्य काव्यो मे इसे उच्च स्थान प्रदान किया है।[4] पं० रामाशकर शुक्ल 'रसाल' ने भी 'प्रियप्रवास' को

---

१. समीक्षा-शास्त्र, पृ० ८०

२. वही, पृ० ८०

३ काव्य के रूप, पृ० ९२

४. महाकवि हरिऔध, पृ० ८-९

महाकाव्य मानते हुए तथा उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है—"खडी बोली मे ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्यगुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आज तक दूसरा निकला ही नही। हम इसे खडी बोली के कृष्ण काव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते है। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है।"[1] प० लोचनप्रसाद पाडेय ने तो यहाँ तक लिखा है—"यह महाकाव्य अनेक रसो का आवास, विश्व-प्रेम-शिक्षा का विकास, ज्ञान, वैराग, भक्ति और प्रेम का प्रकाश एव भारतीय वीरता, धीरता, गम्भीरतापूरित स्वधर्मोद्धार का पथ-प्रदर्शक काव्यामृतोच्छ्वास है।"[2] पंडित श्रीधर पाठक ने तो इसे महाकाव्य स्वीकार करके इसी के छन्दो मे अपने उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है :—

"यह अवश्य कवे ! तव होइगी,
कृति महाकवि-कीर्ति-प्रदायिनी।"[3]

इतना ही नही डा० प्रतिपालसिंह का तो मत यहाँ तक है कि 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति के महाप्रवाह का उद्घाटन भली प्रकार हुआ है तथा महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष के प्रकटीकरण करने का यहाँ विराट् आयोजन किया गया है। इसी कारण यह काव्य महाकाव्यो की श्रेणी मे स्थान पाने का अधिकारी है।"[4] अत: उक्त सभी तर्कों एवं मान्यताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' न तो खडकाव्य है और न एकार्थ काव्य, अपितु नई शैली, नवीन विचारधारा एवं नवीन युग की मान्यताओ का एक नवीन महाकाव्य है।

प्राय: महाकाव्य का निर्माण युगयुगान्तर की चिर संचित विचारधारा को लेकर होता है, उससे भूत, वर्तमान एव भविष्य के सुस्पष्ट चित्र अकित किये जाते है तथा वह भव्य, महान् एव गरिमामय शैली में किसी देश एवं वर्ग की मान्यताओ को प्रस्तुत करता हुआ वहाँ की संस्कृति, सभ्यता, कला-कौशल, सौन्दर्य आदि का प्रतीक होता है। इसके बारे मे पाश्चात्य एव पौरस्त्य विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है और विचार किया जा रहा है। युग की

---

१. महाकवि हरिऔध, पृ० ३६१
२. वही, पृ० १०–११
३. वही, पृ० ८।
४. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० १००-१०१

परिवर्तित विचारधारा के अनुसार महाकाव्य की मान्यताओ मे भी पर्याप्त परिवर्तन एव परिवर्द्धन होते चले आ रहे है और होगे। परन्तु महाकाव्यकार कभी उन मान्यताओ, नियमो, सिद्धान्तो, लक्षणो एव उपादनो से नियन्त्रित नही होगे। वे सदैव अपने विचारो के अनुकूल अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसे-ऐसे महाकाव्यो का निर्माण करते रहेंगे, जिन पर किसी एक युग एव किसी एक काल के सुनिश्चित नियम लागू नही हो सकेंगे। अत. महाकाव्य के लिए कोई सर्वमान्य नियम निश्चित करना नितान्त भूल है। फिर भी अब तक की प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार महाकाव्य के लिए विद्वानो ने कुछ आवश्यक तत्व निश्चित किये है, जिनके आधार पर किसी रचना का मूल्याकन किया जा सकता है, उसके गुण-दोषो का विवेचन किया जा सकता है और अपनी कोई राय अस्थायी तौर पर निश्चित की जा सकती है। महाकाव्य के वे आवश्यक तत्व निम्नलिखित है —

(१) **कथानक**—महाकाव्य का कथानक इतिहास सम्मत, विस्तृत एव महान हो। उसमे अधिकाश यथार्थ घटनाओ का वर्णन हो और यदि कुछ कल्पित घटनाये भी हो, तो वे अस्वाभाविक न होकर सत्य सी प्रतीत हो। सभी प्रासगिक कथाये मुख्य कथा से सुसम्बद्ध हो तथा उसमे लौकिक एव पारलौकिक तत्वो का समावेश हो। समस्त कथानक कार्यान्विति से युक्त, सुसघटित एव जीवन्त हो और संधि-सध्यग युक्त आरम्भ, मध्य एव अवसान से परिपूर्ण हो।

(२) **चरित्र-चित्रण**—महाकाव्य का नायक देवता, उच्चकुलोद्‌भव या सच्चरित्र महान् व्यक्ति हो। वह चतुर, उदात्त, वीर एव जातीय जीवन की समग्र विशेषताओ से परिपूर्ण हो, क्योकि ऐसा होने से ही सहृदयो के हृदय का साधारणीकरण सुगमता से हो सकता है। उसके अतिरिक्त महाकाव्य मे आदर्श, यथार्थ एव परम्परागत पात्रो के चरित्रो का भी क्रमिक विकास दिखलाया गया हो।

(३) **प्रकृति-चित्रण**—महाकाव्य के अतर्गत उषा, सध्या, रजनी, विभिन्न ऋतु आदि के वर्णनो के साथ-साथ प्रकृति के रमणीक एवं भयकर दोनो रूपो की भव्य झाँकी अकित हो।

(४) **युग-जीवन का सम्पूर्ण चित्र**—उसमे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सांस्कृतिक जीवन की पूरी-पूरी झलक हो तथा मानवो की पारस्परिक सहानुभति, आशा की विशालता पीड़ितो के कष्ट-निवारण

सम्बन्धी प्रयत्न, मानव-जीवन के त्रिकाल सत्य, मानवता, विश्वबन्धुत्व, सामाजिक सघर्ष आदि का भी विशद चित्रण हो ।

(५) **गभीर भाव एवं रस-व्यजना**—उसमे प्रभावान्विति का ध्यान रखते हुए मानव-हृदयो के भावो एव रसो का उदात्त वर्णन हो , शृगार, वीर तथा शान्त रस मे से किसी एक रस की प्रधानता हो तथा अन्य सभी रस अगरूप मे वर्णित हो और रसोद्बोधक सभी प्रकार के सौदर्य-चित्र अकित हो।

(६) **महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य**—उसमे महत्प्रेरणा से परिपूर्ण किसी न किसी महान् उद्देश्य का निरूपण किया गया हो । भले ही वह उद्देश्य प्रत्यक्ष या उपदेशात्मक हो अथवा परोक्ष या प्रतीकात्मक हो, किन्तु उसमे महान् आदर्श विद्यमान हो ।

(७) **गरिमामयी उदात्त-कला**—उसमे उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा की परिचायक गरिमामयी उदात्त एव भव्य कला का स्वरूप अकित हो । कला की भव्यता, उदात्तता एव गरिमा के लिए निम्नलिखित बाते अपेक्षित है :—

(क) वह सर्ग बद्ध हो । उसमे विस्तार के लिए आठ या आठ से अधिक सर्ग हो, किन्तु वे न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे हो, और प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी सर्ग की कथा सूचित की गई हो ।

(ख) वह विवरणात्मक हो, उसका प्रारम्भ मगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक हो । उसमे खल-निंदा, सज्जन-प्रशसा हो और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या किसी प्रमुख पात्र या प्रमुख घटना के आधार पर किया गया हो ।

(ग) उसकी रचना-शैली उत्कृष्ट एव कलात्मक हो । उसमे भाव-सम्पन्न एव परिमार्जित भाषा तथा उच्चकोटि का शब्द विधान हो तथा उसमे परम्परागत विशेषणो, मुहावरो, कथन की विभिन्न प्रणालियो, गुण रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य आदि का प्रयोग हो ।

(घ) उसमे भावानुकूल एव भावोत्कर्ष विधायक अलकारो की योजना की गई हो।

(ङ) उसमे छन्दो अथवा वृत्तो का प्रयोग सु दर हो, वे श्रव्य तथा हृत-वृत्तादि दोषो से रहित हो, उसके एक सर्ग मे एक ही छन्द हो अथवा यदि किसी एक सर्ग मे विभिन्न छदो का भी प्रयोग हो, तो उनमे परस्पर भाव-सम्बद्धता हो ।

विद्वानो की इन प्रचीन एव नवीन मान्यताओ के आधार पर ही अब हम 'प्रियप्रवास' को समीक्षा करते हुए यह देखने की चेष्टा करेगे कि

इन मान्यताओ का पालन इसमे कहाँ तक हुआ है और उसी आधार पर यह भी निश्चित किया जा सकेगा कि यह अपने युग का महाकाव्य होने की क्षमता रखता है अथवा नही।

(१) **कथानक**—'प्रियप्रवास' का कथानक प्रख्यात है, वह इतिहास-सम्मत होने के साथ-साथ महान् भी है, क्योकि श्रीकृष्ण युगपुरुष महान् नेता लोकसेवक एव महात्मा के रूप मे यहाँ अकित किये गये है, वे भारत मे अवतारी पुरुष के रूप मे भी प्रसिद्ध है। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन की सभी लौकिक एव अलौकिक घटनाओ को यथार्थ रूप देकर चित्रित किया गया है। यहाँ तब तक कि उनकी अतिमानवीय प्रवृत्ति को निकालकर मानव जीवन के अत्यत निकट लाने के लिए उन्हे स्वाभाविक एवं बुद्धिगत बनाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि कवि इस कार्य मे पूर्ण सफल नही हुआ है, तथापि घटनाओ की यथार्थता मे कोई सदेह नही है। सम्पूर्ण कथानक सुनियोजित कार्यावस्थाओं, संधियो एव अर्थ प्रकृतियो मे विभक्त है तथा कार्यान्विति की दृष्टि से अत्यत सुसघटित एव सुसम्बद्ध भी है। परन्तु कथा जीवन्त नही हो पाई है। कवि ने अपने युग की नैतिकता एव तर्कवादिता का मुलम्मा चढाकर उसे अधिक प्राणवान् नही रहने दिया है। इसके अतिरिक्त जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने यह कथानक चुना है, उसमे इतनी सशक्तता एव जीवनी शक्ति दिखाई नही देती। उसके लिए कुछ विस्तृत कथानक अपेक्षित था परन्तु यह बात हमे कभी नही भुला देनी चाहिये कि यह युग विज्ञान एव बुद्धिवाद का है। इस काल मे घटना-प्रधान महाकाव्य की अपेक्षा विचार-प्रधान महाकाव्य लिखना अधिक उपयुक्त है। साथ ही कथानक मे अलौकिक, असभव एवं अतिमानुषिक घटनाओ का समावेश भी आज के वैज्ञानिक युग के सर्वथा विपरीत है। यही कारण है कि कवि ने कृष्ण के बाल-जीवन मे व्याप्त लोकोपकार, समाज-सेवा जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा, दुराचारी एव अत्याचारी के प्रति विद्रोह-भावना आदि का अनुशीलन करके उन्हे इस तरह चित्रित किया है कि जिससे कृष्ण का प्राचीन एव परम्परागत बाल-चरित भी अत्यत तर्कसम्मत, बुद्धि-ग्राह्य एव सभाव्य बन जाय। कवि का यह प्रयास सर्वथा प्रशंसनीय है। कथानक के बारे मे विस्तारपूर्वक पहले ही विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'प्रियप्रवास' के कथानक मे सक्षिप्तता एव घटित व्यापारो की कमी होने पर भी भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल झाँकी अकित है, उसमे मानव-आदर्श की समुचित प्रतिष्ठा है और युग के आदर्श का सुन्दर रूप चित्रित है। अत:

'प्रियप्रवास' का कथानक महाकाव्य के कथानक की गुरुता, गंभीरता एवं विशदता से ओत-प्रोत है ।

(२) **चरित्र-चित्रण**—'प्रियप्रवास' के इस विस्तृत प्रागण मे अनेक पात्र अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओ के साथ अवतीर्ण होते है । सभी का अपना-अपना महत्व है । कोई किसी के चरित्र की विशेषता का उद्घाटन करता हुआ आता है, तो कोई अपनी व्यथा-कथा सुनाता हुआ अपने हृदयगत मनोभावो का चित्रण करता हुआ आता है । किसी के द्वारा वात्सल्य की व्यजना हो रही है, तो किसी के द्वारा दाम्पत्य प्रेम की सरस धारा बहाई जा रही है । कोई अपने प्रिय के गुणानुवाद गाता हुआ गद्गद् हो रहा है, तो कोई विरह की असह्य वेदना से विकल होकर विक्षिप्त सा घूमता दिखाई दे रहा है । इस तरह 'प्रियप्रवास' की इस करुणा-भूमि के विविध पात्र अपनी-अपनी विविध विशिष्टताओ के साथ व्यापारो मे लीन अकित किए गए है । इनमे से प्रमुख पात्र पाँच है—श्रीकृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा और उद्धव । इनके अतिरिक्त कितने ही बाल-बृद्ध गोप एव गोपियाँ इस काव्य मे चित्रित है, परन्तु कवि ने इन पात्रो को कोई प्रमुखता नही दी है । अत. यहाँ प्रमुख पात्रो के चरित्र-चित्रण पर ही विचार करना अधिक समीचीन होगा ।

श्रीकृष्ण—हरिऔध जी ने श्री कृष्ण ने परब्रह्म रूप की चर्चा न करके उन्हे एक महात्मा पुरुष-रत्न एव लोकसेवी नेता के रूप मे अकित किया है । कृष्ण के परब्रह्म एव क्रीडा-विलासमय रूपो की चर्चा हिन्दी-साहित्य मे पर्याप्त मिलती है । हरिऔध जी ने युग के अनुकूल श्रीकृष्ण के रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उन्हे अधिक से अधिक मानव-जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया है और अपने विचारो के अनुकूल मानवता के चरम-विकास के रूप मे उन्हे प्रस्तुत किया है । वास्तव मे ईश्वर की कल्पना मानव के मस्तिष्क के क्रमिक विकास की सूचक है, क्योकि प्रारम्भिक मत्स्यावतार से लेकर श्रीकृष्ण के अवतार तक मानवता का क्रमिक विकास ही समझाया गया है । श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण कलाओ का पूर्ण अवतार माना जाता है । अतः श्रीकृष्ण मानवता के पूर्ण विकास के द्योतक हैं । मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व है । अतः हरिऔध जी ने यहाँ उसी मानवता के चरम विकसित रूप को अकित करने के लिए श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी अकित की है । यद्यपि 'प्रियप्रिवास' मे श्रीकृष्ण के बालक रूप का भी यत्किंचित् वर्णन मिल जाता है, जिसमे उन्हे कुसुमोपम शैया पर पद-पकज उछालते हुए, माता यशोदा को हँस-हँस कर रिझाते हुए, अपनी दँतुलियो से हर्ष बढाते हुए, आँगन में किलकारी भरकर

जननि के साथ घुटनो से रेगते हुए, ठुमक-ठुमक कर गिरते-पडते चलने का अभ्यास करते हुए, माता-पिता के सम्मुख नाचते हुए बलराम तथा अन्य गोप बालको के साथ खेलते हुए आदि अकित किया है,[1] तथापि यहाँ बाल्य-जीवन की अपेक्षा किशोर एव युवा जीवन की झाँकी अधिक सजीवता के साथ अकित की गई है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण सर्वप्रथम हमे गोपालक धेनुवत्स के जीवनाधार, गोप-मडली के नेता एव गोचारण मे लीन गोपवेषधारी सुन्दर किशोर गोप-कुमार के रूप मे दृष्टिगोचर होते है। अपनी गोपमडली के मध्य शोभायमान होकर वे धेनु और बछडो को लेकर गोकुल ग्राम मे आ रहे हैं। उनकी उस अलौकिक छवि को देखने के लिए सारा गोकुलग्राम उमड पडा है। वे अपनी मधुर मुरली बजाते हुए, गायो एवं गोपो के साथ अत्यन्त रमणीयता के साथ आकर सभी नर-नारियो के मन को मोहित कर रहे हैं। उनका शरीर नवल नील कुसुम जैसा सुन्दर है। सम्पूर्ण अग अत्यन्त सुडौल एवं सुगठित है। प्रत्येक अग से सरसता एव सुकुमारता छलक रही है। कटि मे पीताम्बर शोभा दे रहा है। वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है। दोनो वृषम-स्कन्धो पर दुकूल पडा है। कानो मे श्रेष्ठ मकराकृत कुडल शोभा पा रहे है। सिर पर सुकुमोल अलकावलियो के मध्य मोर-मुकुट अपनी छवि विकीर्ण कर रहा है। उन्नत भाल पर केसर की खौर कान्ति बढा रही है। सुकुमोल अरुण ओठो पर पीयूष-वर्षिणी मुरलिका धीरे-धीरे मधुर स्वर मे गूँजती हुई जन-मानस मे आह्लादकारिणी लहरे उठा रही है। इस तरह अत्यन्त प्रेमाकुल जनता के मध्य मे होकर अलौकिक सौदर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण गोकुल ग्राम मे प्रवेश करते हुए अकित किए गए है। श्रीकृष्ण का यह प्रारम्भिक रूप इतना दिव्य, इतना भव्य एव इतना चित्ताकर्षक दिखाया गया है कि सारा गोकुल ग्राम उनकी इस रूप-माधुरी मे लीन हो जाता है, उनके गुणोदधि मे अवगाहन करने लगता है और विविध भाव-विमुग्ध होकर सदैव के लिए उनकी इस अलौकिक मूर्ति को अपने हृदय मे अकित कर लेता है, क्योकि इसके उपरान्त उन्हे यह दिव्य एवं अलौकिक छटा गोकुल-ग्राम मे देखने को नही मिलती।

ब्रज के प्राण—श्रीकृष्ण केवल गोकुल-ग्राम के ही सर्वस्व नही हैं, अपितु सम्पूर्ण ब्रज उन्हे अपना हृदयाधार मानता है, नेता समझता है, त्राणकर्ता जानता है और अपना प्राण मानता है। कंस के निमन्त्रण को लेकर जब अक्रूर

---

१. **प्रियप्रवास ८।६–६०**

गोकुल-ग्राम मे पधारते है तब श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से केवल गोकुल के प्राणी ही व्याकुल नही होते, वरन् जहाँ-जहाँ यह सूचना पहुँचती है, वहाँ वहाँ सभी प्राणी अत्यन्त व्यथित एव बेचन हो उठते है। उनके जाने की भीषण घोषणा सुनते ही गोकुल ग्राम तो विषाद मे डूब जाता है और नाना प्रकार की आशकाओ मे लीन होकर विविध तर्क-वितर्क करता हुआ बेचैन हो उठता है। नद और यशोदा की दशा भी विचित्र हो जाती है। ब्रज-धरा के नाना उत्पातो का स्मरण करके तथा कंस द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओ का विचार करके उनके हृदय हिल जाते है और वे रात भर विचारो मे डूबे रहते है। बरसाने मे राधा जी के घर भी जब यह सूचना पहुँचती है, तब वे भी नाना प्रकार की आशकाओ, आपत्तियो एव भयकर परि-स्थियो की कल्पना करती हुई व्यथित हो उठती हैं। इतना ही नही जैसे ही श्रीकृष्ण के गमन की बेला आती है, वैसे ही क्या बाल, क्या वृद्ध, क्या गाये और क्या पक्षीगण सभी बिछोह के कारण रो पडते है। सारी ब्रजभूमि मे ऐसी करुणा एव वेदना छा जाती है जैसे मानो ब्रज के प्राण ही निकलकर कही जारहे हो। उस समय समस्त गोप-गोपीजन एव पशु-पक्षी श्रीकृष्ण के प्रेम मे अत्यधिक लीन होकर विलाप करते हुए अकित किये गए है।[1] उनकी यह विह्वल दशा, उनका यह अनन्य प्रेम एव उनकी यह आतुरता इस बात की द्योतक है कि समस्त ब्रज श्रीकृष्ण को हृदय से प्यार करता है, उन्हे अपना जीवन समझता है तथा उनके ऊपर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहता है।

शील की सुरम्य मूर्ति—अनुपम-रूप माधुरी एवं ओजस्वितापूर्ण अलौकिक शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण शील की भी अद्वितीय मूर्ति हैं। जिस समय कंस का निमत्रण पाकर अक्रूर जी के साथ आप मथुरा जाने के लिए प्रस्तुत हुए, उस समय सारी जनता अधीर होकर व्याकुल हो रही थी, उनकी उस व्याकुलता को देखकर आपने शीघ्र ही गमन करना उचित समझा और सर्व-प्रथम अपनी माता यशोदा के समीप आकर उरके चरण छूये, फिर बडी धीरता के साथ कहा—"हे माता! यदि आपकी आज्ञा हो तो अब मै यान पर जाकर बैठूँ।" माता ने जब आज्ञा दे दी, तभी आप माता के चरणो की रज लेकर, ब्राह्मणो के चरणो की वन्दना करके, बधु-बाधवो को हाथ जोड-कर नमस्कार करके फिर रथ पर जाकर बैठे।[2] इस तरह श्रीकृष्ण मे

१. **प्रियप्रवास ५।२०—७८**
२. **प्रियप्रवास ५।४२-४६**

शिष्टाचार, उच्चकुलोद्भव व्यक्ति जैसे सभ्य व्यवहार तथा श्रेष्ठ महापुरुष जैसे आचरण की प्रधानता है। इसी कारण आपके जीवन मे शक्ति और सौदर्य के साथ-साथ शील भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है।

मानवता के पुजारी—श्रीकृष्ण अपार शक्ति, असीम शील एव अनन्त सौदर्य ने ओतप्रोत होकर भी मानवता के अनन्य पुजारी है। वे ससार मे इसलिए अवतीर्ण हुए है कि मानवता पर प्रहार करने वाली दानवता का विनाश करे, प्राणियो को सुखी बनाये और जनजीवन को सभी प्रकार की बाधाओ से मुक्त करें। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप शकटासुर, बकासुर, अघासुर, व्योमासुर, केशी, कस आदि दुष्टो का विनाश करते है, भयकर वर्षा से ब्रज की रक्षा करते है। कालियनाग को यमुना के जल से निकालकर यमुना को पवित्र बनाते है, तथा जरासध आदि को सत्तहवार पराजित करते है। वे अपने समाज एव अपनी जाति की दुर्दशा नही देख सकते। उन्हें मनुष्यमात्र की निगर्हणा एव जन्मभूमि की दुरवस्था देखकर बड़ा ही दुःख होता है और वे तुरन्त ही लोक-कल्याण के कार्यों मे लग जाते हैं। वे मानवता की रक्षा के लिए अपने प्राणो को भी सकट मे डालने के लिए तैयार हो जाते हैं तथा अपनी जाति एव अपनी जन्म-भूमि के निमित्त सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहते है। परोपकार उनके जीवन का अग बन गया है, पर-दुःख-कातरता उनकी रग-रग मे समाई हुई है, और 'सर्वभूतहित' उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।[1] इतना ही नही वे स्व-जाति उद्धार को महान् धर्म मानते है और प्राय यही कहा करते है कि 'सभी प्राणियो की विपत्ति मे रक्षा करना, असहाय जीवो का सहाय होना तथा सकट से स्वजाति को उबारना ही मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है। अत. हमे सदैव अपनी जाति का भला करने के लिए आगे बढना चाहिए और प्राणो को भी संकट मे डालने से तनिक भी घबडाना नही चाहिए, क्योकि

---

१. अतः करूँगा यह कार्य मै स्वयं। स्व-हस्त में दुर्लभ प्राण को लिए। स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं। न भीत हूंगा बिकराल-व्याल से। सदा करूँगा अपमृत्यु सामना। स-भीत हूंगा न सुरेन्द्र-वज्र से। कभी करूँगा अवहेलना न मैं। प्रधान-धर्माङ्ग-परोपकार की। प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा। स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा हित सर्वभूत का।
—प्रियप्रवास ११।२५-२७।

यदि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वजाति को उबार लिया, तो हमारी जाति की रक्षा होगी, यदि हम नष्ट हो जायेगे, तो हमारी सुकीर्ति सारे विश्व मे फैल जायेगी। इस तरह मानवता की रक्षा मे दोनो प्रकार से लाभ ही लाभ है, यहाँ कभी हानि की सभावना नही है। यही कारण है कि अपने साथियो की दुर्दशा देखकर आप प्रचड दावानल मे घुस जाते है, वेग-पूर्वक सभी को चमत्कृत करते हुए गोप, धेनु और बछडो को बडी युक्ति से बाहर निकाल लाते है और अपनी सुन्दर कीर्ति-लता को ससार मे बो देते है।[1] यही विशेषता उनके अन्य कार्यो मे भी है। वे अपने बन्धु-बाधवो, प्राणियो एव किसी भी असहाय व्यक्ति का सकट देखकर तुरन्त उसे दूर करने के लिए तैयार हो जाते है और अपने इसी मानवता-प्रेम एव लोकोपकार के कारण ब्रज-भूमि मे 'नृरत्न' माने जाते है तथा अपनी नि स्वार्थ सेवा, सर्वभूत-हित एवं प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के कारण ही जगतवद्य हो जाते हैं। उनका यह मानवता-प्रेम ही उन्हे लोकप्रिय नेता एवं लोकसेवक महात्मा की कोटि मे ले जाता है और इसी कारण वे 'प्रियप्रवास' मे मानवता के चरम-विकास-स्वरूप परब्रह्मता को प्राप्त कर लेते है। यहाँ उनके हृदय से सकीर्णता एवं एकदेशीयता पूर्णतया तिरोहित हो चुकी है और उसमे उदारता एव विश्व-बन्धुत्व के साथ-साथ उस मानवता ने घर कर लिया है, जो आत्मोन्नति का प्रबल साधन है और जिसके बल पर मानव ही ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है।

कठिन पथ के पान्थ—लोकहित एवं लोक-सेवा का मार्ग अत्यन्त दुर्गम एवं कठोर होता है। इस मार्ग पर वही चल सकता है, जो अपना सर्वस्व न्यौछावर करके अपने सुख-दुःख, आनन्द-उल्लास, हास-परिहास की परवा नही करता और अपने प्रिय से प्रिय का परित्याग करके त्याग एवं तपस्या से भरा हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। श्रीकृष्ण भी इस लोकहित के कठिन पथ पर चलने के लिए अनन्त स्नेह, अपार वात्सल्य एव असीम दुलार से भरे हुए नद एव यशोदा का परित्याग कर देते है। अपने अनन्य भक्त, विनोदशील एवं सुख-दु ख के सच्चे साथी गोप-बालको को छोड देते है। अपनी क्रीडारस-पुत्तलिका, अनन्य प्रेमा तथा प्रणय-रस-लीना चिरसगिनी गोप-बालाओ को त्याग देते हैं। अपने हृदय की एक मात्र आधार, बचपन से ही अनन्य प्रेम मे परम तन्मय, रमणीयता, सरलता, अतिप्रीति, सुशीलता एव विनोदप्रियता

१ **प्रियप्रवास ११।८४–६५**

की साकार मूर्ति अपनी प्रेयसी राधा तक का परित्याग कर देते है और अपनी अत्यन्त रमणीय ब्रज-भूमि तक को छोड देते है । यद्यपि कभी-कभी ब्रज-प्रदेश, गोप-गोपी, नद-यशोदा एव प्राणप्रिया राधा का स्मरण करके श्रीकृष्ण अधीर हो उठते है, परन्तु वे बडे ही सयमी एव कठोर कर्म मे लीन रहने वाले व्यक्ति है । इसीलिए उद्धव के द्वारा राधा के समीप यही सदेश भिजवाते है कि "विधाता ने ही हमारे दो प्रिय हृदयो को विलग कर दिया है । अब मै ऐसे "कठिन-पथ का पान्थ" हो रहा हूँ कि मिलन की आशा दूर होती चली जा रही है । अत अब तो हमे मधुर सुख एव भोग की प्रिय लालसाओ का परित्याग करके जगत-हित एव लोक-सेवा मे लीन हो जाना चाहिए, क्योकि इसी से लोकोत्तर शान्ति मिलती है और इसी से श्रेय की प्राप्ति होती है ।[1] इस तरह श्रीकृष्ण केवल सदेश ही नही भेजते, अपितु इस लोक-सेवा एव जगत-हित के लिए एक त्यागी-तपस्वी जैसा जीवन भी व्यतीत करते है और ससार के लिए एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करते है ।

कर्त्तव्यपरायण लोक-प्रिय नेता—यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन अपने कर्त्तव्य-पालन का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ अकित किया गया है । श्रीकृष्ण को अपने कर्त्तव्य का बडा ध्यान रहता है । वे बचपन से ही यह जानते है कि अपने परिवार, अपने माता-पिता, अपने समाज, अपने देश और विश्व के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है । प्राय यह नीति है कि समाज के लिए परिवार को, देश के लिए समाज को और विश्व के लिए देश तक को छोड देना चाहिए । यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन इसी नीति-वाक्य को चरितार्थ करता हुआ अकित किया गया है । वे समाज की हित-चिन्ता मे अथवा अपने समाज को सुखी बनाने के लिए पहले अपने परिवार का त्याग कर देते है अर्थात् वसुदेव-देवकी के यहाँ जन्म लेकर भी गोकुल मे रहते है । फिर देश के हित के लिए अपने गोकुल के प्रिय समाज का भी परित्याग कर देते है और कस आदि का बध करके मथुरा मे ही रहने लगते हैं । तदुपरान्त विश्व-हित के हेतु वे फिर अपने प्रिय देश अर्थात् ब्रज प्रदेश को भी छोड देते है और द्वारिकापुरी मे आकर निवास करते हुए विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगते है । अत. इसी कर्त्तव्य से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने पहले माता-पिता का परित्याग, फिर प्रियजनो का परित्याग और फिर प्रिय मातृभूमि का परित्याग करते हुए अपना जीवन व्यतीत किया तथा कभी उनका चित्त चचल न हुआ । नही तो ५-६ मील की

---

१ **प्रियप्रवास १६-३७।४६**

दूरी पर रहने वाली अपनी प्रणय-रस-लीन गोपियो एवं प्राणप्रिया राधा से मिलने जाने मे उन्हे कोई आपत्ति न होती। वे किसी अकर्मण्य एव विलासी राजा के रूप मे यहाँ अकित नही है, अपितु एक कर्त्तव्यपरायण कर्मवीर के रूप मे अकित किए गये हैं, जिन्हे कभी हम सामाजिक कर्तव्य मे लीन होकर ग्वाल-वालो की रक्षा करते देखते हैं, कभी भयकर अग्नि से गाय-बछडो एव गोप-बालको को बचाते हुए देखते हैं, कभी समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए कालिय नाग को यमुना से निकाल बाहर करते हुए देखते है और कभी जरा-संध जैसे पराक्रमी योद्धा से सत्रह-सत्रह बार युद्ध करते हुए देखते है। इतना ही नही उनके जीवन का लक्ष्य ही "लोकहित" बन गया है और इसी कारण यदि माता-पिता की सेवा करते समय या गुरुजनो का सम्मान करते समय वे किसी प्राणी की आर्त-वाणी सुन लेते हैं, तो तुरन्त सेवा त्याग करके उसको शरण देते है, अनेक आवश्यक कार्य छोडकर पापी का नाश करते हैं और जनता की रक्षा करते है। इस तरह यहाँ श्रीकृष्ण अपने कर्त्तव्य पालन के हेतु ही बडे-बडे दुर्धर्ष, लोक-पीड़क एव पराक्रमशाली अत्याचारियो का बध करते हुए अकित किए गये है, अपनी-प्रिय गोप-मडली से दूर रह कर राज्य के गुरुतर कार्य-भार मे लीन दिखाए गये है और इसी कर्तव्य से प्रेरित होकर साहसी होते हुए भी जरासध के अत्याचारो से व्यथित होकर मथुरा को छोडकर द्वारिका मे जाते हुए चित्रित किए गए है। निस्सदेह श्रीकृष्ण का कर्त्तव्य-परायण रूप 'प्रियप्रवास' मे सबसे अधिक महत्वशाली है और अपने इसी कर्त्तव्य-पालन के कारण वे यहाँ जनता के लोकप्रिय नेता के प्रतिष्ठित-पद पर आसीन है।

श्रीकृष्ण की कल्पना मे हरिऔध जी का उद्देश्य—हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के जिस रूप की कल्पना 'प्रियप्रवास' मे की है उसको देखकर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि हरिऔध जी ने अपने समाज एव राष्ट्र के लिए एक ऐसे आदर्श पुरुष का निर्माण किया है, जो मानवता का पुजारी है, शक्ति-शील और सौदर्य से ओतप्रोत है तथा जिसे एक मात्र लोकहित ही प्रिय है। कवि की यह कल्पना आधुनिक युग के पूर्णतया अनुकूल है और इस कल्पना के द्वारा कवि ने श्रीकृष्ण के परम्परागत रूप के विरूद्ध ऐसे लोकोत्तर चरित्र-सम्पन्न नूरत्न की कल्पना की है, जिसे आदर्श मानकर भारत ही क्या सारा विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, विश्वबधुत्व के भावो को अपना सकता है और मानव रूप मे ईश्वरत्व की कल्पना को भली प्रकार समझ सकता है। अतएव आधुनिक विज्ञान-सम्पन्न बुद्धिवादी युग की आत्मा को संतुष्ट करने के लिए, मानवता का प्रचार करने के लिए तथा लोकहित की

भावना का सम्पूर्ण जगत में प्रसार करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के इस आदर्श चरित्र का निरूपण किया है।

राधा—'प्रियप्रवास' की चित्रपटी पर राधा का चित्र कुछ अनूठे ढग से अकित किया गया है। यहाँ राधा भक्तिकाल की विरह-विह्वला या रीतिकाल की काम-क्रीडा-प्रवीणा कामिनी नही है, अपितु आधुनिक युग की लोक-सेविका एव भारत भूमि की अनुपम नारी-रत्न है। उसके बाल्य-जीवन का अधिक आभास यहाँ नही मिलता। कवि ने केवल इतना ही सकेत किया है कि यह अलौकिक बालिका बचपन मे कृष्ण के साथ बडी तन्मय होकर खेला करती थी। प्राय· नद-भवन मे आकर जब यह कृष्ण के साथ खेलती थी, तब सारा भवन इसकी कलित-क्रीडाओ से गूँज उठता था और वहाँ अनुपम छवि उमडने लगती थी। क्रीडा ही क्रीड़ा मे राधा का वह प्रेम कृष्ण के प्रति बढता चला गया और बड़े होने पर फिर उसने 'प्रणय' का रूप धारण कर लिया, जिससे युवती होने पर फिर यह बाला रात-दिन कृष्ण के प्रेम मे तल्लीन रहने लगी।[1] इस तरह बाल्य जीवन की क्रीड़ा एव क्रिया-कलापो का अधिक वर्णन यहाँ नही मिलता। यहाँ तो राधा सर्वप्रथम एक युवा बालिका के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कवि ने इस अनुपम छविमयी बालिका के स्वरूप की झाँकी अकित करते हुए उसे एक अद्भुत सौन्दर्य सम्पन्न एव विविध कला-मर्मज्ञा युवा बाला के रूप मे प्रस्तुत किया है। उसकी शरीर-यष्टि अत्यत कोमल एव क्षीण है, उसके मुख पर सदैव मुसकान शोभा देती है, वह निरंतर क्रीड़ा-कला मे लीन रहती है, वह शोभा की तो समुद्र है, अत्यत मृदुभाषिणी है और माधुर्य की साकार मूर्ति है। उसके कमल-नेत्र उन्मत्तकारी हैं, उसके शरीर की स्वर्णिम कान्ति नेत्रोन्मेषकारिणी है, उसकी मधुर मुसकान विमुग्ध करने वाली है और उसकी कुंचित अलके मानसोन्मादिनी हैं। वह नाना प्रकार के हाव-भावो मे कुशल है, चचल कटाक्ष आदि के सहित भ्रू-संचालन मे बडी निपुण है, नाना प्रकार के वाद्यो के बजाने मे भी बड़ी प्रवीण है और अपने शरीर की सुडौलता सुकुमारता एव कमनीयता के द्वारा रति को भी विमोहित कर देने की क्षमता रखती है। वह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती है, श्रेष्ठ आभूषणो से अलकृत रहती है और स्त्रियोचित सभी गुणो से सुशोभित है। वह सदैव श्रेष्ठ शास्त्रो का अनुशीलन

---

१. **प्रियप्रवास** ४।१३-१७

करती है, रोगी, वृद्ध आदि जनो की सेवा करती है, अनन्यहृदया है, सात्विक प्रेम का पोषण करने वाली है, सुन्दर मन वाली है, सदैव प्रसन्न मुख रहती है और अपने इन्ही सब गुणो के कारण 'स्त्री-जाति रत्नोपमा' कहलाती है।[१] राधा का यह प्रारम्भिक व्यक्तित्व अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है। उसमे भारतीय श्रेष्ठ नारी के सम्पूर्ण गुण विद्यमान है और वह एक आदर्श कुमारी की जीनी-जागती मूर्ति है।

प्रणय की मधुर मूर्ति—कुमारी राधा के हृदय मे कृष्ण के प्रति बाल्यकाल से ही एक अद्‌भुत आकर्षण विद्यमान था। अब इस किशोरी के हृदय मे वह "लरिकाई कौ प्रेम" प्रणय के रूप मे परिवर्तित हो गया है। यह प्रणय-लता राधा के हृदय मे इतनी बलवती हो उठती है कि शयन और भोजन ही क्या, अब वह प्रत्येक क्षण कृष्ण की रूप-माधुरी मे उन्मत्त बनी रहती है, कृष्ण के वचनामृत की सरसता, मुखारबिंद की रमणीयता, उनकी सरलता, अतिप्रीति एव सुशीलता उसके चित्त से कभी उतरती नही, अपितु वह सदैव इनमे लीन रही आती है।[२] कृष्ण-प्रेम मे लीन इस बाला को जब कृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनाई पड़ता है, तब यह सुकुमार कली भी सहसा कुम्हला जाती है, वेदना से इसका हृदय दग्ध हो उठता है, सारा संसार सूना दिखाई देने लगता है, सम्पूर्ण दिशाये रोती हुई सी ज्ञात होती है, घर काट खाने को तैयार जान पडता है, मन बेचैन होकर जगल मे भागता प्रतीत होता है और वह अत्यत व्यथित होकर नाना प्रकार की आशंकाओ मे लीन हो जाती है। उस क्षण वह यही सोचती है कि वैसे तो मे श्रीकृष्ण के चरणो मे अपना हृदय पहले ही चढा चुकी हूँ, केवल मेरी यही कामना और थी कि विधिपूर्वक उन्हे वरण कर लूँ। परन्तु अब मुझे वह कामना पूर्ण होती दिखाई नही देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है।[3] यह प्रणयिनी बाला कृष्ण को अपना पति बनाने के लिए देवी-देवताओ को मना चुकी है, बहुत से व्रत आदि भी रख चुकी है, परन्तु आज इसका हृदय अचानक आशका मे डूब जाता है और इसे सर्वत्र व्यथा, शोक, विषाद, दु ख, वियोग आदि ही उमड़ते हुए दिखाई देते है। इस तरह कृष्ण-प्रेम मे लीन राधा का सारा जगत उस समय पूर्णतया शून्य बन जाता है,

---

१ प्रियप्रवास ४।४-८

२ वही ४।१७-१६

३ वही ४।३५

जिस समय इस प्रणय की साकार मूर्ति को बिलखता छोडकर श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते है। वह हृदय मे आग छिपाकर अपने घर मे ही दिल मसोसती रह जाती है। अत· कवि ने यहाँ राधा को प्रणय की मधुर मूर्ति के रूप मे अकित करके नारी के पवित्र प्रेम की पुनीत झाँकी प्रस्तुत की हे।

विरह-विधुरा राधा—तदनन्तर राधा हमे कृष्ण के विरह मे रात-दिन रुदन करती हुई अत्यत उन्मना दिखाई देती है। वह कृष्ण के प्रेम मे इतनी उन्मत्त हो गई है कि पवन को दूती बना कर कृष्ण के पास अपना विरह-सदेश भेजने को तैयार हो जाती है। कृष्ण की श्यामली मूर्ति देखने की उत्कट लालसा उसे व्यथित एव बेचैन बना देती है। इसी कारण वह पहले तो प्रात कालीन पवन की भर्त्सना करती हुई उसे निष्ठुर एव पापिष्ठा तक कह डालती है, परन्तु फिर उससे मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है। वह मथुरा तक के सम्पूर्ण मार्ग को बडी मार्मिकता के साथ समझा देती है और विविध युक्तियो द्वारा अपनी विरह-व्यथा को कृष्ण से कहने का निवेदन करती है। किन्तु कवि ने यहाँ जिन युक्तियो का प्रयोग किया है, उनके कारण उसका विरह-व्यथित रूप कुछ क्षणो के लिए ओझल हो जाता है और वह एक ऐसी युक्ति-कौशल सम्पन्न प्रवीण नारी के रूप मे दिखाई देती है, जो मिलन की नाना तरकीबे जानती है, जो सकेत-स्थल पर पहुँचने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ सोच सकती है और जिसे विरह-जन्य पीड़ा नही सता रही है, अपितु जो वियोग की कृत्रिम वेदना से व्यथित जान पड़ती है। कवि ने उसे जो भ्रान्ता एव उद्विग्ना कहा है,[1] वह भी कुछ सार्थक सा ज्ञात नही होता क्योकि भ्रान्ता विरहिणी भला इतनी प्रबल युक्तियाँ पवन को कैसे बता सकती है, जिनका कि उल्लेख 'प्रियप्रवास' के 'पवन-दूती-प्रसग' मे मिलता है। इस तरह राधा का विरह-विधुरा रूप यहाँ उतना मार्मिक एव हृदयाकर्षक नही है, जितना कि सूर, नददास आदि भक्तकवियो की कविताओ मे मिलता है।

कृष्ण की अनन्य उपासिका—यहाँ राधा कृष्ण की अनन्य उपासिका है। उसके हृदय मे कृष्ण-प्रेम इस सीमा तक व्याप्त हो गया है कि उसे सारा जगत ही कृष्णमय जान पड़ता है। कालिन्दी के श्याम जल मे उसे कृष्ण के श्याम गात का दर्शन मिलता है, संध्या की अरुणिमा मे वह अपने

---

१. प्रियप्रवास ६।८३

परमप्रिय की कान्ति को देखती है, रजनी की श्यामता मे उसे कृष्ण के श्याम तन का आभास मिलता है, उषा उसे सदैव कृष्ण-प्रेम मे अनुरजित जान पडती है और सूर्य की ओप मे कृष्ण के तेजपूर्ण मुख की झलक दिखाई देती है। उस अनन्य प्रेमा को भ्रग-समूह मे कृष्ण की काली कु चित अलके दिखाई देती है, खजन एव मृगो मे कृष्ण की आँखो की सुछवि रमी हुई जान पडती है, हाथी के बच्चे की सूँड मे उसे कृष्ण की विशाल-बाहु दृष्टिगोचर होती है, शुक की नासिका मे कृष्ण की सुरम्य नासिका की शोभा दिखाई पडती है, दाडिमो मे दाँतो की झलक मिलती है, बिम्बाफलो मे श्रेष्ठ अधरो की लालिमा जान पडती है, केलो मे जघन-युग की मजुता दिखाई देती है और गुलो मे कृष्ण की गुल्फो का सौदर्य झलकता हुआ प्रतीत होता है। इतना ही नही वह सम्पूर्ण प्रकृति की रूप माधुरी मे कृष्ण के अनुपम रूप-सौंदर्य को देखती है, पक्षियो के कलरव मे मुरली की मधुर ध्वनि सुनती है और पृथ्वी के प्रत्येक भाग मे श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्ति को व्याप्त देखती है।[1] वह कृष्ण के प्रेम मे व्यथित होकर अब मिलने की आकाक्षा प्रकट नही करती, अपितु वह यही सोचती है कि यदि कृष्ण यहाँ न आ सकें तो भी कोई आपत्ति नही। उद्धव से वह यही कहती है 'प्यारे जीवें जग-हित करे गेह चाहे न आवे।' अनन्य प्रेम मे लीन होने के कारण वह अब स्वय को कृष्ण से कभी पृथक् नही देखती, वरन् इस ब्रह्माण्ड मे जितनी वस्तुये उसे दिखाई देती है, वे सब उसे श्याम के रग मे ही रँगी हुई जान पडती हैं और वह पृथ्वी, नभ, पानी, पवन, पादप, खग आदि मे सर्वत्र कृष्ण को व्याप्त देखती है। इस तरह उसका प्रणय अब विकारहीन होकर सात्विक रूप धारण कर लेता है और वह कृष्ण को विश्वात्मा, जगतपति, प्रभु, सर्वेश्वर आदि मानती हुई उनकी सच्चे हृदय से उपासना करने मे लीन हो जाती है। अब वह यह जानने लगी है कि विश्व की पूजा, विश्व की आराधना, विश्व के प्राणियो की सेवा ही कृष्ण की सच्ची पूजा है, भक्ति है और उपासना है।[2] इस तरह राधा कृष्ण के वियोग मे रात-दिन आँसू बहाने की अपेक्षा विश्व को कृष्णमय मानकर उसकी उपासना करती हुई कृष्ण की अनन्य उपासिका बन जाती है।

लोक-सेविका—विश्व-प्रेम मे लीन होते ही राधा का हृदय उदार हो जाता है, उसका अन्त करण विशाल हो जाता है और वह मानवीय प्रेमिका

---

१. प्रियप्रवास १६।८३-८८

२. वही १६।६८-१०३

प्रणय की सकुचित भावना से ऊपर उठकर श्याम को जगत-पति और जगत-पति को श्याम समझने लगती है, उसे विश्व मे प्रियतम तथा प्रियतम मे विश्व व्याप्त दिखाई देने लगता है और वह साधारण श्रवण, कीर्त्तन, वदन, दासता, स्मरण, आत्म निवेदन, अर्चना, सख्य और पद-सेवना नामक नवधा-भक्ति को छोडकर आर्त्त-उत्पीडित एव रोगी प्राणियो की व्यथा सुनना ही 'श्रवण' मानती है। ऐसे दिव्य एव अनुपम गुणो का गाना उचित समझती है, जिसे सुनकर सोये प्राणी जाग उठे, अज्ञान तिमिर मे गिरे हुए प्राणी ज्ञान-ज्योति प्राप्त करे और भूले हुए प्राणी सन्मार्ग पर लग जाये। इसी गुण-गान को वह 'कीर्त्तन' मानती है। उसकी दृष्टि मे अब विद्वानो, देश-प्रेमियो ज्ञानियो, दानियो, सच्चरित्रो, गुणियो, तेजस्वियो एव देव तुल्य व्यक्तियो के आगे मस्तक झुकाना और उनका आदर-सत्कार करना ही 'वदन' है। वह 'दास्यभक्ति' उसे मानती है जिसमे मनुष्य ऐसी बाते करे, जो ससार का कल्याण करने वाली हो, सर्वभूतोपकारी हो, गिरे हुओ को उठाने वाली हो तथा जिनमे सेवा भाव भरा हुआ हो। इसी तरह अब उसकी दृष्टि मे कगाल, दीन, दुखियो आदि का स्मरण ही 'स्मरण' नामक भक्ति है, विपत्ति मे सहायता करने के लिए अपने तन और प्राणो का अर्पित करना ही 'आत्म-निवेदन' भक्ति है, पीडितो को औषधि, प्यासो को जल, भूखो को अन्न देना आदि ही 'अर्चना' नाम की भक्ति है, ससार के जिन प्राणियो से भी कुछ काम लिया जाय उनके प्रति सहृदय होना ही "सख्य" नामक भक्ति है और पतितो को शरण मे लेना तथा उनको आदर-सम्मान देना ही "पद-सेवन" नामक भक्ति है।[1] अब राधा के हृदय मे विश्व-प्रेम जाग्रत हो जाता है। वह सम्पूर्ण मोह छोडकर लोक-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती है तथा श्रीकृष्ण के सन्देश का पूरा-पूरा पालन करती हुई सम्पूर्ण विश्व की सेवा, परोपकार, दया, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम आदि से ओतप्रोत होकर अपना सारा जीवन एक लोक-सेविका के रूप मे व्यतीत करने का निश्चय कर लेती है। नि सदेह राधा का यह रूप भारतीय नारी के उज्ज्वल आदर्श को प्रस्तुत करता है और वह कामुकता, विलासिता, वियोग-जन्य उन्माद एवं प्रणय की सकीर्णता से सर्वथा परे एक भव्य एव दिव्य नारी के पद पर आसीन दिखाई देती है।

ब्रज की आराध्या-देवि—राधा का अन्तिम रूप अत्यन्त ही मार्मिक एव

---

१ प्रियप्रवास १६।११५-१२६

प्रभावोत्पादक है। वह ब्रज-जनो की पीडा दूर करने का निश्चय करके केवल गेह मे शान्तिपूर्वक बैठी नही रहती, अपितु जब कभी यह सुनती है कि कोई गोपी कही व्यथित होकर मूर्छित पडी है, तब तुरन्त ही उसके पास जाकर उचित उपचार करके उसकी व्यथा दूर करती है, उसे समझाती है और व्यथा के प्रवल वेग को कम करने के लिए नाना प्रकार की कथाये सुनाया करती है। वह नित्य-प्रति नद-यशोदा के घर जाकर उन्हे भी सात्वना देती रहती है। यदि कही गोप-जनो को खिन्न होकर बैठा देखती है तो उन्हे उद्योगी, परिश्रमी एव कर्मशील बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है। यदि कही उसे गोप-बालक कृष्ण के प्रेम मे मलिन दिखाई देते है, तो वह उन्हे कृष्ण-लीलाओ मे लगाकर अथवा खिलौने आदि लेकर प्रसन्न करती रहती है। यदि कही गोपियाँ मन मारे बैठी हुई दिखाई देती है, तो वह उन्हे प्रियतम की वीणा, वेणु या वशी सुनाकार अथवा मधुर कथाये सुनाकर प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। वह चीटियो को आटा तथा पक्षियो को अन्न और जल देती रहती है। उसकी दृष्टि मे कीटादि भी बडे महत्वशाली है, वह उनके प्रति भी बडा ही दया-भाव रखती है। व्यर्थ ही वह पेडो के पत्ते तोडना भी उचित नही समझती और सदैव प्राणियो के सम्बर्द्धन मे ही लीन रही आती है। उसने कुमारी गोपियो का एक ऐसा दल स्थापित कर दिया है जो सारी ब्रज-भूमि मे सुख और शान्ति का प्रसार करता है। इसी कारण वह ब्रज-जनो की दृष्टि मे सज्जनो के सिर की छाया, एव दुर्जनो की शासिका है, कगालो की परम निधि और पीडितो को औषधि-स्वरूपा है, दीनो की बहिन और अनाथाश्रितो की जननी है, विश्व की प्रेमिका है तथा समस्त ब्रज-भूमि की आराध्या देवि बनी हुई है।[1]

राधा की कल्पना मे कवि का उद्देश्य—हरिऔध जी ने राधा के जिस पावन एव आदर्श चरित्र का निर्माण किया है, उसके पीछे युग का नारी-आन्दोलन कार्य कर रहा है। आधुनिक-युग मे नारी को उन्नत एव सचेष्ट बनाने के लिए तथा सामजिक कार्यों मे पुरुष के साथ कधे से कधा भिडाकर कार्य करने के लिए ऐसी ही रमणियो की आवश्यकता भी जो विश्व-प्रेम मे लीन होकर लोक-सेवा, लोकहित एव लोकोपकारी कार्यो के लिए आगे बढे तथा घर की चहारदीवारी को छोडकर समाज के क्षेत्र मे कार्य करे। अतः हरिऔध जी ने भक्तिकालीन एव रीतिकालीन कवियो की कल्पना के सर्वथा विपरीत

---

१ प्रियप्रवास १७।४९

भौतिक प्रेम एव प्रणय के वासना-प्रधान रूप की अपेक्षा राधा को सर्वथा सात्विक प्रेम से ओत-प्रोत करके ऐसी लोक-सेविका के रूप मे चित्रित किया है, जिसका अन्त करण उदार है, जिसे विश्व-प्रेम ही प्रिय है और जो जन-कल्याण मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझती है। इतना ही नही जहाँ पाश्चात्य सभ्यता मे रँगकर भारतीय नारी तलाक जैसे विषाक्त कानून को अपने लिए कल्याणकर समझती है, उनके लिए हरिऔध जी ने राधा का वह त्याग-तपस्यापूर्ण आदर्श जीवन अंकित किया है, जो भारतीय नारी के गौरव का प्रतीक है तथा जिसमे आजीवन कौमार व्रत धारण करके लोक-सेवा का पुनीत भाव भरा हुआ है। ऐसी ही नारी भारतीय सस्कृति की साकार प्रतिमा है और ऐसी ही नारी जगत का कल्याण कर सकती है। अत अपने इन्ही विचारो को साकार रूप प्रदान करने के लिए तथा आधुनिक भ्रमित नारी के सम्मुख आदर्श उपस्थित करने के लिए हरिऔध जी ने राधा की ऐसी कल्पना की है।

नन्द—ब्रजभूमि के राजा है और गोपो के अग्रगण्य स्वामी है। उनके यहाँ श्रीकृष्ण जैसे लोकोपकारी एव जन-मन-हितकारी पुत्र ने जन्म लिया है। अत. वे सभी के लिए अत्यत पूज्य एव सम्माननीय है। सारा ब्रज प्रदेश उन्हे एक स्वर से अपना अग्रणी मानता है, उनकी प्रत्येक बात को ध्यान से सुनता है और उनकी आज्ञा-पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है। उनका भी अहोभाग्य है कि श्रीकृष्ण जैसा पुत्र-रत्न उन्हे विधाता के विचित्र विधान द्वारा प्राप्त हुआ, जिसके कारण उनका घर पवित्र होगया, जिसमे सदैव चहल-पहल बनी रहती है, गोप-बालक एव गोप-बालिकाये नाचती-कूदती रहती हैं तथा विविध क्रीड़ाओ मे मग्न रहती है। कृष्ण जैसे अलौकिक पुत्र को पाकर भला कौन सा पिता भाग्यशाली न होगा ! अत नद सदैव अपने भाग्य की सराहना करते रहते हैं तथा अनत वैभव एवं ऐश्वर्य के स्वामी से जान पड़ते है।

आशंकाओं से व्यथित पिता—व्रजराज नद हमे सर्वप्रथम एक ऐसे पिता के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका हृदय वात्सल्य से ओत-प्रोत है और जो पुत्र पर आने वाली भावी विपत्तियों की आशका में डूबते-उतराते हुए अत्यंत व्यथित एव बेचैन बने हुए है। वे अपने श्वेत बालो को अत्यत दुख प्रकट करने वाले भावो के साथ हाथ मे पकडकर विषम-सकट मे पडे हुए तथा अपने शयन-कक्ष मे चुपचाप बिलखते हुए दिखाई देते हैं। उनके मुख से

लम्बी-लम्बी आहे निकल रही है, दोनो नेत्र आँसुओ से भरे हुए है और वे शैया पर लेटे-लेटे कभी तो छत देखते हुए दिखाई पड़ते हैं तथा कभी शैया से उठकर अपने सूने कमरे मे टहलते दृष्टिगोचर होते है। जब उनकी व्यथा अत्यधिक बढ जाती है, तब वे द्वार की ओर झाँककर नीरव आकाश को यह जानने के लिए देखने लगते है कि अभी कितनी रात्रि और शेष है। वह दु:ख की रात्रि काटे नही कटती। यदि किसी दासी के रोदन का स्वर उनके कान मे पड जाता है, तो वे शैया पर पडे हुए और भी तड़पने लगते हैं।[1] उनकी यह दशा कस के उस निमत्रण के कारण हो रही है, जिसे लेकर अक्रूर जी गोकुल मे पधारे है और जिसके परिणामस्वरूप उनके प्राणो से भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण का प्रभात मे ही मथुरा जाना निश्चित हो गया है। अत उन्हे यह आशका हो रही है कि कस न जाने क्या उत्पात मचावे और प्रिय पुत्रो के साथ न जाने कैसा व्यवहार करे।

कर्त्तव्यपालक पति—तदनतर नद हमे एक कर्त्तव्यपालक एव जागरूक पति के रूप मे दिखाई देते है। उनकी पत्नी यशोदा जिस क्षण मथुरा से नद जी को अकेला लौटकर आता हुआ देखती है, उस क्षण वे विक्षिप्त गाय की भाँति दौड़ी हुई द्वार पर आती है, परन्तु अपने प्राणप्रिय वत्स को पति के समीप न देखकर छिन्नमूला लता की भाँति भूमि पर मूर्छित होकर गिर पडती है। इतना ही नही चेतना आते ही फिर अत्यत करुणा के साथ विलाप करने लगती है। उस समय नद जी एक तो पुत्र के शोक से ही अत्यत विह्वल हैं, क्योकि उन्हे भी कृष्ण का मथुरा रह जाना अत्यत बेचैन बना रहा है और यशोदा जी की ही भाँति उनके हृदय मे भी शोक-सागर उमड रहा है। दूसरे, यशोदा जी की ऐसी शोकपूर्ण व्यथित दशा देखकर वे और भी उद्विग्न हो उठते है। परन्तु आपके अदर असीम सयम एव अपार धैर्य भरा हुआ है, जिससे अपने हृदय को सयत बनाते हुए आप रोती-बिसूरती यशोदा जी को नाना यत्नो से बोध देते है और ऐसी-ऐसी बाते कहते है, जिससे उनके चित्त को शान्ति मिले, हृदय से निराशा दूर हो और आशा का सचार हो। इतना ही नही वे यहाँ तक कह जाते हैं—"हाँ आवेगा प्रिय-सुत प्रिये गेह दो ही दिनो मे।"[2] इस वाक्य मे भले ही मिथ्यात्व का समावेश हो, परन्तु यह कितना आशा-प्रद, कितना शान्तिप्रदायक और कितना धैर्यवर्द्धक है। इसमे एक

---

१ **प्रियप्रवास ३।२१-२६**

२ **प्रियप्रवास ७।६१**

पति के पुनीत कर्त्तव्य की उज्ज्वल झाँकी विद्यमान है, क्योकि यशोदा जी इसी वाक्य के आधार पर चेतना प्राप्त करके आश्वासन ग्रहण करती है और इसी के बल पर आशान्वित होकर अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करती है।

पुत्र-वियोग मे व्यथित किन्तु उदार आशय-सम्पन्न पिता—नंद जी अन्त मे हमे कृष्ण के चिर वियोग मे लीन एक शोक-सतप्त पिता के रूप मे दिखाई देते है। उनकी वह अवस्था अत्यन्त दयनीय एव शोकपूर्ण है। प्रत्येक प्राणी आपकी इस क्षुब्ध अवस्था को देखकर सहानुभूति एव समवेदना प्रकट करता है, परन्तु पुत्र-वियोग मे भी आपके हृदय के अतर्गत श्रीकृष्ण की जो लोकोपकार, जन-सेवा, राष्ट्र-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण मनोहर श्यामली मूर्ति बस जाती है, उसका चितन एव मनन आपको अतीव सतोष एव सयम प्रदान करता है, फिर भी जिस क्षण वात्सल्य भाव उमड पडता है, उस समय आप अत्यन्त क्षुब्ध एव क्लान्त हो उठते है। आपकी ऐसी अवस्था देखकर राधा भी आपकी सेवा-सुश्रूषा मे लगी रहती है, आपकी वियोग-जन्य क्लान्ति को मिटाती है, बातो ही बातो मे ससार के वैभव को तुच्छ बताती है और नाना शास्त्र सुनाकर बेचैनी को दूर करती है।[1] इस चित्रण द्वारा कवि ने एक पुत्र-वियोग मे व्यथित पिता के दयनीय जीवन की उज्ज्वल झाँकी अकित की है। साथ ही उसके उदार आशय को भी व्यक्त किया है।

नंद के चित्रण मे कवि का उद्देश्य—नदजी के रूप मे कवि ने पुत्र-वियोग से व्यथित, किन्तु उदार आशय एव उन्नत विचार-सम्पन्न एक ऐसे पिता का चित्र अकित किया है, जिसकी वृद्धावस्था का सहारा जाता रहा हो, जो इस जगत मे निराश्रित होकर भटकता फिरता हो तथा जो पुत्रो के लिए आजीवन कष्ट सहता हो, परन्तु जिसे इस बात से सतोष हो कि मेरे पुत्र देश-प्रेम एव जाति-प्रेम से प्रेरित होकर जनता का उद्धार करने के लिए घर छोडकर चले गये है, उन्हे हमारी अपेक्षा विश्व-प्रेम अधिक प्रिय है और वे राष्ट्र की उन्नति, देश का सुधार एव जातीय गौरव की रक्षा मे लगे हुए है। अत. एक गौरवशाली एवं सौभाग्यपूर्ण उदार विचार-सम्पन्न पिता का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए नंद जी का ऐसा चरित्र यहाँ अकित किया गया है। इसके साथ ही वे एक कर्त्तव्यपालक पति का भी आदर्श प्रस्तुत करते है, क्योकि अपनी पत्नी यशोदा को यदि वे कभी अधीर एव व्यथित देखते है, तो तुरत नाना विधियो से उसे समझाने का प्रयत्न करते है। अत. नद जी एक

---

१. प्रियप्रवास १७।४१

उच्चकोटि के पिता एव श्रेष्ठ पति के कर्त्तव्य का पालन करते हुए यहाँ चित्रित किए गए है क्योकि ऐसे न होते तो वे न तो कृष्ण को मथुरा जाने देते, न किसी लोक-हित के कार्य मे भाग लेने देते और न फिर अपनी प्रिया को सात्वना देने का ही कार्य कर सकने थे।

यशोदा—भारतीय वाड्मय मे यशोदा एक ऐसी उपेक्षिता माँ रही है जिसके असीम त्याग, अनन्त वात्सल्य एव अलौकिक दुलार से यद्यपि अधिकाश कृष्ण-भक्त कवि प्रभावित हुए है, तथापि स्वतन्त्र रूप से उसके लिए न कोई महाकाव्य लिखा गया है और न उसके जननी रूप की महत्ता को ही स्वतन्त्र-रूप से अकित किया गया है। 'प्रियप्रवास' के कवि ने इस ओर तनिक ध्यान देते हुए अवश्य कुछ सराहनीय कार्य किया है और उसके मातृत्व रूप की अभिव्यक्ति करते हुए उसके वात्सल्य, उसकी ममता एव उसकी उदार मनोवृत्ति की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। अत: अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' मे उसके चरित्र का क्रमिक विकास किस तरह अकित किया गया है।

मातृत्व की विमल विभूति—सर्वप्रथम यशोदा के दर्शन यहाँ एक वात्सल्यपूर्ण अधीर जननी के रूप मे होते है, जो अपने प्राणप्रिय पुत्र श्रीकृष्ण की शैया के पास बैठी हुई आँसू बहा रही है, जिसका वदन-मण्डल मलिन हो रहा है, जिसके हृदय मे भयपूर्ण अत्यत कुत्सित भावनाये उठ रही है और जो कस के कौशल-जाल की जटिलता के कारण अतीव व्याकुल एव असंयत होकर चिन्ता-सागर मे डूबी हुई है। इस व्यथा, वेदना, आकुलता एव अधीरता का कारण यह है कि सबेरा होते ही उसका प्रिय प्राणस्वरूप कृष्ण कस जैसे अत्याचारी शासक के निमत्रण पर मथुरा जा रहा है। कस की क्रूरता एव उसके द्वारा मचाये गये उपद्रवो से वह जननी दीर्घ काल से परिचित है। श्रीकृष्ण के जन्म से ही उसने नाना प्रकार के विघ्न, विविध बाधायें, अनेक आपत्तियाँ आदि उपस्थित करके इस जननी के हृदय को हिला दिया है। आज वही नृपाधम अपने घर ही उसके पुत्र को बुला रहा है। भला ऐसे कुअवसर पर कौन सी ऐसी माता होगी, जिसका हृदय विचलित न हो और जो आशकाओ से भरकर बेचैन न दिखाई दे! यही कारण है कि हरि-जननी यशोदा करुण-क्रन्दन करती हुई कृष्ण की शैया के निकट बैठी हैं। भय यह है कही पुत्र जाग न पडे, इसलिए वह अपने क्रदन एव अपनी व्यथापूर्ण कराह को धीरे-धीरे ही व्यक्त करती है, साथ ही पुत्र की शुभ कामना करती हुई कुल-देवता की आराधना भी करती जाती हैं। सचमुच माता का हृदय बडा ही सशकित होता है।

वह अपने पुत्र के बारे मे बडी ही भीरु एव अधीर होती है। वह नही चाहती कि उसका पुत्र उसकी आँखो से कभी ओझल हो। यशोदा की भी वही दशा है। परन्तु करे क्या ? उसका वश चले तो वह कृष्ण को कदापि न जाने दे। किन्तु यहाँ तो नद बाबा घोषणा करा चुके है और प्रभात मे ही कृष्ण का जाना निश्चित हो चुका है। अत अब उसके पास सिवाय रोने-धोने या कलपने के और कोई चारा नही। दूसरे यदि वह कुछ कर सकती है तो यही कि देवी-देवताओ से प्रार्थना करके उनकी मनौती मनाकर अथवा उनकी सभी प्रकार से पूजा करके अपने पुत्र के लिए मङ्गल-कामना करे, आपदाओ से मुक्त होने की याचना करे, और उनकी कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करे। अतः वह वात्सल्यमयी जननी रोना-धोना छोडकर कुल-देवी एव कुल-देवताओ से प्रार्थना करती है और यही याचना करती है कि मेरे दोनो प्रिय सुत मथुरा के सभी मानवो को प्रसन्न करके, सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओ से बचकर वहाँ कुछ दिन रहने के उपरान्त अपने पिता के साथ सकुशल लौट आवें। उसे उस क्षण रह-रहकर वे समस्त पुरानी विघ्न-बाधाये स्मरण हो आती हैं, जिनसे उसका प्रिय पुत्र जैसे-तैसे बचा है। इसी कारण उसकी अधीरता एव व्याकुलता क्षण-क्षण पर वृद्धि पाती हुई दृष्टिगोचर होती है। वह जननी इसलिए और अधीर हो रही है कि सबेरा शीघ्र ही होता चला आरहा है और अब उसका प्रिय चाँद जैसा पुत्र आँखो से ओझल हो जायेगा।[1] अत यशोदा की यह अधीरता, यह विकलता एव यह कातरता जननी के विमल ऐश्वर्य की द्योतक है और इसी कारण यशोदा हमे मातृत्व की विमल विभूति के रूप मे दिखाई देती है।

वात्सल्य की साकार मूर्ति—तदनंतर यशोदा वात्सल्य की साकार मूर्ति के रूप मे हमारे सम्मुख आती है। उसका प्रिय सुत आँखो से ओझल हो रहा है। जिस सुत के चन्द्रमुख को देखकर वह जीवित रहती है, जो उस वृद्धा की एक मात्र लकुटि है, जो उसका सर्वस्व है, आज वही रथ पर बैठकर मथुरा जा रहा है। पता नही मार्ग मे उसे भोजन भी मिलेगा या नही। पता नही उसके पति उसके पुत्र से खाने-पीने की पूँछेंगे अथवा नही। इसी कारण उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है और वह रथ के पास आकर अपने पति से स्पष्ट रूप से कहने लगती है कि "हे प्रियतम ! आज मैं अपनी अगणित गुणवाली थाती तुम्हे सौंप रही हूँ। मेरा यह लाडिला कुँवर कभी बाहर यात्रा करने नही गया

---

१. प्रियप्रवास ३।२८-५०

है। इसलिए ध्यान रखना कही मार्ग मे इसे कुछ कष्ट न हो। यदि भूख लगे तो तुरन्त ही मधुर फल या नाना प्रकार के व्यजन खिला देना, प्यास लगे तो तुरन्त विमल जल लाकर पिलाना और मार्ग मे नाना दृश्य दिखाते हुए इसे ले जाना। कही ऐसा न हो कि तीव्र पवन मेरे लाडिलो को सताने लगे। कही सूर्य की किरणे इन्हे सतप्त न करे। आप इन सभी बातो से कुमारो की रक्षा करना और जहाँ शीतल छाया देखो वहाँ कुछ क्षण विश्राम करना, जिससे मेरे पुत्रो के मुख-कमल मलिन न होने पावे। यह ध्यान रखना कि रथ अधिक तीव्र गति से न चले, जिससे मेरे सुकुमार पुत्रो को कोई पीडा हो, क्योकि इनका हृदय बडा ही मृदुल है। वहाँ मथुरा नगरी मे जाकर यह ध्यान रखना कि कही कोई कुटिल स्त्री अपनी विषैली छाया मेरे लाडिलो पर न डाले, क्योकि उस नगरी मे बडी-बडी साँपिने रहती है। इसलिए उनसे मेरे पुत्रो को सदैव बचाते रहना। मेरे इन पुत्रो को सदैव अपने ही साथ रखना और यदि नृपाधम कस की भ्रकुटि तनिक भी टेढी देखो, तो तुरन्त ही किसी युक्ति द्वारा मेरे पुत्रो को वहाँ से इस तरह निकाल लाना, जिससे न तो राजा ही कुपित हो और न मेरे पुत्रो का बाल बाँका हो, अपितु उनकी रक्षा हो जाय।'[1] इस तरह इस वात्सल्यमयी जननी के इन हृदयोद्गारो मे कितना स्नेह, कितना दुलार एव कितना प्यार भरा हुआ है कि जिसे देखकर वात्सल्य की मगलमयी-मूर्ति आँखो के सामने साकार रूप मे अकित हो जाती है।

ममता एव करुणा की सजीव प्रतिमा—इसके अनन्तर यशोदा का वह हृदयद्रावक रूप हमारे सामने आता है, जिसमे वह शोक एव विषाद मे डुबकियाँ लगाती हुई अपनी असीम ममता एव अपार करुणा के कारण पाठको का हृदय बरवस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तथा जननी के जिस दुःख विह्वल रूप की झाँकी पाकर सहृदय-जन शोक-सागर मे निमग्न हो जाते है। नद जी अकेले ही मथुरा से लौटकर गोकुल ग्राम मे आते है। उनको आते देख कर पहले तो यशोदा विक्षिप्त की तरह दौडी हुई द्वार पर आती है, परन्तु अपने पुत्रो को न देखकर एक साथ 'छिन्नामूला' लता के समान भूमि पर गिर पडती है। अनेक यत्नो के उपरान्त माता यशोदा को चेतना आती है। तब वह व्याकुल होकर जो विलाप करती है, उसमे जननी के हृदय की कितनी ममता, कितनी करुणा और कितनी कसक भरी हुई है, उसे शब्दो मे वर्णन करना सर्वथा असम्भव है। ऐसी ममता, ऐसी करुणा एव ऐसी कसक

---

१ **प्रियप्रवास ५।४८-५५**

उसके हृदय मे क्यो न हो, क्योकि उस वृद्धा का नेत्र-तारा ग्राज लुप्त हो गया है, उस दु ख-जलनिधि मे डूबी हुई का सहारा ग्राज कही चला गया है, उस दुखिया माँ का जीवन कही दिखाई नही देता, उस दरिद्र का ग्रनूठा रत्न कही गायब हो गया है ग्रौर उस दुलारमयी जननी की ग्रांखो का उजाला कही जाता रहा है। उसे भला कैसे सतोष हो ? इसने बडे कष्ट उठाकर ग्रपने पुत्र का लालन-पालन किया है, देवी-देवताग्रो की बडी मनौतियाँ करने के उपरान्त उसे इतना बडा कर पाया है ग्रौर नाना प्रकार के विघ्नो का सामना करके उसने वह शील, सौजन्य एव माधुर्य से परिपूर्ण मुख देखा है। उसे वेदना क्यो न पीडित करे, क्योकि ग्राज उसके पुत्र के बिना उसका घर सूना होगया है, सारी दिशाये शून्य हो गई है ग्रौर सारा जगत ही लुट गया है। वह जब ग्रपने पुत्र के लिए खिन्न होकर गायो को बिलखता देखती है या घर के शुक-सरिका ग्रादि पक्षियो को उसके लिए बेचैन देखती है, तो उसका हृदय ग्रौर भी शोक एव करुणा से भर ग्राता है। इसके साथ ही कस, चाणूर मुष्टिक ग्रादि दुष्टो की कठोरता एव ग्रपने पुत्र की सुकुमारता का ध्यान ग्राते ही माता यशोदा का हृदय विदीर्ण हो जाता है। परन्तु ईश्वर की बड़ी कृपा है कि उसके लाल ने उन सब दुष्टो को यमपुर भेज दिया है। वह इस ग्रद्‌भुत बात को सोच-सोच कर ग्रपने भाग्य की सराहना करने लगती है ग्रौर किसी पुण्य के प्रताप से ही इन सब ग्रसम्भव बातो का होना समझती है। परन्तु उसके हृदय मे बसी हुई ममता उसे रह-रहकर कचोटने लगती है, जिससे वह ग्रधीर होकर ग्रपने प्रियतम से बार-बार यही पूछती है कि "मेरा प्राणाधार ग्रब कब लौटकर ग्रावेगा ?" हाय ! मै उसके बिना जीवित नही रह सकती। ऐसा सुना जाता है कि ग्रब मुझे मेरा प्रिय चाँद ग्रपना मुख दिखाने नही ग्रावेगा। मैने उसके लिए बडे कष्ट सहे हैं। ग्रब यदि मेरा लाल मुझे देखने को नही मिलेगा, तो मेरा हृदय टुकडे-टुकडे हो जायेगा ग्रौर मै रो-रोकर ही मर जाऊँगी। हा ! वृद्धा के ग्रतुल धन, वृद्धता के ग्राश्रय, प्राणो के परमप्रिय, शोभा के सदन एव रूप-लावण्य वाले बेटे ! मै तेरे बिना जीवित नही रह सकती।"[1] इस तरह हम माता यशोदा को नाना प्रकार से करुण विलाप करते हुए देखते है। यशोदा का यह विलाप-कलाप माता के हृदय का सच्चा स्वरूप है, ममता का सच्चा निदर्शन है ग्रौर करुणा की सजीव प्रतिकृति है। यही कारण है कि यशोदा माता यहाँ ममता एवं करुणा

---

१ प्रियप्रवास ७।११-५७

की सजीव प्रतिमा के रूप मे अंकित होकर पाठको के हृदय को झकझोर डालती है, समवेदना को जाग्रत कर देती है और सभी को करुणा-सागर मे डुबो देती है।

पुत्रहीना आशामयी दुखिया जननी—ममता एव करुणा मे आप्लावित दुखिया जननी को जब नद जी यह समझाते हैं कि "धैर्य रखो, प्रियसुत दो ही दिनो मे आजावेगा' तब वह मृतप्राय मूर्ति पुन सजीव होकर आँखे खोल देती है और "क्या आवेगा कुवर ब्रज मे नाथ दो ही दिनो मे" कहकर अपनी बात की पुष्टि कराकर आशान्वित हो जाती है। उस निराश दुखिया को तनिक सा आश्रय मिल जाता है कि सभव है कि दो दिन बाद उसका लाडिला कुँवर लौट आवे। इस आशा के कारण उसकी सज्ञा लौट आती है, वह सँभल जाती है, उसकी निराश-स्थिति मे परिवर्तन हो जाता है और वह द्वार से उठकर अपने प्रियतम के साथ घर मे चली जाती है। सत्य ही है कि संसार मे आशा बडी बलवती है, उसकी महिमा अपार है, क्योकि इसका स्पर्श पाते ही मृत प्राणी भी जी उठते है। इसी से बल पाकर माता यशोदा अपने दुखी जीवन को व्यतीत करने का साहस करती है और इसी के प्रताप से वह दुखिया रोती-बिसूरती हुई, कलपती-विलखती हुई तथा भग्न हृदय को समझाती-बुझाती हुई कृष्ण की प्रतीक्षा मे दिन काटने लगती है।[१] उसकी काया जीर्ण-शीर्ण होजाती है। चिन्ता एव व्यथा उसके हृदय को अधीर करती रहती हैं और वह अत्यत खिन्न एव दीन होकर मोह मे निमग्न होती हुई आशा के सहारे ही शेष जीवन व्यतीत करती है। परन्तु इस आशामयी जननी की आशा का बाँध उस क्षण टूट जाता है, जिस समय उद्धव कृष्ण का सदेश लेकर गोकुल मे आते हैं। वह उद्धव से यही पूँछती है—"हे उद्धव! रात दिन रोते-रोते जिस कुँवर का पथ देखते हुए मेरी आँखे ज्योति-हीन हो गई है, भला क्या वे उस 'भवतमहरी ज्योति' को पुन प्राप्त कर सकेगी? क्या मुझे वह इन्द्रमुख पुन: देखने को मिल जायेगा? मैं रातदिन बडी बेचैन रहती हूँ। क्या मुझे अपने प्रिय लाल की मधुर बाते कभी सुनने को प्राप्त हो जायेगी?"[२] इसी तरह नाना प्रकार से अपनी व्यथा-कथा कहती हुई माता यशोदा अधीर हो उठती है और अपनी सम्पूर्ण राम-कहानी सुनाने लगती है

---

१ प्रियप्रवास ७।५६-६३

२ वही १०।१३-१५

कि कैसे मैने कष्ट उठाकर कृष्ण का पालन-पोषण किया, कैसे मैने विघ्नों का सामना करके उसे इतना बडा किया और आज उसके बिना किस तरह सारा ब्रज बेचैन बना हुआ है।[1] दुखिया यशोदा की यह करुण-कथा उद्धव को भी व्यथित बना देती है, वे मौन होकर सारी रात वही बैठे-बैठे माता यशोदा की व्यथा-कथा सुनते रहते है। प्रभात हो जाता है, परन्तु व्यथा-कथा समाप्त नही होती। जब उद्धव उठकर ही वहाँ से चले जाते है, तब वह दुखिया अपने आप मौन होकर रह जाती है। अत कवि ने पुत्र-हीना आशामयी दुखिया जननी के रूप मे यशोदा का चित्रण करके यहाँ पुत्र-वचिता माता के जीवन की बडी ही सुरम्य झाँकी प्रस्तुत की है।

विशाल अतःकरण एव उदारमना देवी—तदनतर यशोदा माता का अत्यत दिव्य एव भव्य रूप हमारे सामने आता है। अब चिरकाल के वियोग-जन्य दुख से जर्जर होकर वह शरीर से तो क्षीण हो गई है, परन्तु उसका अत -करण विशाल हो गया है, उसमे उदारता की भावना अत्यधिक जग गई है और अब उसमे इतनी सकीर्णता नही रही है, जितनी कि पहले थी और जिसके परिणामस्वरूप वह अपने पुत्र का कही दूर रहना पसन्द नही करती थी। उद्धव से बाते करते समय अब तो यशोदा जी कृष्ण की वीरता की प्रशसा करती हुई उनका यशोगान गाती है, दुखिया देवकी के बधन-विमुक्त होने पर हर्ष प्रकट करती है और अपने लाडिले पुत्र के वीरतापूर्ण कार्यो का वर्णन करके अत्यन्त सुखी होती है। इतना अवश्य है कि जब उन्हे वसुदेव-देवकी के कम्पकारी दुखो की याद आती है, तो वे आँसू बहाने लगती है, परन्तु उनके कारागार से विमुक्त होने का समाचार पाते ही वे अत्यत सुखी एव हर्षित दिखाई देती हैं।[2] किन्तु इस क्षण यशोदा को इसलिए अधिक पीडा हो रही है कि अब मेरा लाडिला पुत्र दूसरो का भी लाडिला बनता चला जारहा है। फिर भी अब उसका विशाल अन्त करण इस बात की गवाही नही देता कि वह देवकी के लाडिले पुत्र को अपने पास बुलाकर यही रखले। अब तो इस उदारमना माता की एक मात्र यही कामना है —

"प्यारे जीवे पुलकित रहे औ बने भी उन्ही के।
धाई नाते बदन दिखला एकदा और देवे।।[3]

---

१ प्रियप्रवास १०।१८-६५
२. वही १०।६२-६३
३ वही १०।६५

इन शब्दो मे कितनी उदारता, कितनी महानता एव कितनी अंत करण की विशालता छिपी हुई है कि अनेक कष्टो के साथ पाले हुए अपने पुत्र को वह जननी दूसरो को सौपते हुए नही झिझकती, दूसरो का बनाते हुए सकोच नही करती और केवल यही चाहती है कि भले ही वह दूसरो का बन जाय, परन्तु धाई के नाते से ही एकबार मुझे अपना मुख तो दिखा जाय। कवि ने उक्त शब्दो मे यशोदा जी की जिस दिव्य एव मगलकारिणी मातृमूर्ति का चित्र अकित किया है, उसके सम्मुख हठात् हमारा मस्तक झुक जाता है, क्योकि वह हमे मानवी होकर भी देवी के उच्च पद पर आसीन दिखाई देने लगती है।

यशोदा के चित्रण मे कवि का उद्देश्य—कवि ने यशोदा के रूप मे भारत की उस आदर्श माँ की झाँकी प्रस्तुत की है, जिसके अत करण मे अपने लालित-पालित पुत्र के लिए अनन्त मोह, असीम ममता एव अपार वात्सल्य भरा हुआ है, जो पुत्र के तनिक से सकट से ही व्यथित एव बेचैन हो उठती है, जिसे पुत्र-सुख के सामने अपने कष्टो की तनिक भी परवा नही और जो देवी-देवताओ की आराधना तक करके पुत्र की विघ्न-बाधाओ को दूर करने की सदैव चेष्टा करती रहती है। इसके अतिरिक्त अत करण की विशालता एव उदारता के कारण यशोदा माता वीर-प्रसूती माताओ की कोटि मे भी जा पहुँचती है। यद्यपि कृष्ण उनके औरस पुत्र नही है, तथापि वे उन्हे औरस से भी अधिक मानती है और उन्हे लोकहित एव लोकसेवा के कार्यो मे लीन देखकर अतीव हर्ष प्रकट करती है। वास्तव मे भारतीय जननी का यही आदर्श रहा है कि वह ममता एव वात्सल्य से परिपूर्ण होकर भी अपने पुत्र को लोकहित एव लोकसेवा के लिए सहर्ष अग्रसर करती रही है। इस दृष्टि से यशोदा जी कुन्ती, विदुला, सुभद्रा आदि वीर-प्रसूती माताओ से किसी प्रकार कम नही दिखाई देती, अपितु पराये पुत्र के लिए इतना ममत्व, इतना वात्सल्य एव इतना शोक प्रकट करने के कारण वे इन माताओ से भी अधिक महान् एव उन्नत दिखाई देती है। इस तरह कवि ने वात्सल्य, ममता एव उदारता से परिपूर्ण मगलमयी जननी का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही यशोदा की ऐसी भव्य मूर्ति यहाँ अकित की है।

उद्धव—सर्वप्रथम हमे इनके दर्शन ब्रजराज श्रीकृष्ण के समीप उनके एक ऐसे मित्र के रूप मे होते है, जो ज्ञान-वृद्ध है, विज्ञ-वर है, आनद की मूर्ति है और योगादि की शिक्षा देने मे बडे पटु है। श्रीकृष्ण इन्हे ब्रज मे इसी कारण भेजते है कि तुम वहाँ जाकर मेरे माता-पिता, मेरे चिर-सहचर गोप एव मेरी

प्रियसखी गोपियो को इस तरह समझाना, जिससे उनके हृदय की व्यथा एव वेदना दूर हो जाय, वे मेरी वियोगाग्नि मे जलना बन्द करके शान्ति प्राप्त करें और उन्हे सभी प्रकार सतोष प्राप्त हो। श्रीकृष्ण ने उद्धव को माता यशोदा, वृद्ध गोपेश तथा दिव्यागना राधा को विशेष रूप से समझाने के लिए भेजा है। साथ ही कृष्ण ने सभी प्रकार मे ब्रज की मर्यादा एव वहाँ के व्यवहार आदि से भी उद्धव जी को पूरी तौर से परिचित करा दिया है।[१]

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—उद्धव जी यात्रा के समय अत्यन्त ही भव्य एव दिव्य रूप धारण किए हुए हैं। उनके मस्तक पर किरीट शोभा दे रहा है। वे अत्यन्त गौरवशाली पीताम्बर धारण किए हुए है। कानो मे कुडल शोभा पा रहे है और उनकी काया भी श्यामल है। अतः रथ मे बैठकर जब वे गोकुल ग्राम मे आते है, तब अतीव उत्कठित ग्वाल-बालो, गायो, गोपियो आदि को उन्हे आता देखकर श्रीकृष्ण का ही भ्रम हो जाता है। परन्तु जैसे ही वे निकट आकर उन्हे ध्यान से देखते है, वैसे ही अपने प्रिय मुकुद को वहाँ न पाकर वे अत्यन्त मलीन, खिन्न एव विषादपूर्ण हो जाते है। उनकी भव्य श्यामली मूर्ति अनेक कामनियो, कुमारियो, कार्य मे रत गोपो आदि को अपनी ओर आकृष्ट तो कर लेती है, परन्तु समीप आकर वे सभी अत्यत निराश हो जाते है और उनकी उमग, उत्सुकता एव तत्परता सभी शिथिलता मे परिणत हो जाती हैं, क्योकि समस्त नगरवासियो को फिर वही भ्रम होने लगता है कि अक्रूर की भाँति यह भी फिर ब्रज के किसी रत्न को लेने के लिए यहाँ आया है।[२] अत उद्धवजी ज्ञानी, विद्वान, भव्य आकृति-सम्पन्न एव आनंद-मूर्ति होने पर भी गोकुल निवासियो के लिए आनदप्रद सिद्ध नही होते।

ब्रजजनो की व्यथा से व्यथित मौन मूर्ति—तदनतर उद्धव हमे एक ऐसे मौन साधे हुए ज्ञानी के रूप मे दिखाई देते हैं, जो बज की प्रत्येक परिस्थिति का अध्ययन तो कर रहा है और वहाँ की करुण दशा देख-देखकर पिघलता भी जा रहा है परन्तु अपने मुख से कोई शब्द नही निकालता। सबकी सुनता है और अपनी कुछ नही कहता। उद्धव जी ब्रज के खिन्न, उद्विग्न एव शोक मे निमग्न प्राणियो की व्यथा-कथा बडे चाव से सुनते है। पहले माता यशोदा की करुण एव वेदना से भरी रामकहानी सारी रात सुनते हैं, फिर वे यमुना के किनारे एक कुज मे बैठे हुए गोप बालको की

---

१. **प्रियप्रवास ६।१, ६–१२**

२. वही ६।११३–१३५

एक-एक करके कथा सुनते हैं, जिसमे कृष्ण के यशोगान के साथ-साथ उनकी करुण कहानी भी भरी हुई है। तदनन्तर आभीरो का एक दल आकर उन्हे कृष्ण के सेवाकार्य, लोकहित, परोपकार आदि का वर्णन करके कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा प्रकट करता हुआ अपनी वियोग गाथा सुनाता है। इसके अनतर वे वृन्दावन मे जाकर सैंकडो गोपकुमारो के मध्य बैठकर उनकी वियोग-कथा सुनते है, उनकी कृष्ण-मिलन की उत्सुकता, उत्कट अभिलाषा एव तीव्र आकाक्षा से भरी हुई बाते सुनकर गद्गद् हो जाते है और कथा सुनते-सुनते ही संध्या हो जाती है, परन्तु किसी को पता ही नही चलता कि समय कैसे निकल गया। इसके उपरान्त वे यमुना के किनारे एक रमणीक कुज मे टहलते हुए छिपकर एक गोपी के टीस, कराह, व्यग्रता एव उच्छ्वासो से भरे हुये वियोग सम्बन्धी उद्‌गारो को सुनते है, जिनमे वह कभी यमुना के नीले जल को सम्बोधन करके अपनी वेदना प्रकट करती है, कभी पुष्पो, कभी पवन, कभी कोकिल या भ्रमर आदि को सम्बोधन करके अपना विरह-निवेदन करती है। परन्तु इन सभी व्यथा-कथाओ को सुनकर तथा तीव्र-वेदनाओ का निरीक्षण करके भी उद्धव कुछ नही कहते, मौन रहना ही अधिक पसद करते हैं। कवि ने यद्यपि सकेत तो किया है कि उद्धव ने गोप, यशोदा, आदि को प्रबोध दिया, परन्तु वह क्या प्रबोध दिया अथवा कैसे समझाया इसका उल्लेख पहले नही मिलता।

गोपियो के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनन्तर उद्धव का वह वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आता है, जिसके लिए इनकी सृष्टि हुई है। ब्रज की बहुत कुछ विक्षिप्त दशा का अध्ययन करने के उपरान्त उद्धव का मौन भग हो जाता है और वे एक दिन अत्यन्त रमणीक कुंज में गोपबालाओ के मध्य बैठकर उन्हे कृष्ण का सदेश सुनाने लगते हैं। वे कहते है कि यह बताना अत्यत कठिन है कि अब कृष्ण यहाँ आवेगे या नही, क्योकि समय की गति बडी गूढ है और कोई भी व्यक्ति यह नही जान सकता कि कब क्या होने वाला है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण अभी तक न वृन्दावन को भूले है न अपने प्रिय माता-पिता को भूले है, न गोप-गोपियो को ही भूल सके है और न प्रणय-प्रतिमा राधा को ही भूल पाये है। वे प्रतिक्षण सभी को याद करते रहते है। परन्तु वे तीन कोस की दूरी पर रह कर भी यहाँ मिलने क्यो नही आ पाते, इसके लिए उत्तर यही है कि अब वे पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणियो के हितैषी बन गये है और उनको विश्व का प्रेम प्राणो से भी अधिक प्रिय हो गया है। उनके सामने सदैव लोकहित विद्यमान रहता है, जिसने

उनके सम्पूर्ण स्वार्थ एव विपुल-सुख को भी तुच्छ बना दिया है और इसी कारण वे सैकडो लालसाओ, लिप्साओ आदि को योगी की भाँति दमन करके जीवन-यापन करने लगे हैं। अब वे यदि अपने माता-पिता की सेवा करते समय किसी आर्तवाणी को सुन लेते है, तो तुरन्त उसे शरण देने को तैयार हो जाते है, दु खी जनो की पूर्ण सहायता करते हैं और रात-दिन लोकहित मे लगे रहते है। उन्होने मुझे यह कह कर यहाँ भेजा है कि ब्रज की समस्त बालिकाओ, वृद्धाओ आदि को यह समझा देना कि वे मोह-माया मे निमग्न न हो, किन्तु लोकसेवा, लोक-कल्याण, लोक की गरिमा आदि को भली प्रकार समझे और मेरे वियोग मे रात-दिन न रोती रहे, नही तो मुझे भी किसी क्षण चैन नही मिलेगा। अत. अब तुम योग द्वारा अपने भ्रमित मन को धीरे-धीरे सम्हालने का प्रयत्न करो, जगत-हित के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को त्याग दो और वासना-मूर्तियो को देखकर उनमे न तो मोहित होने की चेष्टा करो और न अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूलो। इस तरह तुम्हारा सारा दु ख दूर हो जायेगा और तुम्हे अनुपम शान्ति प्राप्त होगी।[1] परन्तु विरह-विधुरा गोपियाँ उनकी योग सबधी बाते नही समझती और वे अपनी व्यथापूर्ण गाथा इस तरह उनके सम्मुख प्रस्तुत करती है कि बुद्धि-निधान उद्धव भी गोपियो के अलौकिक प्रेम की सराहना करते रह जाते है।

राधा के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनतर उद्धव राधा जी से कृष्ण का सदेश कहने के लिए बरसाने पधारते हैं और वहाँ एक तपोभूमि के समान अत्यत विचित्र वाटिका मे बैठी हुई प्रशान्त, म्लाना, दिव्यतामयी भक्ति-भावना की साकार मूर्ति रूपा राधा से कृष्ण का सदेश इस तरह कहते है—"हे राधे ! कृष्ण जी ने कहा है कि विधाता ने ही आज हम दो प्रेमियो को पृथक् कर दिया है। आज मे एक ऐसे कठिन पथ का पान्थ हो गया हूँ कि अब मिलने की आशा नित्य दूर ही दूर होती जा रही है। हमारे बीच मे कुछ ऐसे गुरु गिरि आ पडे है कि हम नही मिल पाते। परन्तु ध्यान रखो इस विधि के विधान मे भी कोई श्रेय का बीज अवश्य छिपा हुआ है। यद्यपि जगत मे सुख और भोग की लालसाये बडी प्रिय एव मधुर होती है परन्तु उनसे भी सुन्दर जगत-हित की लिप्सा होती है, क्योकि इसमे आत्म-उत्सर्ग भरा रहता है और जो प्राणी जगत-हित एव लोकसेवा मे लगा रहता है, वही इस पृथ्वी पर सच्चा आत्म त्यागी है। ऐसा व्यक्ति फिर विविध भोगो मे

---

१ प्रियप्रवास १४।१५-३९

लीन नही होता, वरन् उसे प्राणियो के हित एव उनकी सेवा मे ही सच्चा-सुख मिलता है और ऐसे ही आत्मत्यागी, परोपकारी एव लोकसेवक प्राणी का जगत मे जन्म लेना सफल है। अत: सदैव ससार मे सर्वभूतोपकारी होकर स्वार्थोपरत रहना तथा सात्विकी कार्यो द्वारा जगत का कल्याण करते रहना ही श्रेयस्कर है।"[१] उद्धव का यह कथन कितना मार्मिक एव कितना प्रभावोत्पादक है कि राधा जी भी उस सदेश को सुनकर तुरन्त 'कठिन पथ की पान्थ' बन जाती है और विश्व-प्रेम मे लीन होकर लोकोपकार, लोकसेवा, लोककल्याण आदि को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर सच्चे अर्थो मे अपने प्रियतम की आदर्श प्रियतमा के रूप मे जीवन व्यतीत करने लगती है। वास्तव मे सदेशवाहक वही सफल होता है, जिसके सदेश को सुनकर व्यक्ति अपना आचार-विचार बदल दे, कल्याण की ओर अग्रसर हो जाये और उस सदेश की एक उत्कृष्ट बात को अपने जीवन मे प्रयोग करने लगे।

उद्धव की कल्पना मे कवि का उद्देश्य—महाकवि हरिऔध ने उद्धव के परम्परागत रूप मे आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया है। अभी तक हिन्दी साहित्य मे उद्धव का चित्रण एक ज्ञानी, बुद्धि-कला-प्रवीण, नीरस एवं प्रकाड पडित के रूप मे ही होता रहा है और यह दिखाया गया है कि इनकी ज्ञान एव योग की बाते ब्रज मे कोई सुनना पसन्द नही करता, अपितु ये स्वय ब्रज की गोपियो एव गोपो की भक्ति मे ऐसे लीन हो जाते है कि अपनी योग एव ज्ञान सबधी बातो को भूलकर भक्ति को ही अपना लेते है। श्रीमद्भागवत पुराण मे उद्धवजी की बाते गोपियो ने ध्यान से तो सुनी है और आदर-सत्कार भी किया है, परन्तु वे योग एव ज्ञान के मार्ग को नही अपनाती, अपितु स्वय उद्धव कुछ महीनो तक ब्रज मे रहकर जब गोपियो के भक्तिपूर्ण व्यवहार तथा उनके प्रेममय जीवन को देखते हैं, तब वे प्रशसा करते-करते नही थकते, गोपियो को लक्ष्मी, भगवद्वाणी, श्रुति, उपनिषद् आदि से भी महान् बतलाते है और उनके चरणो की धूल सिर पर चढाते है।[२] सूर आदि कृष्णभक्त कवियो ने उद्धव जी को योग एव ज्ञान का सदेश देते हुए तो दिखाया है, परन्तु गोपियाँ न तो उनका सदेश सुनती है और न उनका आदर करती है, अपितु उनकी खिल्ली उड़ाती हुई उनका मज़ाक बनाती है। यहाँ पर कवि हरिऔध ने भागवत के आधार पर उद्धव जी का स्वागत-सत्कार

---

१ **प्रियप्रवास १६।३७-४६**

२ **श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।३९-६३**

तो कराया है, परन्तु उससे भिन्न गोपियो को ध्यानपूर्वक सदेश सुनते हुए भी अकित किया है। इतना ही नही राधा को तो पूर्णतया उस सदेश का पालन करते हुए भी दिखाया है। यहाँ सदेश भी प्राचीन ग्रथो से सर्वथा भिन्न है। भागवत मे तो वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, हृदय-सयम और सत्य आदि की प्राप्ति निश्चल भाव से योग द्वारा मन मे ही ब्रह्म रूप कृष्ण का ध्यान करने पर बताई गई है।[१] यही बात कृष्णभक्त कवियो ने भी कही है। परन्तु हरिऔधजी ने त्याग, तपस्या एव सेवा सहित लोकहित एव विश्व-प्रेम का सदेश उद्धव द्वारा कहलवाया है, जिसे अबोध गोपियाँ भले ही न अपनावे, परन्तु परम विदुषी राधा सहर्ष अपना लेती है। अतः कवि ने उद्धव को यहाँ एक ऐसे उपदेशक, उद्बोधक एव सदेशवाहक के रूप मे रखा है, जो युग के अनुकूल बाते समझाकर ब्रजजनो को ही नही, अपितु समस्त विश्व को लोकहित, लोकसेवा एव लोककल्याण के कार्यों मे लीन होने का सदेश दे रहा है। यदि ध्यान से देखा जाय तो उद्धव के रूप मे कवि हरिऔध ही अपने विचारो को व्यक्त करते हुए दिखाई देते है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने उद्धव के मुख से लोकहित एव लोकप्रेम का सदेश दिलाया है।

सारांश यह है कि 'प्रियप्रवास' मे युगानुकूल आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के रूप मे एक भारत के सुपुत्र, यशस्वी एव मनस्वी, त्यागी-तपस्वी, लोकहितैषी महापुरुष का चित्रण किया है, कुमारी राधा के रूप मे देश की यशस्विनी-तपस्विनी, समाज की श्रेय-स्वरूपा, लोकसेविका, समाज-हितैषिणी, ध्येय-निष्ठा मे तत्पर भारतीय रमणी-रत्न का चित्रण किया है, नद जी के रूप मे आदर्श पिता, यशोदा जी के रूप मे आदर्श माता और उद्धव जी के रूप मे आदर्श उपदेशक या उद्बोधक का चित्रण किया है। 'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण सभी प्रकार से शौर्य, औदार्य, दया-दाक्षिण्य, उत्साह, गाभीर्य, सहनशीलता, अहकारशून्यता, दृढ व्रत, स्थिरता आदि गुणो से विभूषित होने के कारण धीरोदात्त नायक है और राधा जी सरलता, शुचिता, तेजस्विता, क्षमा, दया, उदारता, शील, सौजन्य सेवा आदि से परिपूर्ण एक उच्चकोटि की धीरा नायिका हैं। अत 'प्रियप्रवास' का यह चरित्र-चित्रण सभी प्रकार से उसके महाकाव्यत्व का द्योतक है।

---

२ श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।२३-३७

(३) **प्रकृति-चित्रण**—मानव और प्रकृति का चिर साहचर्य है। मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति की सुरम्य गोद मे ही अपनी आखे खोली थी, उसी से प्रेरणा लेकर उसने विकास किया और उसी की सहायता से वह सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र मे आगे बढा। इसी कारण मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध है। भारत की प्राकृतिक छटा कुछ ऐसी अद्भुत एव आकर्षणमयी है कि यहाँ ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ भण्डार वेदो, उपनिषदो आदि का प्रादुर्भाव प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे ही हुआ। अतएव यहा मानव-मनोभावो को विभिन्न रूप से आन्दोलित करने मे प्रकृति का हाथ आदि काल से ही रहा है और इसी कारण यहाँ मानव-मस्तिष्क अपने विचारो, अपनी अनुभूतियो एव अपने हृदयोदधि के भाव-रत्नो को प्रकृति के माध्यम से प्रकट करता रहा है। उसे प्रकृति मे एक ऐसी चेतनता, नवीनता, स्फूर्ति, मनोमोहकता आदि के दर्शन हुए हैं, जिससे वह प्रकृति की अलौकिक छवि पर आकृष्ट होकर सदैव उसके यशोगान से अपनी वाणी को पवित्र बनाता चला आया है और उसके गूढ सकेतो, रहस्यपूर्ण व्यापारो एव अनुपम परिवर्तनो को देख-देखकर आनद-विभोर होता हुआ अपने काव्य मे उसे उचित स्थान देता चला आया है। काव्यो मे यह अनुपम छवि-सम्पन्न प्रकृति-सुन्दरी नाना रूपो मे अभिव्यक्त हुई है, कही चेतन रूप मे और कही अचेतन रूप मे, कही स्वतन्त्र रूप मे और कही परतन्त्र रूप मे; कही सवेदनात्मक रूप मे और कही प्रतीकात्मक रूप मे। कहने का तात्पर्य यह है कि कवियो ने इस विविध रूपा प्रकृति की झाँकी नाना-प्रकार से अकित की है। मुख्यतया यह प्रकृति निम्नलिखित रूपो मे भारतीय काव्य के अतर्गत वर्णित मिलती है :—

(१) आलम्बन रूप मे,
(२) उद्दीपन रूप मे,
(३) सवेदनात्मक रूप मे,
(४) वातावरण-निर्माण के रूप मे,
(५) रहस्यात्मक रूप मे,
(६) प्रतीकात्मक रूप मे,
(७) अलंकार-योजना के रूप मे,
(८) मानवीकरण के रूप मे,
(९) लोक-शिक्षा के रूप मे,
(१०) दूत या दूती रूप मे।

आलम्बन रूप मे—प्रकृति का आलम्बन या स्वतत्र रूप मे चित्रण प्रारम्भिक युग से ही मिलता है। वेदो मे अग्नि, पर्जन्य, सोम, उषा, पूषण, रुद्र, विष्णु आदि के सूक्तो मे प्रकृति के स्वतत्र चित्र ही अत्यत मार्मिकता एव सजीवता के साथ अकित है। इन चित्रो मे क्रान्तदर्शी ऋषियो ने प्रकृति के चेतन स्वरूप की अत्यत भव्य एव सश्लिष्ट झाकियाँ प्रस्तुत की है। कही-कही पर केवल नाम गिनाकर या अर्थग्रहण कराकर भी छोड़ दिया गया है। इसी

कारण प्रकृति के आलम्बन रूप मे हमे दो प्रणालियो का प्रचलन दिखाई देता है—(१) विम्ब-ग्रहण-प्रणाली, जिसमे प्रकृति के सश्लिष्ट चित्र अकित किए जाते है और (२) अर्थ-ग्रहण-प्रणाली, जिसमे प्राकृतिक पदार्थो के केवल नाम ही गिना दिये जाते है। इसे नाम-परिगणन-प्रणाली भी कहते है। इन दोनो प्रणालियो द्वारा कही तो प्रकृति की भव्य एव आकर्षक झाँकी अकित की जाती है और कही प्रकृति के भयकर एवं उग्ररूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। इस दृष्टि से आलम्बन रूप मे प्रकृति चार प्रकार से अकित की जाती है। अब यदि 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टिपात करे तो पता चलेगा कि कवि हरिऔध ने यहाँ पर भी प्रकृति के अत्यत सजीव एव मनोहर रूपो की झाँकियाँ अकित की है। जैसे, विम्ब-ग्रहण-प्रणाली द्वारा प्रकृति के भव्य रूप का सश्लिष्ट चित्र अकित करते हुए कवि ने गोवर्द्धन पर्वत की अत्यत अलौकिक छटा को सजीवता प्रदान की है, जिसमे उसे ब्रज की शोभामयी भूमि का मान दड बता कर अत्यन्त गर्व, दर्प एव स्वाभिमान के साथ शिर ऊँचा करके खडा हुआ अकित किया है। उसकी गोद से जो झरने अत्यत वेगपूर्वक शब्दायमान होते हुए बह रहे है, वे उस शैलेश की सत्कीर्ति का गुणगान करते से जान पडते है। उन झरनो का जल उल्लास की मूर्ति बन कर प्राणियो को गतिशील वस्तु की गरिमा बता रहा है और उसके प्रवाह को देख कर ऐसी कल्पना उठने लगती है कि मानो झरनो के रूप मे स्वर्गीय आनद की धारा इस गोवर्द्धन पर्वत से निकल कर बह रही हो अथवा कृष्ण के वियोग मे रात-दिन रोते-विसूरते ब्रजवासियो को देख कर वह भी झरनो के प्रवाह के रूप मे श्रीकृष्ण के लिए आँसू बहाना सा दिखाई दे रहा हो।[1] प्रकृति की इस

---

१ **ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।**
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार में।
मै हूं सुन्दर मानदड ब्रज की शोभा-मयी भूमि का।

× × × × ×

पानी निर्झर का समुज्ज्वल तथा उल्लास की मूर्ति था।
देता था गति-शील-वस्तु-गरिमा यो प्राणियो को बता।
देता था उसका प्रवाह उर में ऐसी उठा कल्पना।
धारा है यह मेरु से निकलती स्वर्गीय आनद की।
या है भूधर सानुराग द्रवता अकस्थितो के लिए।
आँसू है वह ढालता विरह से किम्बा ब्रजाधीश के।

—प्रियप्रवास ९।१५-२१

लिखा है कि वहाँ जामुन, आम, कदम्ब, नीबू, फालसा, जम्बीर, आँवला, लीची, दाडिम, नारिकेल, इमिली, शीशम, इगुदी, नारगी, अमरूद, बेल, बेर, सागौन, शाल, तमाल, ताल, कदली, शालमली आदि के वृक्ष खडे हुए थे।[1] इतना ही नही कवि ने यहाँ की वन-स्थली का वर्णन करते हुए वृन्दावन मे इलायची और लोग की लताओ का वर्णत भी किया है,[2] किन्तु वहाँ के सुप्रसिद्ध करील का नाम तक नही लिया। इस तरह नाम-परिगणन-प्रणाली मे कवि ने कौशल तो प्रकट किया है, परन्तु ऐसा जान पडता है कि उसने कभी ब्रजभूमि के दर्शन नही किये और वृक्षो, लताओ एव पेड-पौधो के नामो की सूची सामने रखकर सारा वर्णन किया है, क्योकि न तो ब्रजभूमि मे सागौन और शाल होते है और न इलायची और लौग। अत कवि का यह वर्णन सर्वथा हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त इस अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत प्रकृति के भयंकर पदार्थों के नाम गिनाने के लिए कवि ने तृणावरतीय विडम्बना का उल्लेख करते हुए भयकर तूफान का उल्लेख किया है, जिसमे आँधी, उपल-वृष्टि, बादलो की गडगडाहट, पेडो का उखडना, मकान की छतो का उडना आदि वर्णित है।[3] परन्तु इस चित्र मे कामायनी के प्रलय-वर्णन आदि की सी संश्लिष्टता नही है। इसी कारण इसे अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत ही ले सकते है।

अत कवि ने आलम्बन रूप मे प्रकृति के कितने ही सजीव चित्र अकित किए है, जिनमे से निदाघ-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद-वर्णन, और बसत-वर्णन, प्रमुख है[4] जिनकी कोमलता, सुकुमारता एव भीषणता पाठको के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड जाती है, जिनमे पर्याप्त गतिशीलता एव

---

१ जम्बू, अम्ब, कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाडिम नारिकेल इमिली और शिशिपा इगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े। —प्रियप्रवास ९।२५

२. कहीं स-एला-लतिका लवंग की। ९।८८

३ प्रियप्रवास २।३६ ३९

४. निदाघ-वर्णन देखिए एकादश सर्ग मे ५६ वें छंद से ९४वें छंद तक। वर्षा-वर्णन देखिए द्वादश सर्ग में दूसरे छंद से ७१ वें छंद तक। शरद-वर्णन देखिए चतुर्दश सर्ग में ७७ वें छंद से १४१ वें छंद तक और वसत-वर्णन देखिए षोडस सर्ग मे प्रथम छंद से २८वें छंद तक।

प्रेषणीयता विद्यमान है, जिनसे हमारे मानस मे प्रकृति-सुन्दरी की एक मनोहर मूर्ति अकित हो जाती है और जो मानव के चिर साहचर्य के साथ-साथ उसके प्रति अद्‌भुत आकर्षण के द्योतक है।

उद्दीपन रूप मे—प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करके उसे मानव-मनोभावो को तीव्रता प्रदान करने वाली बतलाया है। इसी कारण प्राचीन काव्यो मे प्रकृति प्राय. सयोग के अवसर पर हर्ष एव उल्लास बढाती हुई तथा वियोग के अवसर पर सतप्त एव व्यथित बनाती हुई अधिक अकित की गई है। प्रियप्रवास मे भी प्रकृति के इस रूप की सजीव झाँकी विद्यमान है, क्योकि इस प्रणाली द्वारा कवि-जन मानव-मनोभावो की तीव्रता एव गहनता का वर्णन किया करते है। यहाँ पर हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के चले जाने पर गोपियो की विरह-व्यथा का वर्णन करने के लिए पचदशसर्ग मे प्रकृति के उद्दीपन रूप की अतीव मार्मिक झाँकी अकित की है। इस सर्ग के अतर्गत एक बाला विरह से अत्यत आकुल होकर एक वाटिका मे आती है, वहाँ आकर पाटल, जूही, चमेली, बेला, चम्पा आदि को विकसित देखकर उसके हृदय मे एक मर्मान्तिक व्यथा उत्पन्न होती है और वह इनको सम्बोधन करके अपनी विरह-व्यथा निवेदन करती है।[1] इसी तरह भ्रमर, मुरलिका, पवन यमुना आदि को देख कर उसकी भावनाये अत्यन्त उद्दीप्त होती हुई अकित की गई हैं और दिखाया गया है कि एक विरहिणी युवती को प्रकृति के ये सुखमय पदार्थ कितने दुखद एव सतापकारी प्रतीत होते है।[2] इसी तरह कवि ने काव्य के प्रारम्भ मे ही सध्या का जो आनन्ददायक वर्णन किया है, उसमे सयोग के समय की मादकता, प्रसन्नता, मनोरजकता, हास-उल्लास-प्रियता आदि विद्यमान है, क्योकि ब्रज के जीवनाधार श्रीकृष्ण सुरम्य वेष-भूषा बनाकर अपने प्रिय ग्वालबालो, सुसज्जित धेनु एव वत्सो के साथ गोकुल मे पधारते है। भला श्रीकृष्ण की इस रूपमाधुरी के अवलोकन का समय क्यो न आह्लादकारी होगा![3] इसी

---

१ आके तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
क्यो तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बता तू। १५।२३

२ प्रियप्रवास १५।३-१२७

३ गगन-मण्डल मे रज छागई। दश-दिशा बहु-शब्दमयी हुई।
विशद-गोकुल के प्रति-गेह मे। बह चला वर-स्रोत विनोद का। १।१०

कारण सध्या की यह मधुरिमा, सध्या का यह सरस राग और सध्या की यह अपूर्व छवि दर्शक-मडली के लिए विविध भाव-विमुग्ध बनाने वाली सिद्ध होती है ।[1] अत कवि ने उद्दीपन रूप मे प्रकृति के मार्मिक चित्र अकित करते हुए उसे सयोग के अवसर पर हास-परिहास, आनन्द-उल्लास आदि बढाते हुए अकित किया है और वियोग के अवसर पर हृदय को जलाकर मानस मे क्षोभ उत्पन्न करके और मस्तिष्क मे उथल-पुथल पैदा कर के व्यथित एव बेचैन बनाते हुए चित्रित किया है ।[2] सारा चित्रण अत्यन्त मनोमोहक एव आकर्षक है, इसमे कवि ने वर्षा, बसत, रजनी, चन्द्र-ज्योत्स्ना आदि को गोप-गोपियो के भावो को उद्दीप्त करते हुए अकित करके पूर्णतया परम्परा का ही पालन किया है ।

सवेदनात्मक रूप मे—प्रकृति का सवेदनात्मक रूप मे चित्रण वह कहलाता है, जहाँ वह मानव-मनोभावो के अनुकूल हर्ष के समय प्रसन्नता, विषाद के समय शोक, रुदन के समय आँसू, हास-विलास के समय उल्लास एव आमोद-प्रमोद के समय आनन्दमयी क्रीडाये प्रकट करती हुई अकित की जाती है । हरिऔध जी ने प्रियप्रवास मे प्रकृति के इस सचेतन एव सजीव रूप की झाँकी अत्यन्त मार्मिकता एव विशदता के साथ अकित की है । यहाँ प्रकृति मानव-जीवन से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करती हुई उनके सुख मे सुख एव दुख मे दुख प्रकट करती हुई दिखाई देती है । इसी कारण जब माता यशोदा अपने प्राणाधार कृष्ण के गमन का समाचार पाकर रात्रि मे शोक प्रकट करती हुई अविराम अश्रु-धारा बहाती है, बारम्बार मूर्छित हो जाती है तथा विकल एव व्यथित दिखाई देती है, तब रजनी भी उनको व्याकुल देखकर ओस की बूँदो के बहाने आँसू बहाने लगती है और सम्पूर्ण ब्रज-भूमि यमुना-प्रवाह के बहाने अपने नेत्रो से अविरल आँसू बहाते हुए अत्यन्त कातर होकर रुदन करती हुई जान पडती है ।[3] इसी तरह जिस समय ब्रज मे श्रीकृष्ण का जन्म

---

१ प्रियप्रवास १।१-३३

२. **वसन्त शोभा प्रतिकूल थी बड़ी वियोग-मग्ना ब्रज-भूमि के लिये ।**
बना रही थी उसको व्यथामयी विकाश पाती वन-पादपावली ।१६।१६

३. **विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी ।**
निपट की नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता बहु वारि था ।।
विपुल-नीर बहा कर नेत्र से मिष कलिंद-कुमारि-प्रवाह के ।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती ब्रज की धरा ।
३।८७-८८

हुआ था उस समय सारा ब्रज मारे प्रसन्नता के प्रफुल्लित दिखाई देता था, सर्वत्र उमग एव उत्साह छा गया था और घरो पर लगे बदनवारो के रूप मे सम्पूर्ण ब्रज-सदन-समूह हँसता हुआ सा जान पडता था, क्योकि मुख मे चमकते हुए दाँतो के रूप मे घरो पर लगी बदनवारे शोभा देती थी।[1] इसी प्रकार जब उद्धव मथुरा से गोकुल की ओर आरहे थे, तब उन्हे अत्यन्त रमणीक वनस्थली के दर्शन हुए, जिसमे नाना प्रकार के पशु-पक्षी वृक्ष-लता सर-सरोवर आदि शोभा दे रहे थे, परन्तु श्रीकृष्ण के वियोग के कारण पादपो, प्रसूनो, लताओ, सरोवरो, खगो, मृगो, वन-निकुञ्जो आदि मे सर्वत्र एक निगूढ खिन्नता बसी हुई थी, जिससे उन्हे देखकर उद्धव को कोई प्रसन्नता नही होती थी, अपितु गुप्त रीति से उनके हृदय मे शनै शनै विरक्ति बढती चली जाती थी।[2] यहाँ पर भी कवि ने सवेदनात्मक प्रकृति का चित्रण करके ब्रजजनो मे छाई हुई उदासी को देखकर ब्रज के प्राकृतिक पदार्थो मे भी व्याप्त उदासी का बडा ही सजीव वर्णन किया है। इतना अवश्य है कि इस सवेदनात्मक वर्णन मे भावाक्षिप्त चित्रण का अभाव है और विषाद, हास, उल्लास आदि की उतनी गहनता नही है, जितनी छायावादी कवियो की सवेदनात्मक प्रकृति-चित्रणमयी कविताओ मे दिखाई देती है। फिर भी कवि प्रकृति के इस सचेतन व्यापार से विरक्त नही दिखाई देता और वह प्रकृति मे मानवो की भाँति ही सहृदयता, सहानुभूति, समवेदना आदि के दर्शन करता है।

वातावरण-निर्माण के रूप मे—कवि लोग प्रक्रिति का प्रयोग अपने अपने काव्यो मे आनद-उल्लास, शोक-विषाद, हर्षोन्माद आदि का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए भी किया करते है। इस दृष्टि से बहुधा निर्जनता,

---

१ जब हुआ ब्रज जीवन-जन्म था। ब्रज-प्रफुल्लित था कितना हुआ।
उमगती कितनी कृति मूर्ति थीं। पुलकते कितने नृप नद थे।
विपुल सुन्दर-बदनवार से। सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते ब्रज-सद्म-समूह के। वदन मे दसनावलि थी लसी।८।६-७

२ परन्तु वे पादप मे प्रसून मे फलो दलो बेलि-लता-समूह मे।
सरोवरों मे सरि मे सुमेरु मे खगो मृगो में वन मे निकुज मे।
बसी हूई एक निगूढ खिन्नता विलोकते थे निज-सूक्ष्म-दृष्टि से।
शनैः शनै जो बहु गुप्त रीति से रही बढाती उर की विरक्ति को।
९।१०७-१०८

एकान्तता एव खिन्नता का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए गभीर एव नीरव प्रकृति की झाँकी अकित की जाती है और आनद, उल्लास, उमग, उत्साह आदि का वातावरण प्रस्तुत करने से लिए पूर्ण-विकसित एव उल्लसित प्रकृति की मनोरम झाँकी अकित की जाती है। 'प्रियप्रवास' मे कवि हरिऔध ने दोनो प्रकार के वातावरणो की सृष्टि के लिए प्रकृति के गभीर एव विकसित दोनो रूपा का अत्यन्त भव्यता, उज्ज्वलता एव सजीवता के साथ चित्रण किया है। यहाँ तृतीय सर्ग के आरम्भ मे सुनसान निशीथ का अत्यत नीरवता, निश्चलता, शान्ति एव विकटता से युक्त प्रलयकाल जैसा वर्णन एक विषाद, शोक एव खिन्नता के वातावरण की सृष्टि कर रहा है।[१] क्योकि इस क्षण प्रकृति की नीरवता एव विषादमयी स्थिति की भाँति नद-निकेतन मे नद और यशोदा भी विषाद एव खिन्नता से परिपूर्ण है और सारी ब्रजभूमि भी शोक मे लीन होकर मौन बनी हुई है। इसी तरह कृष्ण के गमन की वेला के समय व्याप्त उदासी, खिन्नता एव शोक के वातावरण की सृष्टि के लिए कवि ने पचम सर्ग के प्रारम्भ मे यमुना की तरगो मे व्यथाओ का उठना, पवन का शोक से कपित होकर बहना, वृक्षो और रात्रि का ओस के रूप मे आँसू बहाना, शोक के कारण वृक्षो का फूलो को गिराना, यमुना के जल का नीलिमा के रूप मे शोक से परिपूर्ण होना आदि लिखा है [२] और बताया है कि भौरे भी भ्रमित से होकर कुँजो से निकलकर घूम रहे थे तथा कुमुदिनी भी किसी खोटी-विरह-घडी को सामने देखकर कान्ति-हीन एव मलीन होती हुई अवनत मुखी हो रही थी।[३] इसी तरह कवि ने राधा जी की तपोवन जैसी सुरम्य एव शान्त वाटिका के सात्विक वातावरण का निर्माण करने के लिए वहाँ वसत मे भी

१, समय था सुनसान निशीथ का। अटल भूतल मे तम-राज्य था।
प्रलयकाल समान प्रसुप्त हो। प्रकृति निश्चल, नीरव, शांत थी।

\+ + + +

इस तमोमय मौन निशीथ की। सहज-नीरवता क्षिति-व्यापिनी।
कलुषिता ब्रज की महि के लिए। तनिक थी न विरामप्रदायिनी।३।१-११

२ प्रियप्रवास ५।१-१०

३ सारा नीला ललिल सरि का शोक छाया पगा था।
कजों मे से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानो खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना। ५।१०

पुष्पो का शान्ति सहित विकसित होना, भौरो का शान्ति सहित उडना तथा नीरवता, सयम एव शान्ति के साथ मकरद पान करना, पक्षियो का सयम पूर्वक पादपो पर विराजना, कोकिल का वहाँ कभी न कूकना आदि लिखा है।[1] अत कवि ने 'प्रियप्रवास' मे कितने ही स्थलो पर अतीव सुन्दर एव मनोमोहक वातावरण की सृष्टि की है तथा आगामी वर्णनो के अनुकूल प्रकृति के गभीर एव प्रसन्न रूप का चित्रण किया है। ये सभी वर्णन कवि के कला-चातुर्य एव भाव-निपुणता के द्योतक है।

रहस्यात्मक रूप मे—प्राय कविजन उस विश्वव्यापक विराट् सत्ता की ओर सकेत करने के लिए प्रकृति के कण-कण मे उसकी स्थिति का होना बताया करते है और एक रहस्यात्मक ढग से उस व्याप्त सत्ता की ओर सकेत किया करते है। वह अलक्ष्य शक्ति अत्यन्त गूढ, रहस्यमयी एव अज्ञात है। उसकी खोज मे उत्सुक कवि जब प्रकृति की ओर अपनी रहस्यमयी दृष्टि डालता है और उसके कण-कण मे व्याप्त उस विराट् सत्ता को देखने-दिखाने की बात करता है, वही प्रकृति के रहस्यात्मक रूप का चित्रण होता है। परन्तु कवि हरिऔध तो स्वभाव से ही प्रकृति की मनोरम छटा मे व्याप्त विराट् सत्ता का दर्शन करने वाले हैं। वे एक जिज्ञासु एव उत्सुक कवि की तरह उस सत्ता को कही खोजते नही फिरते, अपितु उन्हे तो खिले हुए प्रसून-वृन्द, मधुर गु जन युक्त भौरे, नदियो के मधुर कल-कल, चन्द्र-ज्योत्स्ना, पक्षियो के मधुर कलरव आदि मे सर्वत्र उस विराट् सत्ता का आभास मिलता रहता था और प्रकृति के इन सुरम्य पदार्थो को देख-देखकर वे प्राय उन्मत्त-प्राय होते रहते थे।[2] इसी कारण प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन मे वे कभी लिप्त नही हुए, अपितु उसके प्रत्यक्ष रूप-सौदर्य की अनुपम छवि पर अनुरक्त होकर सदैव उसकी रूप-माधुरी का वर्णन करते रहे। अत. 'प्रियप्रवास' मे प्रकृति के रहस्यात्मक रूप को देखने की चेष्टा करना व्यर्थ है।

प्रतीकात्मक रूप मे—कभी-कभी प्रकृति के उपादानो का प्रयोग किसी अग, किसी परिस्थिति या किसी अवस्था के द्योतको के रूप मे किया जाता है। इस प्रयोग मे बाह्य एव आन्तरिक साम्य का विशेष ध्यान रखना पडता है। कही-कही तो बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य अत्यत प्रभावशाली एव मार्मिक होता है। अत बाह्य साधर्म्य या सदृश्य के अत्यत

---

१ प्रियप्रवास १६।२३–३१
२ महाकवि हरिऔध, पृ० २५

अल्प रहने पर या न रहने पर भी जहाँ आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य को लेकर प्रकृति के उपादानो का सन्निवेश उपमान रूप मे किया जाता है वहाँ प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप के दर्शन होते है। जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता आदि के लिए उषा, प्रभात या प्रकाश का उल्लेख होना, यौवन के लिए मधुकाल, वसत आदि का वर्णन होना, प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर भ्रमर, विषाद या शोक के स्थान पर अधकार, सध्या या पतझड, निराशा के लिए प्रलय-घटा आदि और आकुलता या क्षोभ के लिए झझा, तूफान आदि का प्रयोग होता है। इस प्रणाली का प्रचार छायावाद की कविताओ का प्रचलन होने के उपरान्त अधिक हुआ है। इससे पूर्व यहाँ यह प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा मे मिलता है। जहाँ कही मिलता है, वह रूपकातिशयोक्ति अलकार के रूप मे मिलता है, जिसमे उपमेय के स्थान पर उसका प्रतीक उपमान प्रयुक्त होकर चमत्कार उत्पन्न किया करता है। जैसे संध्या की अरुणिमा के उपरान्त कालिमा के अचानक घिर आने का वर्णन करके कवि ने ब्रजभूमि के आनदोल्लास के समाप्त होने तथा शोक एव निराशा के घिर आने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस भयकर अधकार मे उनका शशि बहु कला-युक्त होकर भी विलुप्त होता चला जा रहा था।[1] इस वर्णन मे 'शशि' श्रीकृष्ण का प्रतीक और 'कलायें' उनके गुणो की प्रतीक के रूप मे वर्णित है। इसलिए 'प्रियप्रवास' मे यद्यपि प्रकृति प्रतीकात्मक रूप मे अत्यंत अल्प मात्रा मे मिलती है फिर भी जहाँ मिलती है, वहाँ छायावादी कवियो जैसी आन्तरिक प्रभाव-साम्य जैसी योजनायें नही दिखाई देती।

अलंकार-योजना के रूप मे—प्रकृति का प्रयोग अलकार-योजना के लिए तो सर्वाधिक मिलता है। सम्पूर्ण प्राचीन एव अर्वाचीन साहित्य मे प्राकृतिक उपमानो के द्वारा ही सौंदर्य, माधुर्य, औदार्य आदि के चित्र अकित किए गए है, अगो की सुकुमारता, सजलता, मसृणता, कठोरता आदि का उल्लेख किया गया है और इन्ही के साधर्म्य एव सादृश्य द्वारा मनोभावो का मानवीकरण करते हुए उनके रहस्यो का उद्घाटन किया गया है। प्रायः सभी सौन्दर्य-चित्र प्रकृति के उपमानो द्वारा ही काव्य मे चित्रित किये जाते

---

१. **बहु भयंकर थी वह यामिनी।**
बिलपते ब्रज भूतल के लिए।
तिमिर में जिसके उसका शशी।
बहु कला-युत होकर खो चला।।२।६१

रहे है। इसलिए प्रकृति के कुछ उपमान तो इतने रूढि एव परम्परागत हो गये है कि आदिकाल से लेकर अद्यावधि उनका ही प्रयोग देखा जाता है। 'प्रियप्रवास' मे भी कवि ने उसी प्राचीन रूढिवादिता का आश्रय लिया है। परन्तु उन रूढिगत उपमानो का प्रयोग भी इतनी सजीवता के साथ किया गया है कि कवि-कौशल कही भी विशृंखलित एव स्खलित सा नही दिखाई देता। उदाहरण के लिए राधा के सौन्दर्य का चित्र अकित करते हुए कवि ने उसे सुयश के सौरभ से सम्पन्न रूप के उद्यान की प्रफुल्ल कली, राकेन्दु जैसे मुख वाली, मृगदृगी, सोने की कमनीय कान्ति जैसी अग की कान्ति वाली, सरोज जैसे चरण वाली, विम्बा और विद्रुम को भी अपने रक्तिम ओष्ठो से अकान्त करने वाली, हर्षोत्फुल्ल मुखारविंद युक्त आदि कहा है।[1] इस सौदर्य-चित्र मे प्रकृति के विभिन्न सुन्दर एव परम्परागत उपमानो का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही श्रीकृष्ण के रूप-सौदर्य की सुरम्य झाँकी अकित करते हुए कवि ने उन्हे जलद-तन, फूले श्यामकमल जैसे गात वाले, वृषभ-वर जैसे सजीले कधो से युक्त, कलभकर जैसी बाहु वाले, कम्बु-कठ से सुशोभित, तारो मध्य राकेश की भाँति सुसज्जित आदि कहा है।[2] इस वर्णन मे भी प्रकृति के रूढिगत उपमानो को कवि ने बडी सजीवता के साथ सजाकर उन्हे उचित रूप मे अकित किया है। इसी तरह प्रकृति से सुन्दर-सुन्दर उदाहरण लेकर भी कवि ने अपनी बातो को अत्यत भव्य रूप मे प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए जैसे वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर स्वाँति के सलिल-कण पाकर परम तृषिता चातकी थोडी सी शान्ति प्राप्त करती है, वैसे ही अपने पुत्र का दो दिनो मे आना श्रवण करके मूर्च्छित एव अचेत होती हुई यशोदा जी थोड़ी आश्वासिता सी दिखाई देने लगी।[3] इस तरह उदाहरणो, रूपको, समानताओ, असमानताओ आदि के लिए कवि ने प्रकृति का प्रयोग करते हुए अत्यत पुष्ट एव औचित्यपूर्ण अलकार-योजना की है। कही-कही सागरूपक बनाने के लिए कवि ने जो प्रकृति के सुरम्य उपादानो का प्रयोग किया है, वह कवि के

---

१. प्रियप्रवास ४।३-८

२. वही ६।५६-६०

३. जैसे स्वाती-सलिल-कण या वृष्टि का काल बीते।
   थोड़ी सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
   वैसे आना श्रवण करके पुत्र का दो दिनों मे।
   संज्ञा खोती यशुमति हुई स्वल्प आश्वासिता सी। ७।६२

अनुपम कौशल के साथ-साथ उसके सूक्ष्म-निरीक्षण का भी परिचायक है। जैसे हृदय मे उद्यान का आरोप करते हुए कवि ने कल्पना को क्यारियाँ, भावो को कुसुम, उत्साहो को विपुल वृक्ष, मच्चिता को वापिका, उमगो को कलियाँ, वासना को बेले, सद्वाछा को पक्षी आदि बताया है।[१] यहाँ कवि ने अलकार-योजना के लिए प्रकृति के उपमानो का प्रयोग करते हुए मनोभावो के भी अत्यत सजीव एव मार्मिक चित्र अकित किए है जिनसे पाठक हृदय-गत भावो, कल्पनाओ, उमगो आदि के बारे मे बडी सुगमता से समझ सकता है, क्योकि ये सभी मनोभाव विम्ब रूप मे उसके सामने अकित हो जाते है।

मानवीकरण रूप मे—मानवीकरण से तात्पर्य अग्रेजी के परसोनीफिकेशन से है। इसमे प्रकृति के अन्दर मानव-व्यापारो का आरोप करके उसकी गति-विधियो का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि इस प्रणाली का श्रीगणेश ऋग्वेद मे विद्यमान है, क्योकि वहाँ अग्नि, पर्जन्य, पूषण, सोम, सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थो की नराकार कल्पना करते हुए उन्हे अनेक भुजा, अनेक मुख, अनेक जिह्वा आदि से युक्त माना है और मानवो की भाँति ही हव्य पदार्थो का सेवन करते हुए अकित किया गया है। कालान्तर मे इस प्रणाली का प्रचार कम होता गया। परन्तु आधुनिक युग मे प्रकृति-चित्रण की यह प्रणाली सर्वाधिक प्रचलित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक कवि प्रकृति को एक अखड चेतना-शक्ति मानते है। इसी कारण उन्हे प्रकृति मे सर्वत्र चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और वे मानवोचित व्यापारो से युक्त देखते हुए अपने काव्यो मे उसे स्थान देते है। हरिऔध जी ने भी प्रकृति पर मानव-व्यापारो का आरोप करते हुए 'प्रियप्रवास' मे कितने ही स्थलो पर उसका वर्णन किया है। ब्रज के रमणीक गोवर्द्धन पर्वत को अपना सहर्ष ऊँचा शीश करके सर्वोच्चता के दर्प एव गर्व से परिपूर्ण एक गिरिराज या पर्वतो के सम्राट् की भाँति अकित किया है, जो बडी क्षमाशीलता, निर्भीकता, उच्चता, शास्ता-समा-भगिमा आदि के साथ अपने निम्नस्थ भू-भाग पर शासन कर रहा है।[२] वृन्दावन मे नारगी के वृक्ष को सोने के कई तमगे लगाये हुए, हरे-हरे सजीले वस्त्र पहने हुए बडे अनूठेपन के साथ खडा हुआ अकित किया है।[३] इसी तरह निम्ब, लीची, दाड़िम, विल्व, ताल, शाल्मली, मधूक वट

---

१. प्रियप्रवास १०।४८-४९

२. वही ९।१५-२३

३. **सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा। हरे सजीले निज वस्त्र को सजे।**
बड़े अनूठेपन साथ था खड़ा। महा-रँगीला तरु नागरंग का। ९।४०

आदि वृक्षो का वर्णन भी मानवोचित व्यापारो से युक्त करके किया गया है ।[१] अत कवि ने प्रकृति मे सर्वत्र चेतना के दर्शन किए है और इसी कारण उसे रजनी आँसू बहाती हुई, यमुना शोक प्रकट करती हुई, चन्द्र मुस्कराता हुआ, सूर्य मारे लाज के छिपता हुआ, वृक्ष और लताये रुदन करते हुए आदि दिखाई दिये है । निस्सदेह 'प्रियप्रवास' का मानवीकरण रूप मे प्रकृति-चित्रण अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है ।

लोक-शिक्षा रूप मे—प्राकृतिक परिवर्तनो एव प्रकृति के उत्थान व पतन आदि के द्वारा जनसाधारण को शिक्षा देने का कार्य प्राय: सभी महाकवियो ने किया है । प्रकृति के द्वारा जितनी सरलता एव स्पष्टता से किसी को उपदेश दिया जा सकता है, उतना अन्य किसी द्वारा सभव नही, क्योकि प्रकृति के इन परिवर्तनो को सभी व्यक्ति दिन-रात देखते रहते है और मानव-जीवन का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध भी है । इसलिए जो-जो बाते प्रकृति मे दिखाई देती है, उन्हे बताकर कविजन मानव को सचेत एव सावधान किया करते हैं । गोस्वामी तुलसीदास का वर्षा-वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है, क्योकि वहाँ महाकवि गोस्वामी ने वर्षाकालीन विभिन्न दशाओ, परिस्थितियो एव प्राकृतिक परिवर्तनो द्वारा सर्वसाधारण को बडी ही सरलता से सदुपदेश दिये है ।[२] यही बात शरद ऋतु के वर्णन मे भी है । वहाँ पर भी कवि ने "जल सकोच विकल भइँ मीना । अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना" अथवा "चक्रवाक मन दुख निसि पेखी । जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी ।"[३] आदि कहकर पर्याप्त उपदेश दिये है । कविवर हरिऔध जी ने भी लोक-शिक्षा के लिए प्रकृति का उपयोग किया है । जैसे, बेर का वृक्ष अपने काँटो से स्वय विदीर्ण होकर इस बात की ओर सकेत कर रहा था कि बुरे अग वाले प्राय. अत्यन्त कष्टदायक होते है ।[४] इसी तरह आँवले का वृक्ष कच्चे फल से लदकर तथा अपने चचल पत्तो को हिलाता हुआ इस बात की सूचना दे रहा था कि चचल स्वभाव वाले उतावले व्यक्तियो की करतूतें ऐसी ही स्थिरता-विहीन होती है और उन्हे बहुधा अपनी चचल-करतूतो के कारण परिपक्क फल भी

---

१ प्रियप्रवास ९।३०–५८

२. किष्किधा कांड दोहा १४ से १५ तक

३ वही—दोहा १६ से १७ तक

४ कु-अंगजों की बहु-कष्टदायिता । बता रही थी जन नेत्रवान को ।
स्व-कटकों से स्वयमेव सर्वदा । विदारिता हो बदरी-द्रुमावली । ९।४३

नहीं मिलता अथवा पूर्ण सफलता प्राप्त नही होती ।[1] इसी तरह की बहुत सी उपदेशात्मक एव शिक्षाप्रद बातो को कवि ने प्रकृति के माध्यम द्वारा व्यक्त किया है । कवि का यह प्रकृति-चित्रण भी विशद एव सरस है और सर्वसाधारण के जीवन को उन्नत एव विशाल बनाने की चेष्टा से परिपूर्ण है । कवि का प्रमुख उद्देश्य भी यही है कि प्रकृति की विभिन्न शिक्षाप्रद बातो का उद्घाटन करके जनसाधारण को अपनी भूलो, त्रुटियो एव दुर्बलताओ से अवगत कराया जाय और नैतिकता एव सदाचार के मार्ग पर अग्रसर किया जाय । कहने की आवश्यकता नही कि कवि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे यहाँ सर्वथा सचेत एव सावधान दिखाई देता है ।

दूती रूप मे—प्रकृति-चित्रण की यह परिपाटी भी अत्यत प्राचीन है । कवि-कुल-गुरु कालिदास का 'मेघदूत' इसका ज्वलन्त प्रमाण है । इसी के अनुकरण पर आगे चलकर धोयिक का पवनदूत तथा हसदूत, पदाकदूत, कोकिल-दूत आदि कितने ही काव्य लिखे गये । इनके अतिरिक्त काग, कबूतर, हम, बानर, कोकिल, भ्रमर, आदि को दूत बनाकर अपने प्रियतम या अपनी प्रियतमा के पास सदेश भेजने की प्रथा का उल्लेख भी सस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के प्राचीन काव्यो मे मिल जाता है । हरिऔध जी ने भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते हुए पवन द्वारा राधा का सदेश कृष्णजी के पास भेजने का वर्णन किया है । वह पहले तो उस प्रात.कालीन शीतल पवन पर रुष्ट होती हैं, क्योकि वह विरहिणी राधा को व्यथित बनाती हुई उसके सम्पूर्ण शरीर मे आग सी लगा देती है । परन्तु फिर राधा उसी शीतल पवन को अपना संदेशा लेकर मधुवन मे श्रीकृष्णजी के पास भेजती है, उसकी बडी प्रशसा करती है और जैसे दूत या दूती को सिखाया-पढाया जाता है, उसी तरह खूब सिखा-पढा कर एव नाना प्रकार की युक्तियाँ समझाकर अपना सदेश ले जाने की विनय करती है । प्राय· होता भी यही है कि ससार मे जिससे काम निकालना होता है, उसकी चापलूसी भी की जाती है । इसीलिए राधा यहाँ पवन की चापलूसी करती हुई यही कहती है कि "तू सभी स्थानो पर जाती रहती है, । तू बडी वेगवाली है, । तू बडी ही सीधी, तरल हृदयवाली तथा तापो को नष्ट करने वाली है । मुझे तेरा बडा भरोसा है । अरी बहिन !

---

१ **विखा फलों की बहुधा अपक्वता । स्वपत्तियों की स्थिरता-विहीनता ।**
बता रहा था चल चित्तवृत्ति के । उतावलों की करतूत आंवला ।।६।३२

जैसे बने वैसे मेरी बिगडी हुई बात को बनादे ।"[1] इस तरह कवि ने इस पवन को दूती के रूप मे चित्रित करते हुए उसे मथुरा मे श्रीकृष्ण के पास विरहिणी राधा का विरह-जन्य वेदना से भरा हुआ सदेश लेकर जाता हुआ अंकित किया है ।[2] इतना ही नही कवि ने आगे चलकर कोयल को भी दूती बनाकर भेजने का वर्णन किया है । एक विरहिणी गोपी कुज मे कूकती हुई कोकिल के पास आकर यही कहती है कि तू मुझे अपनी कूक द्वारा क्यो व्यथित कर रही है । किन्तु जान पडता है कि तू भी मेरे प्रियतम कृष्ण के विरह के कारण मलिन, कातर एव दुखी होकर अधीर स्वर मे बोल रही है । इसलिए तू तुरन्त मथुरा चली जा और अपने इस 'स्व-वेधी-स्वर' को प्रियतम को जाकर सुना, जिससे वे भी वियोग की कठोरता, व्यापकता एव गभीरता से परिचित हो जायँ ।"[3] इसी तरह वह विरहिणी आगे चलकर यमुना के किनारे खडी होकर अत्यत व्यथित होती हुई यमुना को भी श्रीकृष्ण के समीप अपना व्यथापूर्ण सदेश लेकर जाने का आग्रह करती है । वह कहती है कि "तू बडी ही तेज बहती चली जा रही है । अरी यमुने ! देख, तेरे तट पर आकर मेरे पति कृष्ण बडे ही भावो से युक्त होकर नित्य प्रति घूमा करते हैं । एक दिन उनको प्राप्त करके अपनी कल-कल ध्वनि द्वारा मेरी सारी व्यथाओ को बडे प्रेम के साथ जी से उन्हे सुना देना ।"[4] इस तरह कवि ने

---

१ तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है ।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है ।
मै हूँ जी मे बहुत रखती वायु तेरा भरोसा ।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बनादे ।६।३५

२ प्रियप्रवास ६।३३–८२

३ नहीं-नहीं है मुझको बता रही । नितान्त मेरे स्वर की अधीरता ।
वियोग से है प्रिय के तुझे मिली । अवांछिता, कातरता, मलीनता ।
अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा । सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को ।
अभिज्ञ वे हो जिससे वियोग की । कठोरता, व्यापकता, गंभीरता ।
—१५।६६-१००

४ तव तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे ।
पुलकित बन भावो मे पगे घूमते हैं ।
यक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना ।
कल-ध्वनि-द्वारा सर्व मेरी व्यथायें । १५।१२४

पवन, कोकिल, यमुना आदि के द्वारा सदेश भेजने का वर्णन करते हुए प्रकृति के दूती रूप का अत्यत भव्य एव चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

साराश यह है कि हरिऔध जी ने प्रकृति-चित्रण की समस्त प्रचलित पद्धतियो का प्रयोग करते हुए प्रकृति के नाना रूपो की भव्य झाँकी अकित की है, उसके चेतन एव अचेतन विभिन्न पदार्थो का दिग्दशन कराया है और उसके मानवोचित व्यापारो, चेष्टाओ, हलचलो आदि का उल्लेख करते हुए प्रकृति की अन्तर्बाह्य झलक दिखाने की सुन्दर चेष्टा की है। परन्तु कवि का यह प्रकृति-चित्रण परम्परागत है, उसमे हृदय की तल्लीनता, स्वाभाविकता एव भावुकता का अभाव है। ऐसा कही नही जान पडता कि कवि प्रकृति मे रम गया हो। वह प्रकृति की झाँकी प्राय कल्पना के सहारे ही अकित करता है, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार नही दिखाई देता, अन्यथा वह ब्रज की मनोरम छटा अकित करते हुए वहाँ के प्रसिद्ध पौधे करील को न भूल जाता। रसखान कवि तो "कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुजन ऊपर वारौ" कहकर करील के ऊपर इतने लट्टू दिखाई देते है, परन्तु हरिऔध वृन्दावन की वनस्थली मे लौग-इलायची के वृक्षो को तो देख लेते है, परन्तु वहाँ पैड-पैड पर खडे करील उन्हे दिखाई नही देते। ऐसा जान पडता है कि कवि कभी ब्रजभूमि मे नही पधारे थे। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने आगे चलकर अपने इस दोष का परिमार्जन कर लिया है और "करील है कामद कल्प-वृक्ष से"[1] कह कर करील को कल्प-वृक्ष के समान बताते हुए ब्रज मे उसकी उपस्थिति का वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त कवि ने "काँटे से कमनीय कुज कृति मे क्या है न कोई कमी"[2] कहकर कमल मे भी काँटे उगा दिये है, जबकि कमल प्राय कटक हीन ही होता है और गुलाब मे काँटे होते हैं। कवि का यह कथन भी उसके प्रकृति-सबधी ज्ञान की अपूर्णता का द्योतक है। अतः यही जान पडता है कि कवि ने तत्कालीन प्रचलित पद्धतियो का पालन करते हुए प्रकृति के विभिन्न रूपो का वर्णन तो अवश्य किया है, परन्तु वे प्रकृति के अन्त स्थल मे रम नही सके है। उन्हे प्रकृति और मानव की चेष्टाओ मे विम्ब-प्रतिविम्ब भाव तो दिखाई दिए है, परन्तु उन भावो के वर्णन मे कवि उतना सफल नही दिखाई देता, जितने कि प्रसाद, पत आदि छायावादी कवि आगे चलकर सफल हुए है। फिर भी कवि ने प्रकृति के विराट रूप का दर्शन

---

१ प्रियप्रवास १५।६५

२ वही ४।२०

करते हुए उसे अपनी भावनाओ का आवरण पहनाकर अत्यत विशद एव व्यापक रूप मे चित्रित किया है और उनका यह चित्रण आगामी छायावादी कवियो के लिए अधिकाधिक मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है।

(४) युग-जीवन का चित्रण—हरिऔध जी ने अपने युग की परिस्थितियो, मान्यताओ एव आन्दोलनो का भली प्रकार अध्ययन किया था। वे एक जागरूक कलाकार की भाँति उन सभी हलचलो को अपनी कला के माध्यम से समय-समय पर व्यक्त भी करते रहते थे। सरस्वती आदि पत्रिकाओ मे प्रकाशित उनकी रचनाये इसकी ज्वलन्त प्रमाण है, जिनके सग्रह चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि के नाम से आगे चलकर प्रकाशित हुए, जिन्हे पढकर एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है कि कवि को अपने युग की दुर्बलताओ, विषमताओ, विभीषिकाओ एव त्रुटियो का कितना पता है और वह कितना सजग एव सचेत होकर उन्हे दूर करने के लिए प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। उस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सुधारवाद का बोलबाला था। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थिसोसफीकल सोसाइटी आदि सस्थाये जन-साधारण के हृदयों मे पारस्परिक मनोमालिन्य, ऊँच-नीच, भेद-भाव, छूआ-छूत आदि की भावनाओ को दूर करके सहृदयता, एकता, सेवा, समानता, मानवता, विश्व-बधुत्व आदि का प्रचार कर रही थी। युग के इन समस्त सास्कृतिक विचारो का उल्लेख विस्तार-पूर्वक आगामी अध्याय मे किया जायगा। यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त है कि कवि हरिऔध भी युग के इन विचारो से पूर्णतया प्रभावित हुए थे। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' मे स्थान-स्थान पर इन विचारो की झाँकी विद्यमान है। इसी कारण उन्होने श्रीकृष्ण के जीवन का ऐसा चित्र अकित किया है, जिसमे वे प्राणिमात्र से प्रेम करने वाले, अपने से छोटे या बडे सभी खिन्न एव दुखी जनो की सेवा करने वाले, समाज मे होने वाले कलह या शुष्क विवादो को मिटाने वाले, किसी बली द्वारा निर्बल को सताते हुए देखकर उस निर्बल की रक्षा करने वाले, सभी से विनम्रता के साथ मिलने वाले और सभी का कल्याण चाहने वाले दिखलाये गये है।[१] इस युग मे सबसे

१ बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी। छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यत प्यार दिखला मिलते सबो से। वे थे सहायक बडे दुख के दिनो के।
× × × ×
रोगी दुखी विपद आपद मे पड़ो की। सेवा सदैव करते निजहस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज मे न मुझे दिखाया। कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।।
१२।८०-८७

अधिक विश्व-बंधुत्व अथवा विश्व-प्रेम के बारे मे सभी सस्थाओ ने प्रचार किया था। सच पूछा जाय तो विश्व-प्रेम का सच्चा आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही 'प्रियप्रवास' का निर्माण हुआ है। यहाँ श्रीकृष्ण स्वकीय कार्यों द्वारा विश्व-प्रेम एव विश्व-बधुत्व का ही सच्चा आदर्श उपस्थित करते हैं।[1] राधा जी भी विश्व-प्रेम मे लीन होकर ससार के सभी प्राणियो एव पदार्थो मे श्रीकृष्ण के रूप की झाँकी देखती है और उन्हे हृदय से प्यार करती है।[2] इसके अतिरिक्त इस युग मे लोक-हित एव लोक-सेवा की ओर भी अधिक झुकाव रहा। सभी धार्मिक एव राजनीतिक सस्थाये लोकहित एव लोक-सेवा को महत्व देते हुए प्राणियो मे समता, एकता, सगठन आदि का प्रचार करती थी। 'प्रियप्रवास' मे भी कवि ने सबसे अधिक महत्व इस लोकहित को दिया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण दिन रात जगत-हित मे ऐसे लीन रहते है कि उसके सामने समस्त स्वार्थ एव विपुल सुख भी उन्हे तुच्छ जान पडते है और वे हृदय की सैकडो लिप्साओ से भरी हुई लालसाओ को भी योगियो के समान दमन करके सदैव लोक-सेवा मे लगे रहते है।[3] यही बात राधा जी के अतर्गत भी दिखाई देती है। वे भी दिनरात ब्रज के सतप्त एव व्यथित जनो को सात्वना देने के लिए नाना प्रकार के सेवा-कार्यो मे लीन रही आती है और अपने सेवा-भाव एव लोकहित के कारण ही उन्हे समस्त ब्रज देवी की तरह पूज्य समझता है।[4]

---

१ वे जी से हैं अवनिजन के प्राणियो के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा। १४।२१

२. पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों मे।
जो प्यारे को अमित रँग औ रूप मे देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा। १६।१०५

३. स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आजाता जगत-हित है सामने लोचनो के।
हैं योगी सा दमन करते लोक-सेवा निमित्त।
लिप्साओं से भरित उर की सैकड़ो लालसायें। १४।२२

४. संलग्ना हो विविध कितने सांत्वना कार्य में भी।
वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध-रोगी-जनों की।
दीनों, हीनों, निबल विधवा आदि को मानती थीं।
पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवियों सी अतः थी। १७।४६

इस युग मे सबसे अधिक धार्मिक सकीर्णता को दूर करके उदारता, विशालता, सभी धर्मो के प्रति प्रेम एव सहिष्णुता का प्रचार मिलता है। इस प्रचार के कारण एक ओर तो धार्मिक मान्यताओ मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ और दूसरी ओर अधविश्वास एव अध-परम्पराओ का उच्छेद करके उनके स्थान पर नवीन युग के नवीन विश्वासो, नई मान्यताओ, पूजा-आराधना के नये-नये साधनो एव सर्वत्र एक ही ईश्वर के दर्शन की भावना को महत्व देने के प्रयत्न भी हुए। इस प्रकार के प्रचार एव इन प्रयत्नो के कारण जनसाधारण के विश्वासो मे भी एक नवीन क्रान्ति की लहर दौड गई थी, वे अपनी प्राचीन मान्यताओ को छोडकर बहुत कुछ अशो मे नवीन विचारो से सहमत होने लगे थे और इसी कारण भक्ति-भावना, आराधना, पूजा आदि की पद्धतियो मे भी विचारों की दृष्टि से परिवर्तन आने लगा था। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने युग की इसी धार्मिक मनोवृत्ति की झलक दिखाते हुए पहले तो सर्वत्र व्याप्त एक ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करने का उल्लेख किया है, पुन: नये ढग से नवधा भक्ति का निरूपण किया है, जिसमे श्रवण, कीर्तन, वदन, स्मरण आदि भक्ति के प्राचीन साधनो को नया रूप देते हुए सच्छासनो एव दीन-दुखी प्राणियो की पुकार सुनने को श्रवण, मानवोचित दिव्यगुणो का गायन करना ही कीर्तन, विद्वान् तेजस्वी पुरुषो के सम्मुख नत-मस्तक होना ही वदन तथा अच्छे-अच्छे कार्यो एव दूसरो के हृदय की पीडा को याद करना ही स्मरण नाम की भक्ति बताया है।[1]

इसके साथ ही कवि ने आधुनिक युग के तत्कालीन राजनीतिक जीवन की ओर भी सकेत किया है। इस युग मे हिंसा को निंद्य कर्म कहकर अहिसा को अत्यधिक महत्व दिया गया था और मनुष्य क्या, किसी चीटी तक का बध करना बुरा माना जाता था, परन्तु कवि पूर्णतया इस विचार से सहमत नही है। उसकी दृष्टि मे अहिंसा का पालन करना वैसे तो ठीक है, परन्तु जब कोई प्राणी समाज को पीडा पहुँचाये, धर्म्म मे विप्लव उपस्थित करे, मानवो का द्रोही हो अथवा कुकर्मो द्वारा जनता को कष्ट दे रहा हो तो ऐसे प्राणी को क्षमा न करके उसका बध करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे प्राणी के बध मे कोई पाप नही लगता, अपितु इससे जनता का कल्याण होता है। इसी कारण कवि ने अहिंसा का पालन करके हाथ पर हाथ रखकर बैठना या चाँटा मारने वाले के सामने अपना दूसरा भी गाल कर देना उचित

१. 'प्रियप्रवास' १६।११२-१२६

नही समझा है, बल्कि 'शठ शाठ्यं समाचरेत्' के सिद्धान्त को जन-कल्याणकारी माना है।[1]

उक्त सभी आधारो पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' मे तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो, हलचलो एव मान्यताओ की पर्याप्त झलक विद्यमान है और कवि ने अपने युग के नवीन विचारो को प्राचीन पौराणिक कथा के अतर्गत भरकर पुरातन चरित्र-नायक एव नायिका को अलौकिक गुणो एव दिव्य कार्यों से ओत-प्रोत न दिखाकर मानवीय गुणो से सुशोभित दिखाया है, जिसमे आधुनिक युग की बौद्धिकता, अध-परम्परा का उच्छेद, प्राचीन रूढियो का विनाश एव नवीनता के प्रति उत्कट लालसा विद्यमान है। अपने इन युग-परिवर्तनकारी विचारो के कारण ही 'प्रियप्रवास' का हिन्दी-साहित्य मे अत्यत महत्व है। इस महाकाव्य ने ही सर्वप्रथम नवीनता की घोषणा करके हिन्दी के प्रसुप्त कवियो को युग के परिवर्तनशील विचारो को अपनाकर महाकाव्य के क्षेत्र मे पदार्पण करने के लिए आह्वान किया है और अपने इन युगान्तरकारी विचारो को अपनाने के कारण ही 'प्रियप्रवास' कवि का प्रारभिक प्रयास होते हुए भी महाकाव्यो की श्रेणी मे गणना करने योग्य है।

(५) **भाव एव रस-व्यजना**—'प्रियप्रवास' मे विप्रलम्भ शृगार की सबसे अधिक व्यजना हुई है। साधारणतया शृगार रस के दो भेद माने गये है—विप्रलम्भ और सभोग। विप्रलम्भ शृंगार वह कहलाता है, जहाँ नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ रहता है, किन्तु परस्पर मिलन नही हो पाता, इसे वियोग शृगार भी कहते है और सभोग शृगार वह कहलाता है, जो नायक-नायिका को परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि की अनुभूति प्रदान करता है। इसे सयोग शृगार भी कहते है। विप्रलम्भ शृगार के मुख्यतया चार भेद माने गये है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय रूप-सौदर्य आदि के श्रवण या दर्शन से परस्पर

---

१ **अवश्य हिंसा अति निंद्य कर्म है। तथापि कर्त्तव्य-प्रधान है यही।**
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से। वसुधरा में पनपें न पातकी।
समाज उत्पीडक धर्म-विप्लवी। स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुंज का। न है क्षमा-योग्य वरंच वध्य है।
१३।७८-८०

अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा से है जो कि उनके समागम के पहले उत्पन्न होती है । इस पूर्वराग को तीन प्रकार का माना गया है—नीलीराग, कुसुम्भ-राग और मजिष्ठा-राग । जो अनुराग बाहर तो दिखाई देता नही, किन्तु हृदय मे कूट-कूट कर भरा रहता है उसे 'नीलीराग' कहते है। जिस अनुराग मे बाहरी चमक-दमक तो पर्याप्त हो, किन्तु वह हृदय मे न हो, उसे 'कुसुम्भ-राग' कहते है और जो राग हृयय मे भी हो तथा बाहरी दिखावे मे भी आ जाये उसे मजिष्ठा-राग कहते है । दूसरे मान-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे अकारण कोप से है जो प्रेमी-प्रेमिका के हृदय मे प्रेम के भरे रहने पर भी किसी कारणवश हो ~~जाता~~ है । तीसरे, प्रवास-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे वियोग से है, जो किसी कार्यवश, शापवश अथवा सभ्रमवश नायक के देशान्तर-गमन के कारण होता है और चौथे करुण-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे वियोग से है, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका मे से किसी एक के मर जाने पर, किन्तु पुन जीवित हो सकने की अवस्था मे, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकपूर्ण रतिभाव की व्यंजना होती है ।[1] इन चारो प्रकार के विप्रलम्भ शृगारो मे से 'प्रियप्रवास' मे प्रमुख रूप से 'प्रवास' नामक तृतीय प्रकार के दर्शन होते है, क्योकि यहाँ पर नायक श्रीकृष्ण के गमन पर राधा, गोपी, यशोदा आदि के हृदय मे उत्पन्न वियोग का वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त अन्य रस एव भाव भी यथास्थान वर्णित है ।

संयोग शृङ्गार--'प्रियप्रवास' मे हमे सर्वप्रथम सभोग या सयोग शृगार की मनोरम झाँकी मिलती है । सध्याकालीन अरुणिमा ने गोकुल ग्राम की जनता के हृदय को अनुराग की जिस लालिमा से अनुरजित कर दिया है, उसमे सयोग शृगार की अद्भुत छटा विद्यमान है। उस क्षण सारा गोकुल ग्राम कृष्ण के प्रेम मे लीन होकर उनकी छलकती हुई रूप-माधुरी, छिटकती हुई तन की श्याम आभा, रस बहाती हुई मधुवर्षिणी-मुरलिका, अमृतमयी मधुर मुस्कान, हृदयहारिणी लोचनो की रमणीयता आदि मे विमुग्ध दिखाई देता है । गोकुल ग्राम की सम्पूर्ण जन-मडली तृषित चातक की भाँति अपने घनश्याम की अद्भुत छटा निहारने मे मग्न दिखाई देती है, उनके नेत्रो पर पलक नही पडते ,उनके शरीर का लोम तक नही हिलता और सम्पूर्ण गोपियाँ कृष्ण के सौदर्य मे ऐसी लीन हो जाती है कि वे पत्थर की मूर्ति जैसी बनकर

---

१. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद १८६–२०६

एक टक सयोग रस का पान करती हुई जान पडती है ।[1] इस तरह हरिग्रौध जी ने 'प्रियप्रवास' के प्रारम्भिक सर्ग मे सयोग शृगार की मार्मिक व्यजना करते हुए मिलन-सुख का एक ऐसा ग्रद्भुत चित्र ग्रकित किया है, जो ग्रागामी वियोग शृगार के लिए पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा है ग्रौर जिसके कारण वियोग का रग ग्रौर भी ग्रधिक गहन-गम्भीर हो गया है ।

वात्सल्य—साहित्य-शास्त्र मे वात्सल्य को रस न कहकर एक भाव मात्र माना गया है, क्योंकि वहाँ नायक-नायिका-सम्बन्धी रति को तो शृङ्गार रस माना गया है, जबकि देवता, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य ग्रादि से सम्बन्धित रतिभाव या प्रीति को केवल भाव माना गया है ।[2] इसी पुत्र विषयक रति को वात्सल्य कहते है । परन्तु सूरदास ने इसी पुत्र विषयक रति का इतना मर्मभेदी एव मनमोहक वर्णन किया है कि वहाँ वात्सल्य भाव मात्र से ऊपर उठकर स्थायी रूप धारण करता हुग्रा रस की कोटि मे पहुँच गया है । हरिग्रौध जी ने भी 'प्रियप्रवास' मे सयोग के उपरान्त वियोग का वर्णन दो रूपो मे किया है—(१) वात्सल्य के रूप मे तथा (२) विप्रलम्भ शृगार के रूप मे । यहाँ पर सर्वप्रथम कवि ने इस वात्सल्य का ग्रत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन किया है । तृतीय सर्ग मे नन्द ग्रौर यशोदा की ग्राशकाग्रो के वर्णन मे पहले तो इस वात्सल्य का सूक्ष्म भावरूप मे ही दर्शन होता है, क्योंकि यहाँ माता यशोदा ग्रपने लाडले कुवर के लिए उसी प्रकार सशकित एव व्यथित दिखाई दे रही है, जिस प्रकार एक माता शत्रु के समीप जाते हुए ग्रपने पुत्र के बारे मे सोचकर होती है । परन्तु यह वात्सल्य सप्तम सर्ग मे ग्राकर ग्रपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ नद बाबा के ग्रकेले ही मथुरा से लौट कर ग्राने पर यशोदा माता ग्रपने प्राण प्यारे पुत्र कृष्ण के लिए ग्रत्यत व्याकुल होकर विलाप करती हुई दिखाई देती है । यशोदा के उस विलाप मे कितनी करुणा, कितनी कसक, कितनी वेदना एव कितनी टीस भरी हुई है कि उसे

---

१ मुदित गोकुल की जनमडली । जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी । तृषित-चातक ज्यों घन की घटा ।
पलक लोचन की पड़ती न थी । हिल नहीं सकता तन-लोम था ।
छवि-रता बनिता सब यो बनी । उपल निर्मित पुत्तलिका यथा ।

१।२६–२७

२. रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावः प्रोक्तः ।

काव्य प्रकाश ४।३५

सुनकर पाषाण हृदय भी पिघल जाता है।[1] इतना ही नही जिस क्षण उस माता की विलाप-कलाप भरी वह मार्मिक ध्वनि सुनाई पडती है, जहाँ वह अपने अतुल धन, वृद्धता के सहारे, प्राणो के परमप्रिय, शोभा के सदन और एक मात्र लाडिले बेटे के लिए रोती-रोती मूर्छित हो जाती है, वहाँ उस माता का वात्सल्य करुणा का रूप धारण करके हठात् पाठको के हृदय मे शोक, विषाद सताप, अधीरता आदि को जागृत करता हुआ हृदयो मे एक सिहरन सी पैदा कर देता है।[2] उसकी अतिम पक्ति "हाँ! बेटा हा! हृदय धन धन हा! नेत्र तारे हमारे" मे कितना दुलार, कितना प्यार एव कितना स्नेह भरा हुआ है कि मानो माता का हृदय ही शब्दो के रूप मे प्रकट हो गया हो। इस वात्सल्य के मनोहारी रूप को दशम सर्ग मे और भी गभीरता के साथ देखा जा सकता है, जहाँ यशोदा माता उद्धव के सम्मुख अपने हृदयोदधि का दिग्दर्शन कराती हुई अपनी व्यथा-कथा सुनाती है। अपने लाडले कुँवर का मार्ग देखते-देखते और रोते-रोते इस दुखिया मा की आँखो की ज्योति जाती रही है और सवाद सुनते-सुनते उसके श्रवण-पुट पूर्ण हो चुके है, परन्तु फिर भी उसे अपने लाल को देखने की उत्कट अभिलाषा है और उसकी प्यारी-प्यारी मधुर बातें सुनने की तीव्र उत्कठा है।[3] वह यहाँ अपने प्रिय-पुत्र के स्वभाव की सरलता, क्रीडाओ की मनोहारिता, बोलने की मधुरता, खान-पान की रुचि, राधा एव गोपियो के प्रेम की सरसता, अपने दुर्भाग्य की कठोरता, कृष्ण के विभिन्न जन-हित-कारी कार्यो की कुशलता आदि का वर्णन करती हुई अपने हृदय मे स्थित उस वात्सल्य की सरिता को इस तरह बहा देती है कि उद्धव जैसे ज्ञान के दृढ पर्वत भी उस वात्सल्य-सरिता मे बहने लगते है और उनके हृदय पर इस वियोगपूर्ण वात्सल्य की छाप सदैव के लिए अकित हो

---

१ प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।।
अबतक जिसको मै देख के जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है।।७।११

२ हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्यवाले।
हा! बेटा हा! हृदयधन हा! नेत्र तारे हमारे।। ७।५६

३ प्रियप्रवास १०।१४-१६

जाती है।[1] इस तरह यहाँ कवि ने वात्सल्य भाव का अत्यन्त मार्मिक निरूपण किया है, परन्तु उसमे सूरदास के वात्सल्य-वर्णन जैसी गहनता, विविधता एव विवरणात्मकता के दर्शन नही होते। अत. यहाँवात्सल्य अपना स्वतत्र अस्तित्व गँवाकर वियोग की पुष्टि करता हुआ करुणा की सरिता मे ही घुलमिल गया है।

विप्रलम्भ शृगार—विप्रलम्भ शृगार के बारे मे पहले ही बताया जा चुका है कि 'प्रियप्रवास' मे प्रवास-जन्य विप्रलम्भ-शृगार या वियोग के दर्शन होते है। यह विप्रलम्भ-शृगार यहाँ दो रूपो मे वर्णित है—(१) राधा के विरह-निरूपण और (२) गोपियो के विरह-निरूपण मे।

(१) **राधा का विरह निरूपण**—विप्रलम्भ शृगार का सर्वप्रथम वर्णन चतुर्थ सर्ग मे राधा के विरह-निरूपण मे मिलता है। कृष्ण के मथुरा गमन की सूचना पाते ही यह प्रफुल्लित बालिका अनायास मलिन एव खिन्न हो जाती है, उसका अनुपम सौदर्य फीका पड जाता है और उस 'क्रीडा-कला पुत्तली' की समस्त रसमयी क्रीडाये रुक जाती है। अब उसकी कमनीय कान्ति दृष्टि-उन्मेषिनी नही रहती, उसकी मजु-दृगता उन्मत्ताकारिणी नही रहती, उसकी मुग्ध मुसकान की मधुरिमा लुप्त हो जाती है और वह आनद-आदोलिता युवती सुमना, प्रसन्नवदना न रह कर निरतर खिन्ना-दीना एव छिन्नामूला लताकी भाँति सौदर्यहीना दिखाई देने लगती है। इस क्षण उसके हृदय मे न जाने कहाँ से ऐसी कसक, ऐसी पीडा अथवा ऐसी वेदना घर कर लेती है कि उसका सारा शरीर प्रतिक्षण काँपता रहता है, उसकी भाग्य-गति पलट जाती है और उसे सारा जगत् शून्य दिखाई देने लगता है। इस समय उसे आकाश मे टिमटिमाते तारे भी ठिठककर सोच मे पडे हुए जान पडते है, टूटते हुये तारे किसी दिल जले के शरीर के पतन के रूप मे दिखाई देते है और उसे सर्वत्र शोक, विषाद, भय आदि छाये हुए प्रतीत होते है।[2] इतना ही नही उस विरह-व्यथिता राधा को उषा की लालिमा भी किसी कामिनी के बहते हुए रुधिर के रूप मे जान पडती है, पक्षियो का कलरव व्यथा-पूर्ण चीत्कार मालुम पडता है और वह सूर्य को आग का एक ऐसा गोला समझने

---

१. **विबुध ऊधव के गृह-त्याग से। परिसमाप्त हुई दुख की कथा।**
पर सदा वह अंकित सी रही। हृदय-मंदिर में हरि-मित्र के।।
१०।६७

२. **प्रियप्रवास ४।२२-४८**

लगती है, जो अब उदय होकर सम्पूर्ण ब्रज-भूमि को जलाकर राख कर देगा।[1] उस दुखिया का मुख-कमल सूख जाता है, होठ नीले पड जाते है, दोनो आँखे आँसुओ मे डूब जाती है, नाना प्रकार की शकाये उसके कलेजे को कम्पित करने लगती है और वह अत्यन्त मलिन एव खिन्न होकर उन्मनी सी हो जाती है।[2] इस प्रकार सर्वप्रथम हमे विरहिणी राधा अत्यत शोक-सतप्त एवं विरहाग्नि मे झुलसी हुई एक मुरझाई हुई कली के रूप मे दिखाई देती है।

इस विरहिणी राधा का पुन. साक्षात्कार षष्ठ सर्ग मे होता है, जहाँ यह पुन रो-रो कर अत्यत चिन्ताओ मे निमग्न होती हुई अपने दिन व्यतीत करती दिखाई देती है। इस समय इसकी वेदना अत्यत बढी हुई है और कृष्ण से मिलने की उत्कठा भी अत्यत तीव्र दिखाई देती है। इसी कारण यह विरहिणी जैसे ही प्रातःकालीन मधुर पवन का स्पर्श करती है वैसे ही इसकी वेदना द्विगुणित हो उठती है और यह उस पापिष्ठा पवन की अच्छी तरह भर्त्सना करती है। परन्तु फिर यह विरहिणी बाला उस पवन को ही अपनी दूती बनाकर मथुरा मे श्रीकृष्ण के पास अपना सदेश लेकर भेजती है।[3] यहाँ राधा मे विरह-व्यथा की अपेक्षा नीति-कौशल एव स्त्रियोचित स्वाभाविक चतुरता, मिलन की युक्तियाँ जानने की क्षमता, वाक्पटुता अथवा युक्ति-निपुणता आदि के दर्शन होते है। राधा ने पवन को अपना सदेश सुनाने के लिए जो-जो अद्भुत युक्तियाँ सुझाई है, उनमे राधा का विरहिणी रूप खो जाता है और वह एक अभिसारिका अथवा चतुर रमणी से अधिक और कुछ नही

---

१. क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
    वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
  विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे है।
    सखि ! सकल दिशा मे आग सी क्यों लगी है।
  सब समझ गई मै काल की क्रूरता को।
    पल-पल वह मेरा है कलेजा कँपाता।
  अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
    सकल ब्रज-धरा को फूँक देता जलाता। ४।४६-५०

२. प्रियप्रवास ४।२२

३. वही ६।३३-८२

दिखाई देती। उसे हम इस क्षण न तो भ्रान्ता नारी कह सकते है और न व्यथा-वर्द्धिता उद्विग्न विरहिणी, क्योकि उसकी दशा मे उतनी गहराई एव उतनी कसक नही है, जितनी मेघदूत के यक्ष अथवा जायसी की नागमती मे है। इस विरहिणी मे वियोग सबधिनी वे समस्त काम दशाये भी नही दिखाई देती, जिनका आभास सूर की राधा मे मिलता है। यहाँ केवल चिन्ता और गुण-कथन का उल्लेख अवश्य स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण के गुणो का निवेदन करते समय मिल जाता है,[१] परन्तु अन्य अवस्थाये भली प्रकार उभर कर ऊपर नही आसकी है। इसी से यहाँ पाठको का हृदय विरह के मर्मस्पर्शी प्रभाव से उद्वेलित नही होता तथा उसके स्थायी विरह से सहृदयो का हृदय भी उतना आन्दोलित नही होता जितना सूर की राधा के विरह-निवेदन से हो उठता है।

इस विरहिणी नायिका के उज्ज्वल रूप की तृतीय झाँकी उद्धव के साथ वर्त्तालाप करते समय षोडश सर्ग मे होती है, जहाँ यह अपनी अन्य पूर्ववर्ती विरहिणी-नायिकाओ से कही अधिक करुणा, उदारता, सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि उदात्त भावो से ओतप्रोत दिखाई देती है और अपने इन दिव्य गुणो के कारण उनसे कही अधिक महान एव श्रेष्ठ जान पडती है। यहाँ वह न तो जयदेव एव विद्यापति की राधा की तरह कुसुमाकर के बाणो से बिद्ध होकर विलास-कामना के अपूर्ण रहजाने पर व्यथित एव बेचैन दिखाई देती है और न सूर, नददास आदि कृष्णभक्त कवियो की राधा के समान रात दिन आँसू की नदी बहाती हुई "हा कृष्ण! हा कृष्ण!" की रट लगाती रहती है। इतना ही नही यहाँ वह न तो जायसी की विलासिनी नागमती की तरह अपने प्रियतम से मिलने के लिए प्रत्येक ऋतु मे तडपती हुई दिखाई देती है और न साकेत की उर्मिला की भाँति रात दिन करवटें बदलती हुई अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती है, अपितु यहाँ पर राधा विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री एव करुणा की उदार मूर्ति के रूप मे दिखाई देती है। वह उद्धव के मुख से अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण का चिर स्नेह, चिर प्रणय एव चिर प्रेम से भरा हुआ सदेश सुनकर अपने प्रियतम को विश्व के कण-कण मे व्याप्त देखने लगती है। उसे नभ के तारो, सरोवर के कमलो, सध्या की लालिमा, प्रभात की उषा, वर्षा के सजल घन, कुजो के भ्रमर, उपवनो के दाडिम, विम्बा, केला आदि मे सर्वत्र श्रीकृष्ण की मनोरम रूप-माधुरी के दर्शन होने लगते है और वह प्राणि-मात्र मे अपने प्रियतम के स्वरूप को देखने लगती है। वह विरहिणी

---

१. **प्रियप्रवास ६।५८-६३**

अपने पति को विश्व मे और विश्व को अपने प्रियतम मे व्याप्त देखती हुई उस जगत-पति का श्याम मे साक्षात्कार करती है तथा प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगती है।[1]

इस विरहिणी राधा की तुलना नागमती, सीता एव उर्मिला से तो कदापि नही की जा सकती, क्योकि ये विरहिणियाँ तो अपने-अपने प्रियतम को प्राप्त करके अत मे परम सुख का अनुभव करती हैं। हाँ, यशोधरा या गोपा से अवश्य इसकी तुलना की जा सकती है, क्योकि वियोगिनी यशोधरा भी गौतम के चले जाने पर उसी तरह आजीवन विरह-जन्य वेदना, व्यथा एव कसक का अनुभव करती रहती है, जिस तरह यहाँ राधा श्रीकृष्ण के चले जाने पर अनुभव करती है। परन्तु यशोधरा से भी 'प्रियप्रवास' की राधा कही अधिक महान् है, क्योकि यशोधरा के विरह-जीवन का जो चित्र राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने अपने 'यशोधरा' काव्य मे अकित किया है, उसमे उस विरहिणी को न तो इतनी उदारता एव सेवा-सुश्रूषा मे लीन दिखाया है और न यशोधरा अपन प्रियतम को कण-कण मे व्याप्त देखकर विश्व-प्रेम मे इतनी मग्न दिखाई गई है। यहाँ हरिऔध जी ने राधा को तो विश्व-प्रेम मे लीन दिखाया है तथा दीन-हीन, आर्त्त एव दुखीजनो की सेवा, कीट-पतगो एव पशु-पक्षियो के प्रति सहानुभूति, ब्रज के गोप-गोपीजनो के दु ख दूर करने की उत्कट लालसा, नद-यशोदा के शोक-सताप को कम करन का सतत प्रयत्न, गोप-बालको की खिन्नता दूर करने के लिए लीलाओ का प्रचार, सम्पूर्ण ब्रज मे शान्ति स्थापित करने के लिए कुमारी बालाओ का सगठन आदि ऐसे-ऐसे अभूतपूर्व कर्म करते हुए अकित किया है, जिनके परिणामस्वरूप यह विरहिणी केवल ब्रज की ही नही, अपितु सम्पूर्ण जगत् की आराध्या देवी बन जाती है और ससार की समस्त विरहिणियो मे शीर्षस्थानीय जान पडती है।

(२) **गोपी-विरह-निरूपण**—इस विप्रलम्भ शृगार की दूसरी झाँकी गोपियो के विरह-निवेदन मे अकित की गई है। यहाँ कवि ने परम्परा का पालन किया है और अन्य कृष्णभक्त कवियो की भाँति गोपियो की विक्षिप्तावस्था का उल्लेख किया है, क्योकि सूर आदि कवियो की भाँति यहाँ भी कवि हरिऔध ने गोपियो को यमुना का नीला जल, मधुवन की हरी लताये, कदम्ब की फूली डालियाँ, कालिदी का मनोहारी तट आदि

---

१ **प्रियप्रवास १६।४६-११३**

देखकर एव कृष्ण की पुरानी लीलाओं का स्मरण करके बिलखते-विसूरते दिखाया है। यहाँ पर भी गोपियाँ उद्धव से यहाँ तक कह डालती है कि "यदि यमुना का नीला जल सूख जाय, कुजे जल जाये, हमारी आँखे फूट जाये, हमारे हृदय विध्वश हो जाये, सारा वृन्दावन उजड जाय और कदम्ब के समस्त वृक्ष उजड जाये, तो भी हम अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को भला कैसे भूल सकती है, उनका भूलना सर्वथा असम्भव है। फिर यहाँ की तो एक-एक वस्तु उनका स्मरण कराती रहती है, जिससे हम अत्यत व्यथित एव उद्विग्न होकर रात-दिन रोती रहती है और हमारे हृदय जलते रहते हैं। हमारी आँखो मे कृष्ण की वह माधुरी छवि ऐसी बस गई है कि उसके मारे वे सदैव प्रेमोन्मन्त होकर उन्हे खोजने मे ही लगी रहती है और उन्हे एक क्षण भी चैन नही मिलता। आज हमे पवन के झोको के समान विरह-वेदना झकझोरती रहती है, जिससे हमारा जीवन भँवर मे पडी हुई नौका के समान विपन्न हो रहा है। हम सब कृष्ण मे अनन्य भाव से अनुरक्त है और उन्हे इस तरह प्यार करती हैं जैसे समस्त तारिकाये एक चन्द्रमा को और सम्पूर्ण कमल-कलियाँ एक सूर्य को हृदय से प्यार करती है। परन्तु विधाता की क्रूरता के कारण आज न केवल हमारी ही ऐसी सकटापन्न अवस्था है, अपितु सारी ब्रज-भूमि ही महाशोक मे डूबी हुई है। अब जैसे बने आप कृष्ण को यहाँ लाकर इस मृतक बनती हुई ब्रज-भूमि को जीवन दान देने का प्रयत्न कीजिये।"[1] गोपियों की यह व्यथाभरी करुण कथा अत्यंत मार्मिक एव हृदयबेधिनी है। तदनन्तर कवि ने पचदश सर्ग मे एक गोपी की विक्षिप्तावस्था का चित्रण करते हुए उसकी उत्कठा, उसकी तीव्र वेदना, उसकी गहन पीड़ा एव उसकी भयकर भ्रान्तावस्था का जो चित्र अकित किया है, वहाँ विप्रलम्भ-शृगार की अनूठी अभिव्यक्ति है। इसमे कवि ने उस गोपी को पहले तो कुज मे खिले हुए विविध पुष्पो के पास जा-जाकर अत्यत करुणा-सहित वार्तालाप करते हुए दिखाया है, और उनसे यह पूँछते हुए अकित किया है कि तुम भी मेरी ही भाँति क्यो व्यथित हो रहे हो, तुम्हारी यह गति क्यो हो गई है। अरे! कुछ तो अपनी दशा मुझे सुनाओ।[2] परन्तु जब कोई भी पुष्प उस बाला से कुछ नही बोलता तब वह भ्रमर से बाते करने लगती है। परन्तु भ्रमर उसकी व्यथा-कथा

---

१ **प्रियप्रवास १४।४१-७४**

२ **वही १५।४-५७**

नही सुनता और वह एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर बैठता हुआ उसकी उपेक्षा करता जान पडता है। तब वह उसे ढीट और कौतुकी कहकर उसकी भर्त्सना करती है और उसकी चचलता, उपेक्षा, अनवधानता आदि के लिए उसकी श्यामता को दोषी ठहराती है।[1] तदनन्तर वह मुरली की ध्वनि को अचानक वन मे सुनकर उस मुरली से ही बाते करने लगती है और उसकी प्रवचना, धोकेबाजी अथवा कपट-व्यवहार के लिए उसे भी भला-बुरा कहती हुई उससे अनुरोध करती है कि ठीक है तू अपने तप के कारण कृष्ण के हाथ मे सुशोभित हुई है, परन्तु तुझे वृथा ही अबलाजन को नही सताना चाहिए और इस तरह मतिहीनता का परिचय नही देना चाहिए।[2] फिर अचानक कुज मे कोकिल बोल उठती है। उसकी कूक सुनकर उस गोपी को अपनी चित्त-भ्रान्ति के कारण वह कोकिल भी अत्यत विषादिता, सकुचित तथा निपीडिता जान पडती है और वह ऐसा समझती है कि जिस तरह मै कृष्ण के लिए विरागिनी, पागली एव वियोगिनी बनी हुई हूँ उसी तरह सभवत यह कोकिल भी प्रिय के वियोग के कारण अत्यत कातर एवं मलीन बनी हुई है। पहले तो वह उस कोकिल से मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है, परन्तु जब वह उडती नही, तब वह यही कहती है कि ठीक है, वहाँ मत जा, क्योकि जहाँ उलाहना सुनना भी मना है, ऐसी जगह जाना कदापि उचित नहीं होता।[3] फिर वह गोपी यमुना की रेती मे अकित प्रियतम के चरण-चिह्न को देखकर उसी से बातें करने लगती है और अपनी दशा से उसकी दशा को मिलाती हुई उसी को अपनी व्यथा-कथा सुनाने लगती हैं।[4] फिर केलि मे मग्न होकर कल-कल करती हुई तथा प्रतिपल बहती हुई यमुना नदी उसे दिखाई देने लगती है। तब वह यमुना को सम्बोधन करती हुई उससे अपना वियोग भरा सदेश कृष्ण के समीप ले जाने का आग्रह करती है और कहती है कि तेरे तट पर तो मेरे प्रियतम कृष्ण अवश्य ही आते होगे। इसलिए तू मेरी सम्पूर्ण व्यथाओ को अपनी मधुर ध्वनि के साथ उन्हे सुना देना। यदि भाग्य से मै तेरी धार मे गिर जाऊँ तो तू मेरे शरीर को ब्रज की भूमि मे ही मिला

---

१ प्रियप्रवास १५।५८-७७

२. वही १५।७८-८७

३. वही १५।८८-१०१

४ वही १५।१०२-१११

देना और फिर मेरी उस मिट्टी से अनूठी श्यामता लिए हुए सुदर पुष्पो को बडी सुदरता के साथ उगा देना।[1] इस तरह कवि हरिऔध ने गोपियो की विरह-जन्य वेदना के बडे ही अनूठे चित्र अकित किए है, जिनमे उन्हे अत्यत व्यथित एवं विदग्ध दिखाया है तथा उनकी व्याकुलता एव बेचैनी को मार्मिकता प्रदान की है।

विप्रलम्भ शृंगार की करुण रस मे परिणति—कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे जिस विप्रलम्भ शृगार या वियोग का वर्णन किया है, वह इतना गहन, गभीर एव तीव्र हो गया है कि वह विप्रलम्भ शृगार न रहकर करुण रस के स्थायी भाव शोक को पाठको के हृदय मे अभिव्यक्ति करने मे पूर्णतया सशक्त दिखाई देता है। यहाँ वियोग की करुणामयी गहन छाया नद, यशोदा, गोपी, राधा आदि को ही आवृत नही करती, अपितु गोपो, गायो, पशु-पक्षियो, यमुना, लता, पुष्पो आदि को भी आत्मसात् कर लेती है और सम्पूर्ण व्रज-भूमि शोक-सागर मे निमग्न दिखाई देने लगती है। वैसे तो यशोदा का कारुण्यपूर्ण विलाप तथा राधा के दग्ध हृदय के मार्मिक विरहोद्गार ही शोक की धारा प्रवाहित करने के लिए पर्याप्त है, क्योकि यशोदा माता की उच्छ्वासपूण बाते सुनकर और उनकी मूर्छित अवस्था को देखकर केवल नद ही दुखी नही होते, अपितु पाठको के हृदय भी हिल जाते हैं। कवि ने उस वात्सल्यमयी जननी के हृदय की वेदनापूर्ण स्थिति का जो वर्णन किया है, उसमे करुणा की अविरल धारा बहती हुई जान पडती है, क्योकि उसका कलपना, उसका रोना-धोना, उसके प्राणो का कठ तक आना, उसकी समस्त आशाओ पर पानी फिरना, उस वृद्धा की लकुटि का छिनना, उसके हृदय-धन का चला जाना, उस दुखिया के नेत्र की ज्योति का न रहना आदि भला किसके हृदय मे शोक उत्पन्न न करेगे।[2] यही बात राधा के वियोग-वर्णन मे भी है। वह लावण्य-मयी बालिका भी रोते-रोते अत्यत मलिन हो जाती है। उसकी आँखो के सामने सदैव के लिए अधकार छाजाता है। उसकी कामना अधूरी रह जाती है, क्योकि वह कृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थी, परन्तु यह कार्य पूरा न हो सका। अब उसके लिए ससार मे कोई आकर्षण नही रहता, उसका मुख सूख आता है, होठ नीले पड जाते हैं, रात-दिन कलेजा काँपता रहता है और

---

१ **प्रियप्रवास १५।११२-११५**

२. **वही ७।११-५७**

वह सदैव उन्मनी बनी रहती है ।[१] उसकी भ्रान्ति इतनी बढ जाती है कि वह पवन के हाथ सदेशा तक भेजने के लिए तैयार हो जाती है और उसे यह ध्यान तक नही आता कि भला पवन मेरी बाते कैसे सुन सकेगी तथा कैसे मेरा कार्य करेगी ।

यही बात अन्य आभीरो, गोपो तथा पशु-पक्षियो के बारे मे भी है। कवि ने हरि-गमन बेला के आते ही ब्रज मे छाई हुई खिन्नता एव उदासी का जो चित्रण किया है तथा चिन्ता मे डूबी हुई जनता के हृदय की हलचल की जो झाँकी प्रस्तुत की है, उसमे भी करुण रस पर्याप्त मात्रा मे भरा हुआ है। उस समय आगे बढकर जो बूढा आभीर अपने हृदय के मार्मिक उद्गार व्यक्त करता है, उनमे कितनी कसक, कितनी टीस एव कितनी व्यथा भरी हुई है, जिसे सुनकर अक्रूर तक रो पडते है और जैसे-तैसे अपने को सँभाल पाते है ।[२] यही बात उस क्षण अपनी व्यथापूर्ण कथा सुनाती हुई उस प्राचीना की मर्मभरी वाणी मे है, जिसे सुनते ही कृष्ण भी रो पडते है और शीघ्र ही लौट आने की बात कहकर उसे सात्वना प्रदान करते है ।[३] उस समय गायो की भी दशा कुछ विचित्र ही हो जाती है, वे न घास खाती है और न बच्चे को दूध पिलाती हैं, अपितु बावली सी होकर जाते हुए कृष्ण की ओर जगल से भाग कर चली आती हुई दिखाई देती है । गृह-द्वार के काकातूआ का भी यही दशा होगई है । वह भी व्यथा-भरी आवाज मे रुदन करता सा जान पडता है ।[४] इस तरह जो शोक-सिंधु कृष्ण के गमन के समय ब्रज मे उमडने लगा था, वह फिर सूख नही पाता, अपितु उद्धव आकर भी यही देखते हैं कि वह शोक-सागर सम्पूर्ण ब्रज-भूमि मे लहरा रहा है। उन्हे भी अनन्त सौदर्यमयी वनस्थली किसी के विरह मे यथातथ्य विमोहती हुई नही दिखाई देती, अपितु सर्वत्र एक निगूढ-खिन्नता बसी हुई जान पडती है, जो आनद और उल्लास को उत्पन्न करके देखने वाले के हृदय मे गुप्त रूप से धीरे-धीरे विरक्ति को उत्पन्न करती हुई सी प्रतीत होती है ।[५] इतना ही नही उन्हे क्या नद, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या गोप-

---

१ प्रियप्रवास ४।२८-५३

२ वही ५।२४-२६

३ वही ५।३०-३६

४ वही ५।३७-४०

५ परन्तु वे पादप मे प्रसून में। फलो दलों बेलि-लता समूह मे।
सरोवरो मे सरि में सुमेरु मे। खगों मृगों मे वन में निकुंज मे।

बालक, क्या गोपियाँ और क्या राधा सभी कृष्ण के विरह मे व्यथित होकर रुदन करते हुए दिखाई देते है और अपनी करुण-कथा से उन्हे भी सतप्त कर देते है। उद्धव जब तक ब्रज मे रहते है और जहाँ कही भी वे जाते है उन्हे सर्वत्र ब्रज-भूमि मे शोक छाया हुआ दृष्टिगोचर होता है और सभी के हृदय मे कृष्ण की भव्य मूर्ति के लिए अटूट प्रेम समाया हुआ जान पडता है। यहाँ तक कि राधाजी भी उन्हे विश्व-प्रेम मे लीन होकर केवल अपने शोक से उतनी दुखी नही दिखाई देती, जितनी कि वे ब्रजबासियो के दुख से व्यथित रहती है और अन्त मे वे यही कहती है कि "अगर उन्हे कोई बाधा न हो तो एक बार अपने दर्शन यहाँ के निवासियो को दे जायँ और कम से कम अपने माता-पिता की दशा को तो आकर देख जायँ बस यही मेरा सदेश श्रीकृष्ण से कह देना।"[1] इन शब्दो से भी ब्रज के शोक का आभास पूर्णरूप से मिल जाता है। इसके उपरान्त कवि ने ब्रज की सतप्त अवस्था का चित्र अकित करते हुए बताया है कि जब कभी ब्रज मे बसत का विकास होता था, तब समस्त बालिकाये बावली सी होकर बिलखाती फिरती थी, कोई कही मूर्छित हो जाती थी, तो कोई रात-रात भर रोती रहती थी। उस समम राधाजी उन्हे सात्वना देने के विविध उपाय करती रहती थी। गोप एव नद-यशोदा भी सदैव शोक मे डूबे रहते थे तथा ब्रज मे विरह-घटना ऐसी व्याप्त हो गई थी कि फिर वह कभी दूर न हो सकी. ब्रज मे फिर अच्छे दिन न आ सके और विरह की वह भयकर वेदना वशजो मे भी व्याप्त हो गई।[2]

इस प्रकार कवि ने 'प्रियप्रवास' मे विरह का इतना व्यापक एव मार्मिक वर्णन किया है, जिसे देखकर ज्ञात होता है कि यहाँ पर प्रवास-जन्य विप्रलम्भ शृगार अपनी सीमा का अतिक्रमण करके करुण विप्रलम्भ शृगार से भी आगे बढकर करुण रस का रूप धारण कर गया है। वैसे भी विप्रलम्भ शृगार तो वही रहता है जहाँ पुनर्मिलन की आशा रहती है, परन्तु जब फिर मिलने की कोई आशा नही रहती और वह कुछ समय का शोक चिरकालीन हो जाता है अथवा स्थायित्व को प्राप्त कर लेता है तब वह शोक करुण रस के

बसी हुई एक निगूढ-खिन्नता। विलोकते थे निज-सूक्ष्म-दृष्टि से।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से। रही बढाती उर की विरक्ति को।

९।१०७-१०८

१ प्रियप्रवास १६।१३२-१३३

२. वही १७।५२-५४

स्थायी भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। यही 'करुण रस' तथा 'करुण विप्रलम्भ-शृगार' मे अन्तर है।[1] इसके अतिरिक्त भवभूति की भाँति हरिऔध जी भी "एको रस करुण एव निमित्त भेदाद्, भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्" कहते हुए करुण रस को ही एक मात्र रस मानते है तथा अन्य सभी रसो को उस करुण के विवर्त्त बतलाते है।[2] इस दृष्टि से भी कवि का अभिप्रेत रस करुण ही है और उसी की पुष्टि के लिए अन्य रसो का वर्णन करते हुए कवि ने विप्रलम्भ शृगार, वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसो का भी उल्लेख किया है। अब हम इन्ही अग रूप मे आने वाले अन्य रसो की अभिव्यक्ति को देखने की चेष्टा करेगे। किन्तु यह स्पष्ट है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे करुण रस को ही अगीरस के रूप मे माना है, क्योकि यहाँ शोक क्षणिक या किंचित कालीन न होकर चिरकालीन है और भूमिपतन, क्रदन, उच्छ्वास, प्रलाप आदि अनुभावो तथा निर्वेद, मोह, स्मृति, व्याधि आदि व्यभिचारी भावो के साथ विद्यमान है।

भयानक रस—अन्य रसो के निरूपण मे से सर्वप्रथम तृतीय सर्ग मे रात्रि के भीषण वातावरण का वर्णन करते हुए कवि ने भयानक रस की सुन्दर अभिव्यजना की है। इस रस का भय स्थायी भाव होता है, इसके आलम्बन भयोत्पादक पदार्थ है और उन पदार्थों की भीषण चेष्टाये उद्दीपन विभाव होती है। कम्प, गद्गद् भाषण आदि इसके अनुभाव हैं और आवेग, त्रास, दीनता, शका आदि व्यभिचारी भाव होते है। यहाँ पर भी विकट-दंत भयकर प्रेतो, मुख फैलाये हुए भयकर प्रेतनियो, विकट-दानव से वृक्षो, श्मशान भूमि मे पडी हुई भयानक खोपडियो, शवो आदि के वर्णन द्वारा कवि ने भय स्थायी भाव की सुन्दर व्यजना की है —

"विकट दत दिखाकर खोपडी, कर रही अति भैरव हास थी।
विपुल-अस्थि-समूह-विभीषिका, भर रही भय थी बन भैरवी ॥ ३।१६

वीर रस—इसका स्थायी भाव उत्साह होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते है। इसका आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि होते है और उन शत्रुओ की चेष्टाये इसके उद्दीपन विभाव होते है। युद्धादि की

---

१ शोक स्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादय रस ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुन समोगहेतुकः ॥ साहित्यदर्पण ३।२२६

२ वैदेही-वनवास, भूमिका, पृ० १

३. प्रियप्रवास ३।१४-१६

सामग्री किंवा अन्यान्य साधनो के अन्वेषण इसके अनुभाव होते है और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि इसके व्यभिचारी भाव माने गये है। इसके चार भेद होते है—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। 'प्रियप्रवास' मे इन सभी रूपो के दर्शन मिल जाते है। जैसे —

दानवीर—ऐसे ऐसे जगत-हित के कार्य है चक्षु आगे।
है सारे ही विषय जिनके सामने श्याम भूले।
सच्चे जी से परम-व्रत के वे व्रती हो चुके है।
निष्कामी से अपर-कृति के कूल-वर्ती अत. हैं।

यहाँ पर उनके सर्वस्व त्याग सहित लोक-सेवा का व्रत ग्रहण करने मे एक दानी व्यक्ति के 'त्याग' विषयक 'उत्साह' स्थायी भाव की सुन्दर व्यजना हो रही है।

धर्मवीर—अत सबो से यह श्याम ने कहा। स्व-जाति-उद्धार महान धर्म है।
चलो करे पावक मे प्रवेश औ। स-धेनु लेवे निज-जाति को बचा।
विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का। सहाय होना अ-सहाय जीव का।
उबारना सकट से स्व-जाति का। मनुष्य का सर्व-प्रधान-धर्म है।

इन पक्तियो मे 'धर्मोत्साह' की बडी ही अनूठी अभिव्यजना हुई है।

युद्धवीर—समाज - उत्पीडक धर्म - विप्लवी।
स्व-जाति का शत्रु तुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुज का।
न है क्षमा-योग्य वरच बध्य है।
क्षमा नही है खल के लिए भली।
समाज-उत्सादक दड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना।
सु-कर्मियो को करता विपन्न है।
अत अरे पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू।
सम्हाल तेरा बध वाँछनीय है।

व्योमासुर के प्रति प्रकट की गई श्रीकृष्ण की इस ललकार मे 'युद्धोत्साह' की बडी ही सुन्दर अभिव्यजना हुई है।

दयावीर—परम-सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था। गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र-समीर था। पर विराम न था ब्रज-बधु को।

पहुँचते वह थे शर-वेग से। विपद-सकुल आकुल-लोक मे।
तुरत थे करते वह नाश भी। परम-वीर-समान विपत्ति का।

इन पक्तियो मे भयकर वर्षा के कारण उत्पन्न बाढ से पीडित ब्रज की रक्षा करने मे श्रीकृष्ण के कार्यों का जो उल्लेख हुआ है, उनमे 'दया विषयक उत्साह' की अत्यन्त रमणीक अभिव्यजना हुई है।

रौद्र रस—इसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसमे आलम्बन रूप से शत्रु का वर्णन किया जाता है और शत्रु की चेष्टाये उद्दीपन-विभाव का काम करती हैं। इसकी उद्दीप्ति भयकर काटमार, शरीर-विदारण, भूपातन आदि से हुआ करती है। भ्रूभग, वाहुस्फोटन, गर्जन-तजन, क्रूर दृष्टि आदि इसके अनुभाव होते है और मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारीभाव होते है। कालिय नाग के द्वारा अपनी प्रिय गायो एव स्वजाति की अतीव दुर्दशा देखकर श्रीकृष्ण के हृदय मे जिस क्रोध का सचार होता है, वहाँ रौद्र रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यथा—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा। विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को। हुए समुत्तेजित वीर-केशरी।
हितैषणा से निज जन्म-भूमि की। अपार-आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनी महा बक गँठी हुई भवे। नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये।

अद्भुत रस—इसका 'विस्मय' स्थायीभाव होता है। इसमे अलौकिक वस्तु आलम्बन होती है और उस वस्तु के गुणो का वर्णन उद्दीपन विभाव होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, गद्गद् स्वर आदि इसके अनुभाव होते है और वितर्क, आवेग, सवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने तृणावरतीय बिडम्बना का वर्णन करते हुए कृष्ण के अचानक अदृश्य हो जाने, प्रकृति के अचानक शान्त हो जाने तथा घर के समीप किलकते हुए कृष्ण के निकल आने पर कवि ने इस 'विस्मय' नामक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति की है। यथा—

प्रकृति थी जब यो कुपिता महा। हरि अदृश्य अचानक हो गये।
सदन मे जिससे ब्रज-भूप के। अति भयानक क्रदन हो उठा।
पर व्यतीत हुए दुघटी टली। यह तृणावरतीय विडम्बना।
पवन-वेग रुका तम भी हटा। जलद-जाल तिरोहित हो गया।
प्रकृति शान्त हुई वर व्योम मे। चमकने रवि की किरणे लगी।
निकट ही निज सुन्दर सद्म के। किलकते हँसते हरि भी मिले।

अत कवि ने विभिन्न रसो का वर्णन करते हुए तथा उन्हे करुण रस के अग बनाकर उनका पोषण करते हुए अकित किया है । शास्त्रीय दृष्टि से तो यहाँ विप्रलम्भ शृगार ही दिखाई देता है, किन्तु यह विप्रलम्भ शृगार स्थायी रूप ग्रहण करता हुआ शोक नामक स्थायीभाव को इतना अधिक जाग्रत कर देता है कि पाठको के हृदय पर उसकी अमिट छाप अकित हो जाती है और जिस तरह इष्ट-नाश या अनिष्ट-प्राप्ति के कारण 'शोक' नामक स्थायी भाव करुण रस की अभिव्यजना किया करता है, उसी तरह यहाँ भी श्रीकृष्ण के सदैव के लिए ब्रज-भूमि छोडकर चले जाने के कारण गोपियो एव ब्रज-जनो के इष्ट का नाश हो गया है तथा अनिष्ट की प्राप्ति हो रही है, जिससे वह वियोग-जन्य शोक विप्रलम्भ की सीमा का परित्याग करके करुण-रस का स्थायी भाव बन गया है । इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे 'करुणरस' की प्रधानता मानना ही सर्वथा उचित जान पडता है तथा विप्रलम्भ शृगार भी इस करुण रस का एक अग हो गया है । इस तरह कवि ने विभिन्न भावो के सहित रसो का वर्णन करके अपने काव्य को अत्यत रुचिर एव रमणीय बनाया है तथा ऐसे-ऐसे मार्मिक स्थलो की योजना की है, जहाँ सहृदयो के लिए आह्लादकारिणी प्रचुर सामग्री विद्यमान है ।

भाव एवं रस-निरूपण मे नवीन उद्भावनाये—हरिऔध जी ने प्राय परम्परागत मानवोचित भावो का निरूपण करते हुए अपने 'प्रियप्रवास' काव्य मे रसो का वर्णन किया है । परन्तु उस वर्णन मे कवि ने कुछ नवीन उद्भावनाये भी की है, जिनके परिणामस्वरूप 'प्रियप्रवास' महाकाव्य मे मौलिकता एव नवीनता के साथ-साथ कुछ विशिष्टता भी आ गई है । इन नवीन उद्भावनाओ के यहाँ तीन रूप दिखाई देते है—(१) राधा-कृष्ण का प्रेम, (२) वीर रस मे राष्ट्रीय भावना का समावेश तथा (३) मानवता के उदात्त गुणो से युक्त विश्व-प्रेम ।

(१) **राधा-कृष्ण का प्रेम**—कवि ने 'प्रियप्रवास' मे राधा और कृष्ण के जिस पवित्र दाम्पत्य प्रेम की झाँकी प्रस्तुत की है, उसमे वासनात्मक लिप्सा, कामना या काम-वासना की तनिक भी गध नही आती । कवि ने राधा को सच्चे हृदय से श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमिका बताया है, जिसके हृदय मे यह प्रेम बचपन से ही धीरे-धीरे विकसित हुआ था और युवती होने पर प्रणय के रूप मे परिवर्तित हो गया था । उस प्रबल प्रेम के कारण ही यह युवती राधा शयन और भोजन के समय ही क्या, सभी क्षणो मे कृष्ण की छवि पर उन्मत्त बनी रहती थी तथा इसके हृदय से कृष्ण के वचनो की सरसता, मुख कमल की रमणीयता, स्वभाव की सरलता, हृदय की अति प्रीति

ग्रौर सुशीलता कभी चित्त से उतरती न थी।[1] वह ग्रपना हृदय तो कृष्ण के चरणो मे ग्र्पित कर ही चुकी थी, केवल उसकी कामना यह ग्रौर थी कि विधिपूर्वक कृष्ण के साथ विवाह हो जाय। परन्तु उसकी यह मनोकामना पूर्ण नही हुई।[2] फिर भी इस कुमारी वालिका ने कृष्ण के चले जाने पर किसी के साथ विवाह नही किया ग्रौर ग्राजीवन कौमार व्रत धारण करके ग्रपने वरणीय प्रियतम के पद-चिह्नो पर ही चलती रही। यहाँ जितनी प्रेम की गहनता राधा के हृदय मे है, उतनी ही गहनता कृष्ण के हृदय मे भी कवि ने ग्रकित की है। वे भी मथुरा पहुँचकर सबसे ग्रधिक राधा के बारे मे ही चिंतित रहते है ग्रौर उद्धव जी से चलते समय यह कहते भी है कि "वृषभानु पुत्री राधा मेरे वियोग-सागर मे निमग्न होगी, उसे जैसे सभव हो, वैसे त्राण देने की कृपा करना।"[3] इसके ग्रतिरिक्त कृष्ण ने जो सदेश राधा के लिए उद्धव के द्वारा भेजा है, उसमे भी राधा विषयक प्रेम की गम्भीरता एव निष्कपटता पूर्णतया विद्यमान है। वहाँ कहा है कि "न जाने विधाता ने यह कैसी महान् बाधा हम दोनो के बीच मे उपस्थित कर दी है कि ग्राज हमारे मिलने की ग्राशा नित्य प्रति दूर होती चली जा रही है ग्रौर जो दो प्रेमी नित्य दूध ग्रौर पानी की तरह मिलते थे उन्ही के बीच म विघ्नो के महान् पर्वत न जाने कैसे ग्रा पडे है?"[4] परन्तु दाम्पत्य प्रेम की इतनी गहनता, प्रणय की चरमसीमा ग्रादि का चित्रण करके भी कवि ने उन्हे ग्रत्यन्त सयत, मर्यादित एव लोकोत्तर चरित्र से विभूषित ग्रकित किया है। वे दोनो ग्रनन्य प्रेमी यहाँ लोक-सेवा, परोपकार, ग्रात्मत्याग, सर्वभूतहित ग्रादि की भावनाग्रो से ग्रोतप्रोत दिखाये गये है। उनके प्रेम मे वैयक्तिक भोगो की मधुर लालसा के लिए कोई स्थान नहीं है, वे स्वार्थोपरत विलास-वासना को सर्वथा तुच्छ एव हेय मानते हैं ग्रौर प्रारम्भ से लेकर ग्रत तक पूर्णतया निर्लिप्तता, सयम एव शुचिता की मूर्ति बनकर सरस-सुख की वासना से सर्वथा परे ग्रात्म-उत्सर्ग एव निष्काम कर्मयोग मे लीन दिखाई देते हैं। ग्रात्मोत्सर्ग की भावना उनमे इतनी तीव्रता के साथ ग्रकित की गई है कि जिस तरह श्रीकृष्ण जगत-हित के कार्यो मे लीन होकर

---

१. प्रियप्रवास ४।१६-१८

२ वही ४।३५

३. वही ६।११

४ वही १६।३७-३८

आर्त्त-प्राणियो की सुरक्षा, दुष्टात्मा एव पातकी पुरुषो को उचित दड, व्यथित व्यक्तियो की व्यथा-निवारण आदि स्वकीय कर्त्तव्यो मे निष्काम भाव से लगे रहते है, इसी तरह राधा भी विविध सात्वना-कार्यो मे सलग्न होकर वृद्ध-रोगी-जनो की सतत सेवा मे लगी रहती है। दीन-हीन एव निर्बल अबलाजनो तथा विधवा आदि का बडा ध्यान रखती है, पारस्परिक कलह को दूर करती रहती है, घर-घर मे शान्ति धारा बहाती रहती है, चीटियो को आटा, पक्षियो को दाना और पानी देती रहती है, कीटादि के प्रति भी बडी सदय दृष्टि रखती है, वृथा पत्ते तक तोडना उचित नही समझती और हृदय से प्राणियो की हितकामना करती हुई अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहती है। वास्तव मे यही प्रेमी के आदर्श का अनुसरण है, यही निष्काम भक्ति है, यही अपने प्रियतम के प्रति सच्चे प्रेम का प्रदर्शन है कि उसके आचरण। एव कर्त्तव्यो को अपनाकर अपना जीवन भी अपने प्रियतम के अनुरूप व्यतीत करे, जिससे कभी वह अपने हृदय से दूर न रहे और सदैव उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति के साथ पुनीत प्रेम बना रहे। हरिऔध जी ने ऐसे ही प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की उद्भावना करते हुए 'प्रियप्रवास' को आधुनिक युग का सुदर महाकाव्य बना दिया है।

(२) **वीर रस मे राष्ट्रीय भावना का समावेश**—'प्रियप्रवास' मे कवि ने वीर रस के वर्णन मे राष्ट्रीय भावो का समावेश करके आधुनिक युग मे स्वजाति-प्रेम एव स्वदेश-प्रेम का अतीव उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण सदैव राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत दिखाये गये हैं। इसी कारण वे कालिय नाग के द्वारा होने वाली स्वजाति की अतीव दुर्दशा तथा प्राणिमात्र की विगर्हणा देखकर अपने देशवासियो के सकट को दूर करने के लिए तुरन्त तैयार होजाते है, जन्मभूमि की ऐसी दुरवस्था देखकर उनकी भौहे टेढी हो जाती हैं और वे शीघ्र ही इस आपत्ति के निवारण-हेतु निश्चय कर डालते है। साथ ही अपने सभी साथियो से यह कह भी देते हैं कि "मै अपनी जान हथेली पर रखकर स्वय इस कार्य को करूँगा और स्वजाति एवं स्व-जन्मभूमि के लिए इस भयकर नाग से कदापि भयभीत न हूँगा। मैं सदैव अपमृत्यु तक का सामना करूँगा, कभी इन्द्र के वज्र तक से नही डरूँगा और मै धर्म के प्रधान अंग परोपकार की कभी अवहेलना नही करूँगा। जब तक मेरे शरीर मे श्वास-प्रवाह शेष रहेगा, नाडियों में रक्त-प्रवाहित रहेगा तथा मेरा एक भी रोम सशक्त बना रहेगा, तब तक मे बराबर

सर्वभूतहित करता रहूँगा।"[१] श्रीकृष्ण के इन वीरोचित उद्गारो मे कितनी ओजस्विता, कितनी कर्त्तव्यपरायणता तथा कितनी जननी-जन्मभूमि के प्रति हितैषणा की भावना भरी हुई है। यही बात कवि ने दावानल मे फँसे हुए ग्वाल-बाल एव गायो की रक्षा के समय व्यक्त की है। ऐसे भयकर काल के उपस्थित होते ही श्रीकृष्ण का हृदय करुणा एव कर्त्तव्य से भर आता है, राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो उठती है और अपने साथियो से कहने लगते है कि "ऐसे महान् सकट के समय प्राणो की चिन्ता न करके अपनी जाति का उद्धार करना ही मानव का महान धर्म है। वैसे भी ससार मे बिना अपने प्राणो की ममता को त्यागे हुए तथा बिना जोखिम की आग मे कूदे हुए न तो कभी ससार मे कोई महान् कार्य होता है और न ससार मे जन्म लेना ही सार्थक होता है। इसलिए साथियो! अपने प्रियजनो की रक्षा के हेतु आगे बढो और उनका भला करो। इस कार्य मे हमे दोनो तरह से लाभ है क्योकि यदि हमने अपनी जाति का उद्धार कर लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इम ज्वाला मे भस्म हो गये, तो हमे सुन्दर कीर्ति प्राप्त होगी।"[२] श्रीकृष्ण के इन शब्दो मे उनका राष्ट्रीय प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। यही राष्ट्रीय भावना उन्हे प्राणिमात्र की सेवा और सहायता की प्रेरणा देती रहती है, इसी कारण वे सभी से बडी विनम्रता के साथ मिलते है, उनके सुख-दुःख की बाते बडे चाव से सुनते है, रोगी, दुखी एव आपत्तिग्रस्तो की सेवा करते है और सर्वथा निस्वार्थ सर्वभूतहित मे लीन रहे आते है।[३] इतना ही नही अपने इन्ही राष्ट्रीय विचारो के कारण उन्हे सभी प्रेम एव श्रद्धा की दृष्टि से देखते है, अपना पूज्य समझते है तथा छोटी अवस्था मे ही वे सम्पूर्ण ब्रज-भूमि के सच्चे नेता बन जाते हैं। इस तरह से कवि ने 'प्रियप्रवास' मे राष्ट्रीय भावो का निरूपण करके श्रीकृष्ण के नृ-रत्न तथा लोकनायक रूप की बडी ही भव्य अभिव्यजना की है।

(३) **विश्व-प्रेम**—कवि हरिऔध ने सबसे अधिक बल यहाँ मानवता के उदात्त गुणो से युक्त विश्व-प्रेम की मगल भावना पर दिया है। कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण को विश्व-प्रेम मे लीन दिखाकर ऐसे-ऐसे सर्वजन-हितकारी एव लोक-कल्याणकारी कार्य करते हुए अकित किया है, जहाँ हम

---

१ **प्रियप्रवास ११।२२-२७**

२. **वही ११।८४-८७**

३. **वही १२।७८-९०**

उन्हे विश्व-बधुत्व की साकार प्रतिमा के रूप मे देख सकते है। उन्हे आगे चलकर स्व-परिवार एव स्वजाति का मोह भी बधन मे नही बाँध पाता, अपितु वे एक पग और आगे बढकर अपने परिवार एव अपनी जाति का परित्याग करके सम्पूर्ण विश्व के दु खो को दूर करने का प्रण करते है। उनकी भावनाओ का सकुचित क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और वे जगत-हित क कार्यों मे लान रहने के कारण ही अपनी प्राणप्रिय व्रज-भूमि तक का परित्याग कर देते है। अब उनके सामने एकमात्र सव-लोकोपकारी कार्यो का समूह ही रहा आता ह और वे सच्चे जी से जगत-हित सबधी व्रत के व्रती बन जाते है। इसी कारण वे राधा के पास उद्धव के द्वारा यही सदेश भेजते है कि "यह माना कि सुख और भोग की लालसाये अतीव प्यारी और मधुर होती है परन्तु जगत-हित की लिप्सा और भी मनोज्ञा होती है और सच्चा आत्म-त्यागी वही कहलाता है जिसे जगत-हित और लोक-सेवा हृदय से प्रिय होती है।"[1] इसी कारण वे पृथ्वी के समस्त प्राणियो के हितैषी बन जाते है और उन्हे विश्व का प्रेम, प्राणो से भी अधिक प्रिय हो जाता है।[2] इतना ही नही श्रीकृष्ण के इस विश्व-प्रेम से प्रभावित होकर चरित्र-नायिका राधा भी "मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा" कहकर प्राणिमात्र की सेवा, जगत-हित एव लोक-रक्षा मे अपना जीवन लगा देती है तथा सम्पूर्ण विश्व मे अपने प्रियतम को और प्रियतम मे सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त मानती हुई सच्चे हृदय से विश्व-प्रेम एवं विश्व-बधुत्व के भावो से ओत-प्रोत दिखाई देती है।[3] निस्सदेह कवि ने राधा और कृष्ण को "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भावो से परिपूर्ण अकित करके अपने युग की सर्वोच्च भावना को काव्य का अतीव सुन्दर रूप प्रदान किया है और प्राणिमात्र की एकरूपता, समता, हृदय की उदारता, अत करण की विशालता आदि से युक्त विश्वप्रेम का ऐसा सजीव चित्रण किया है, जिसे पढकर मानव अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं तथा जिनको अपने जीवन मे अपनाकर यथार्थ मानव बन सकते हैं।

सौंदर्य-निरूपण—आजकल सौदर्य और रस का अटूट सम्बन्ध माना जाता है। वैसे भी सौदर्य मे जो एक अद्‌भुत आकर्षण होता है, वही रस के

---

१ प्रियप्रवास १६।४१-४२

२. वे जी से हैं अवनि जन के प्राणियो के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा। १४।२१

३ प्रियप्रवास १६।१०४-११२

नवल श्याम शरीर सुकुमारता एव सरसता से परिपूर्ण है, उनके अग-प्रत्यग अत्यत सुगठित है, उनकी कमर मे पीताम्बर तथा सम्पूर्ण शरीर मे रुचिर वस्त्र सुशोभित है। उनका वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है। कधे सुन्दर दुकूल से अलकृत है। कानो मे मकराकृत कुडल सुशोभित है। मुख के समीप विविध भावमयी अलकावली घिरी हुई है। मस्तक पर मधुरिमा से परिपूर्ण मोरमुकुट सुशोभित है, जिसकी श्रेष्ठ चन्द्रिका श्वेत रत्न के समान चमक रही है। उन्नत भाल पर केसर की खौर शोभा देरही है। उनकी मृदुल वाणी, मधुर मुसकान तथा नेत्रो की कमनीयता अत्यत मोहक है। जघाओ तक लटकने वाली उनकी लम्बी-लम्बी भुजाये है। उनका अत्यत सुपुष्ट तथा समुन्नत वक्षस्थल है। किशोरावस्था के माधुर्य से परिपूर्ण कमल जैसा प्रफुल्लित मुख है और मधुवर्षिणी मुरली हाथ मे शोभा दे रही है। उनके मुख से छवि-समूह छलक रहा है, शरीर से अनुपम छटा पृथ्वी पर छिटक रही है और उनकी श्रेष्ठ दीप्ति सर्वत्र फैल रही है।[१] दूसरा चित्र षष्ठ सर्ग मे अकित किया गया है, वहाँ पर राधा पवन को श्री कृष्ण के मनोरम रूप को समझाती हुई बताती है कि तू मथुरा मे जाकर बादलो की सी कान्ति वाले शरीर को देखेगी, उनके नेत्रो से अद्भुत ज्योति निकल रही होगी। उनकी मुख-मुद्रा सौम्यता की मूर्ति सी जान पडेगी। उनके सीधे-सीधे वचन अमृत से सिंचित होगे। वे कमर मे सुन्दर पीताम्बर धारण किये होगे। उनके मुख पर पडी हुई अलके उनकी मुख-कान्ति को बढा रही होगी। उनका सारा शरीर दिव्य सौदर्य से युक्त होकर साँचे मे ढला हुआ सा प्रतीत होगा और दोनो सुन्दर कधे वृषभ-स्कंध जैसे सजल कान्तिपूर्ण जान पडेगे। उनकी लम्बी-लम्बी भुजाये हाथी के बच्चे की सूँड की भाँति-शक्ति सयुक्त होगी। राजाओ का सा सुन्दर मुकुट उनके शिर पर सुशोभित होगा। कानो मे स्वर्ण के कुडल शोभा दे रहे होगे। भुजाओ मे रत्न-जटित सुन्दर केयूर सुशोभित होगे। शख जैसे उठे हुए कठ मे मोतियों की माला शोभायमान होगी। ऐसे दिव्य एव भव्य रूप-सौदर्यशाली श्रीकृष्ण को उनके तेज एव ओज के कारण सुगमता से पहँचाना जा सकेगा।[२]

इन दोनो चित्रो मे कवि ने श्रीकृष्ण के शरीर की गठन, एकरूपता, सममात्रा, सुडौलपन, अगो की सुन्दर रचना आदि को बडे ही सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है। यहाँ कवि ने उस शरीर की साज-सज्जा एव वेश-रचना

का वर्णन करके रूप-सौन्दर्य मे चार-चाँद लगा दिये है, जिससे श्रीकृष्ण का दिव्य गुण एव भव्य आभा-सम्पन्न एक सुगठित रूप-चित्र पाठको के सामने आकर प्रस्तुत हो जाता है। यह सारा रूप-चित्रण सौंदर्य की भारतीय परम्परा का द्योतक है।

कवि ने नारी के रूप-सौदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए राधा के शारीरिक सौदर्य को अकित किया है और लिखा है कि वह रूप के उद्यान की विकसित कली पूर्णिमा के चन्द्र तुल्य मुख वाली थी, अत्यत पतला शरीर था, मुख पर सदैव सुन्दर मुसकान बनी रहती थी, क्रीडा-कला की तो वह मानो पुत्तलिका थी। माधुर्य की मूर्ति थी, उसके कमल जैसे सुन्दर नेत्र थे, उसके शरीर की कान्ति स्वर्ण जैसी थी, लम्बी-लम्बी काली अलके थी, वह नाना प्रकार के हाव-भाव से परिपूर्ण थी, उसके कमल जैसे चरण अपनी लालिमा से पृथ्वी को विभूषित करते थे, ओष्ठो की लालिमा विम्बा और विद्रुम को भी कान्तिहीन कर देती थी, वह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती थी और उसके शरीर की कमनीय कान्ति काम-पत्नी रति को भी मोहित कर देती थी।[1] इस सौदर्य-चित्र मे कवि ने एक प्रसन्नबदना युवती के रूप-माधुर्य की सुन्दर एव सजीव झाँकी अकित की है। इसके अतिरिक्त आगे चलकर इस वियोगिनी युवती के प्रशान्त एव भक्ति भावना से परिपूर्ण रूप की झाँकी दिखाते हुए लिखा है कि जिस समय उद्धव ने जाकर राधा के दर्शन किये, उस समय वह प्रसन्नबदना राधा एक शान्त एव नीरव निकुज मे बैठी हुई थी। उनके नेत्रो की कान्ति अतीव कोमल बनी हुई थी, परन्तु वहाँ विषादपूर्ण शान्ति छाई हुई थी। मुख-कमल की मुद्रा भी विचित्र दिखाई देती थी, क्योकि वहाँ आकुलता के सहित प्रफुल्लता विद्यमान थी। इस तरह अत्यत प्रशान्त एव म्लाना युवती राधा एक देवी के समान दिव्यतामयी मूर्ति के रूप मे बैठी हुई दिखाई देती थी।[2] राधा की इन दोनो रूप-झाँकियो मे कवि ने नारी के उल्लासपूर्ण एव विषादमय शारीरिक सौदर्य के चित्र अकित किए हैं, जिनमे शारीरिक गठन, अगो का विकास-क्रम, सुडौलपन, सममात्रा आदि के साथ-साथ उसके भावो के अनुकूल मुद्राओ एव मुखाकृतियो आदि की भी सजीव झाँकी मिल जाती है।

भाव-सौंदर्य विधान—यद्यपि भाव-सौदर्य का निरूपण रसो का विवेचन करते समय किया जा चुका है, तथापि किसी एक भाव के चित्रण मे कवि ने

---

१. प्रियप्रवास ४।४–८

१ प्रियप्रवास १६।३२-३४

जो अद्भुत चमत्कार दिखाया है, उसे यहाँ दिखाने की चेष्टा की जायेगी। कवि ने 'प्रियप्रवास' मे शोक, विषाद, खिन्नता, उदासी आदि के चित्र तो अत्यन्त मार्मिकता के साथ अकित किये ही है, परन्तु उद्धव के आगमन के समय गोकुल मे जिस उत्सुकता, उत्कठा एव आतुरता की लहर दौड गई थी, उसका भी कवि ने बडी सजीवता के साथ वर्णन किया है। कवि ने यहाँ बताया है कि जैसे ही उद्धव गोकुल मे पधारे, वैसे ही वियोग-दग्धा-जन-मडली अत्यत समुत्सुका होकर अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण का आना सोचतीं हुई उनकी घनश्याम-माधुरी को देखने के लिए अपना-अपना काम छोड़कर रथ के समीप दौड़ी चली आई। जो व्यक्ति पशुओ को बाँध रहे थे, वे बाँधना छोडकर वहाँ आगये। जो गाय दुह रहे थे, वे दुहना छोड़कर भागे आये। जो पशुओ को खिला रहे थे, वे खिलाना छोडकर वहाँ आ गये। जो घर मे दीपक जला रहे थे, वे दीपक छोड़कर वहाँ भाग कर आगये। जो स्त्री कूये से जल निकाल रही थी वह रस्सी-सहित घडे को कूये मे ही छोडकर बडी आतुरता सहित रथ के समीप दौडी चली आई। किसी ने भरा हुआ घडा ही कूये पर छोड दिया, किसी ने घडे को सिर से गिरा दिया और रथ मे बैठे हुए अपने प्राणवल्लभ को देखने दौडी चली आई। यहाँ तक कि समस्त वयस्क, बूढे, बालक, बालिका आदि सभी अत्यन्त उत्कठित एव अधीर होकर श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए वेगपूर्वक दौडकर रथ के समीप आगये थे। परन्तु जैसे ही आकर उन्होने रथ मे उद्धव को बैठा देखा उनका सारा उत्साह, उनकी सारी उत्सुकता एव उनकी सारी उमग जाती रही और वे हरि-वधु को देख-देखकर अधीर हो गये।[१] यहाँ तक कवि ने जिस आतुरता एव अधीरता का वर्णन किया है, वह सर्वथा मार्मिक एव सजीव है। यद्यपि इस वर्णन पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है, क्योकि वहाँ पर उद्धव के गोकुल आगमन पर वहाँ के निवासियो की जिस स्थिति का वर्णन किया है, उसको 'प्रियप्रवास' मे भी दिखाया गया है,[२] तथापि कवि ने उन प्राणियो मे जिस आतुरता एव अधीरता का समावेश किया है, वह उसकी अपनी उद्भावना है। इसी तरह माता यशोदा के वात्सल्यपूर्ण वियोग[३] गोपियों की विरह-कातरता,[४] राधा की विपन्नावस्था,[५] कृष्ण के जाते

---

१ प्रियप्रवास ६।१२४-१३०
२ श्रीमद्भागवत पुराण, १०।४६।७-१३
३ प्रियप्रवास ७।११-५७
४ वही ११।१-७४
५. वही ४।२८-५३

समय गोकुलवासियो की विषादपूर्ण स्थिति[1] आदि के जो-जो भाव-चित्र यहाँ अंकित किए गए हैं, उनमे भाव-सौंदर्य की सजीव झाँकी विद्यमान है। परन्तु हरिऔध जी छायावादी कवियो की भाँति भावो के वैसे सजीव चित्र अंकित नही कर सके है, जिनमे भावो की नराकार उद्भावना करते हुए उनके स्वरूप का उद्घाटन किया गया हो, क्योकि भावो के चित्रण की यह प्रणाली छायावादी युग की अपनी विशेषता है, फिर भी कवि ने व्यग्य रूप मे भावो का सुन्दर चित्रण किया है।

कर्म-सौदर्य-विधान—कवि का सबसे अधिक ध्यान कर्म-सौदर्य के विविध चित्र अंकित करने की ओर गया है। यहाँ कवि ने मानवीय कर्मों के विभिन्न रूपो के विभिन्न रंगीन शब्द-चित्र अंकित किए है। कवि ने अपने चरित्र-नायक श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यो की झाँकियाँ दिखाते हुए मानवोचित कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलाया है। उसके इन चित्रो मे कही श्रीकृष्ण ब्रजवासियो का विनाश करने वाले विभीषणाकार प्रचड कालिय नाग को यमुना जल से भगाते हुए दिखाये गये है,[2] कही प्रचड दावानल से अपने साथियो एव गायो का उद्धार करते हुए चित्रित किए गए है,[3] कही चुने हुए दृढ साहसी वीरो के साथ भयंकर जलवृष्टि से बचाने के लिए ब्रजवासियो को गोवर्द्धन की कदराओ मे सुरक्षित पहुँचाने का कार्य करते हुए दिखाये गये है,[4] कही क्रूरकर्मा एवं महा दुरात्मा अघासुर का वध करते हुए दिखाये गये है,[5] कही केशी नामक विशाल अश्व से ब्रजवासियो की रक्षा करते हुए उस महापापी एव बलिष्ठ जीव का वध करते हुए अंकित किए गए हैं[6] और कही व्योमासुर नामक प्रवचक, महाउत्पाती एवं दुरात्मा पशुपाल को मारकर ब्रज के सकट को दूर करते हुए चित्रित किए गए है।[7] इस तरह कवि ने लोकसेवा, परोपकार, विश्व-प्रेम, राष्ट्रीयता, जातीय-प्रेम आदि से ओत-प्रोत श्रीकृष्ण के कर्म-सौदर्य को चित्रित करने के लिए उनके विविध लोकोपकारी कार्यों का उल्लेख किया है।

---

१ प्रियप्रवास ५।२०-७८
२. वही ११।१२-५०
३ वही ११।५६-६६
४ वही १२।१८-७१
५. वही १३।३७-५७
६. वही १३।५८-६७
७ वही १३।६८-८३

यही बात राधा के कार्यो मे भी दिखाई गई है। उसके कर्म-सौदर्य का चित्र अकित करने के लिए कवि ने उसे अधीर एव व्यथित गोपियो को धैर्य बँधाते हुए, उनकी व्यथा दूर करते हुए, नद-यशोदा को सात्वना बँधाते हुए तथा सम्पूर्ण व्रज मे सुख और शान्ति का प्रसार करते हुए अकित किया है।[१] इसी कारण यहाँ कवि का झुकाव कर्म-सौंदर्य के चित्रण की ओर अधिक दिखाई देता है और इसीलिए 'प्रियप्रवास' काव्य को कर्म-सौदर्य का रमणीक चित्र-फलक कहे, तो कोई अत्युक्ति नही। परन्तु कवि ने श्रीकृष्ण के जिस कर्म-सौदर्य को यहाँ अकित किया है, वह केवल कथन रूप मे ही आया है, 'प्रियप्रवास' की रगभूमि पर वे सब कार्य घटित होते हुए नही दिखाये गए है। इसी से यहाँ कर्म-सौदर्य के चित्रो मे उतनी गतिशीलता एव प्रभावोत्पादकता नही आ सकी है, जितनी कि रामचरितमानस के अन्तर्गत राम के वीरोचित कार्यो मे दिखाई देती है। फिर भी राधा के कर्म-सौदर्यपूर्ण चित्रो मे हमे अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता एव प्रभावोत्पादकता के दर्शन होते है, परन्तु एक तो ये चित्र अत्यत अल्प है और दूसरे इनमे विविधता एव सश्लिष्टता का अभाव है। इसलिए कर्म-सौदर्य के ये चित्र भी अधिक मार्मिक एव अधिक आह्लादकारी नही बन सके हैं।

महत्प्रेरणा एव महान् उद्देश्य—महाकवि हरिऔध अपने युग मे प्रचलित लोकहित, लोकसेवा, परोपकार, विश्व-बधुत्व, विश्व-प्रेम आदि भावो से प्रेरित होकर 'प्रियप्रवास' की रचना के लिए अग्रसर हुए जान पडते है। इसके अतिरिक्त वे अवतारी पुरुष के चरित्र को मानवोचित कार्यो से परे अलौकिक एव असभव कार्यों से युक्त दिखाना उचित नही समझते थे, वरन् उसे मानवो के समान कार्य करते हुए तथा मानवो की भाँति ही सुख-दु ख से आन्दोलित होकर स्व-जाति, स्व-देश एव स्वराष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए उदात्त कार्य करते हुए दिखाना अधिक समीचीन समझते थे। इसी कारण आपने अपने युग की विचार-धारा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण के पौराणिक चरित्र मे परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए उसे मानवोचित बनाने की चेष्टा की है तथा उसमे मानवीय आदर्शों की स्थापना की है। मानव-जीवन कैसे उन्नत एवं उत्कृष्ट हो, कैसे आधुनिक मानव अपने कर्त्तव्य की ओर अग्रसर हो, कैसे मानवो के हृदय मे मानवता का सचार हो, कैसे सभी व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति स्नेह एव सौहार्द्र रखते हुए जीवन-व्यतीत करे और कैसे

---

४. **प्रियप्रवास १७।२९-४५**

सम्पूर्ण मानवो के हृदय मे विश्व-प्रेम जाग्रत हो आदि, आदि प्रश्न उनके हृदय को आदोलित करते रहते थे और इन सभी प्रश्नो ने ही कवि को 'प्रियप्रवास' लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। कवि की हार्दिक अभिलाषा भी यही थी कि भारत के नर और नारी लोकहित एव विश्व-प्रेम से परिपूर्ण हो। इसी कारण कवि ने यहाँ श्रीकृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम सबधी कार्यो का उल्लेख करते हुए राधा को भी लोकहित एव विश्व-प्रेम मे लीन दिखाया है। हरिऔध जी की दृष्टि मे यह लोकहित एव विश्व-प्रेम ही धर्म अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्ग का प्रदाता है और इसी के कारण मानव अपने यथार्थ रूप को प्राप्त करता है। इसी कारण आपने नवधा भक्ति सबधी विचारो मे भी आमूल परिवर्तन करके वहाँ लोकहित एव विश्व-प्रेम को ही सबसे बडी भक्ति कहा है, इसी को ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन बताया है और इसी को अपनाने के कारण एक साधारण मानव या मानवी को देवता या देवी के पद को प्राप्त करते हुए अकित किया है। अत. कवि जितनी महान् प्रेरणा से प्रेरित होकर इस काव्य के निर्माण के लिए अग्रसर हुआ है, उसीके अनुरूप उसने काव्य के कलेवर को भी बदलने की चेष्टा की है। उसका यह परिवर्तन युगानुकूल भले ही हो, किन्तु महान् उद्देश्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने मे अधिक सशक्त नही दिखाई देता। हाँ, यदि कवि महाभारत से श्रीकृष्ण के जीवन-सबधी कोई महान् घटना लेकर अपने इस उद्देश्य को दिखाने की चेष्टा करता, तो उसे अधिक सफलता मिल सकती थी। दूसरे, कवि ने इस उद्देश्य से सबधित घटनाओ को 'प्रियप्रवास' के रगमच पर घटित होते हुए न दिखाकर केवल मौखिक रूप मे ही प्रस्तुत किया है इससे भी काव्य की गुरुता, गभीरता एव प्रभावशालीनता मे कमी आ गई है। फिर भी काव्य की प्रेरणा महान् है और काव्य का उद्देश्य भी अत्यत उत्कृष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे काव्य सबधी परम्परागत विचारो के विरुद्ध नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए नये ढग के कथानक, प्रकृति-चित्रण, भाव-रस सबधी सौदर्य आदि को प्रस्तुत किया है और युगानुकूल विचारो को स्थान देते हुए श्रीकृष्ण और राधा के जीवन की आदर्श-झाँकी अकित की है। परन्तु कवि का ध्यान यहाँ पहले तो करुण रस की अविरल धारा प्रवाहित करने की ओर रहा है और आगे चलकर वह लोक-हित एव विश्व-प्रेम से इतना प्रभावित दिखाई देता है कि पग-पग पर इसी की चर्चा करना अधिक समीचीन समझता है। अत भावपक्ष की दृष्टि से सारा काव्य दो भागो मे विभक्त दिखाई देता है उसके प्रथम दस सर्गो मे तो शोक एव विषाद

से भरी हुई करुण रस की धारा बह रही है और आगामी सात सर्गों मे लोक-हित एव विश्व-प्रेम का प्रतिपादन मिलता है। इसीलिए कवि को इसका पहला नाम 'व्रजागना-विलाप' बदलना पडा था, क्योंकि यहाँ विलाप के अतिरिक्त लोक-हित एव विश्व-प्रेम के आदर्श को भी अकित किया गया है। निस्सदेह कवि का यह आदर्श अत्यन्त महान् है और अपने इसी महान् आदर्श के कारण 'प्रियप्रवास' की गणना महाकाव्यो की कोटि मे की जाती है।

प्रकरण ४

प्रियप्रवास का काव्यत्व—कलापक्ष

सर्गबद्धता—साहित्य-शास्त्रो मे लिखा है कि सर्गबन्धात्मक काव्य महाकाव्य कहलाता है। उसमे कम से कम आठ सर्गो का होना अपेक्षित है और ये सर्ग भी ऐसे होते है कि न तो बहुत छोटे और न बहुत बडे, अपितु ये किसी एक वृत्त के अनुकूल पद्यो से युक्त होते है। प्रत्येक सर्ग का नाम उसमे वर्णित इतिवृत्त के अनुसार रखा जाता है और प्रत्येक सर्ग के अत मे उसके अगले सर्ग मे आने वाले वृत्त की सूचना दी जाती है।[1] इस आधार पर विचार करते हुए ज्ञात होता है कि 'प्रियप्रवास' मे भी सर्गबद्धता है। यहाँ सारा काव्य सत्तरह सर्गो मे विभक्त है और अधिकाश सर्ग लगभग समान है जैसे प्रथम सर्ग मे ५१ छद हैं, द्वितीय में ६४, तृतीय मे ८९, चतुर्थ मे ५३, पचम मे ८०, षष्ठ मे ८३, सप्तम मे ६३, अष्टम मे ७०, नवम मे १३५, दशम मे ९७, एकादश मे ९९, द्वादश मे १०१, त्रयोदश मे ११९, चतुर्दश मे १४७, पचदश मे १२८, षोडश में १३६ और सप्तदश मे ५४ छद है। इनमे से नवम सर्ग से लेकर षोडश सर्ग तक कवि ने कथा-विस्तार के कारण सर्गो मे भी कुछ अधिक विस्तार कर दिया है, शेष सभी सर्ग लगभग समान है। सर्गो का यह विस्तार एव सकोच कथावस्तु के विवेचन के आधार पर ही हुआ है और वृत्त के अनुकूल ही समस्त सर्गो की योजना की गई है। जैसे कथा भाग के विस्तृत वर्णन के लिए विस्तृत सर्ग का और किसी एक भाव से संबधित वृत्त का उल्लेख करने के लिए प्राय. छोट-छोटे सर्गों का प्रयोग किया गया है। यहाँ किसी भी सर्ग के नाम नही दिए गए है, परन्तु प्रत्येक सर्ग के अत मे आगामी कथा की सूचना देने के लिए योजना बनाई गई है। जैसे प्रथम सर्ग के अतिम छदो

---

१ साहित्य दर्पण ६।३१५, ३२०, ३२१

मे व्रजभूमि मे छाये हुए अधकार और नीरवता का वर्णन करके आगामी सर्ग मे आने वाले कृष्ण गमन सबधी निराशाप्रद समाचार की ओर सकेत किया गया है तथा व्रजभूमि की चित्रपटी पर से श्रेष्ठ चित्र के रहित होने का उल्लेख करके कृष्ण के व्रज छोड कर चले जाने की ओर भी सूचित किया गया है।[1] इसी तरह द्वितीय सर्ग के अत मे "दुख-निशा न हुई सुख की निशा' कहकर जिस भयानक दुख-निशा की ओर सकेत किया है,[2] उसी का वर्णन आगामी तृतीय सर्ग मे किया गया है। इसी तरह तृतीय सर्ग के अत मे दुखभरी विभावरी मे यमुना के प्रवाह के रूप मे व्रज की धरा को रुदन करता हुआ कहकर आगामी सर्ग मे व्रजेश्वरी राधा के रुदन करने की ओर सकेत किया गया है।[3] यही बात अन्य सर्गो मे भी विद्यमान है। अत कवि ने 'प्रियप्रवास' की कथा को उचित सर्गो मे विभाजित करके शास्त्रीय नियमानुसार सर्गो का प्रयोग किया है, जिनमे महाकाव्योचित गरिमा, विस्तार एव रमणीयता के दर्शन होते है।

विवरणात्मकता आदि—महाकाव्य के लिए अपेक्षित है कि उसकी कथा विवरण प्रधान होनी चाहिए। उसका आरम्भ मगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होना चाहिए। उसमे खल-निन्दा तथा सज्जनो की प्रशसा रहनी चाहिए और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या नायिका अथवा अन्य किसी प्रमुख पात्र या घटना के आधार पर होना चाहिए।[4] इस दृष्टि से भी विचार करने पर पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की कथा पूर्णतया विवरणात्मक है, उसमे स्थान-स्थान पर कवि ने विवरणो को महत्व देते हुए किसी न किसी पात्र के मुख से या अपनी ओर से सारी कथा को कहा है और उसे गतिशीलता प्रदान की है। इतना अवश्य है कि किसी-किसी सर्ग मे कवि विवरण देने मे इतना तल्लीन हो गया है कि कथा-भाग आगे नही बढ सका है और कवि एक ही स्थल की विविधता का वर्णन करता रहा है। जैसे नवम सर्ग में कवि वृन्दावन एव गोवर्द्धन की प्राकृतिक सुषमा का विवरण देने मे इतना सलग्न दिखाई देता है कि वहाँ कथा की गति शिथिल

---

१ **प्रियप्रवास २।४८-५१**

२ **प्रियप्रवास २।६४**

३. **वही ३।८८-८६**

४ **साहित्य दर्पण ६।३१६,३२४**

हो गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्गो मे भी कथा कहने के लिए एक के बाद दूसरा पात्र रगमच पर आकर ऐसा उपस्थित होता है कि उससे भी कथानक मे त्वरा एव विवरण मे गतिशीलता का अभाव खटकने लगा है और सम्पूर्ण घटनाये लम्बे-लम्बे भाषणो के समान पाठको के हृदय मे ऊब उत्पन्न कर देती है। साथ ही ये काव्य के वे मार्मिक स्थल भी नही है, जहाँ पाठको का हृदय कुछ क्षण के लिए विराम लेकर रसानुभूति का आनद ले सके। अत कथानक मे विवरणात्मकता के होते हुए भी घटना-क्रम-सबधिनी गतिशीलता एव व्यापार-प्रदर्शन के अभाव के कारण गुरुता एव गभीरता के साथ-साथ कथानक की गत्यात्मकता के दर्शन नही होते और इसीलिए काव्य की यह विवरणात्मकता अधिक आह्लादकारिणी नही है।

यद्यपि यहाँ मगलाचरण नही है और आधुनिक युग मे इस नवीनता को प्रारम्भ करने का श्रेय 'प्रियप्रवास' को ही है, तथापि विद्वानो ने 'दिवस का अवसान समीप था' इस पक्ति मे आये हुए प्रथम 'दिवस' शब्द को 'दिव्' धातु से बना हुआ द्युतिवाचक अथवा प्रकाशवाचक बतलाकर इसी शब्द को मगलाचरण का द्योतक कहा है।[1] वैसे देखा जाय तो प्रारम्भिक छद मे मगलाचरण भले ही न हो, किन्तु वह वस्तुनिर्देशात्मक अवश्य है, क्योकि 'प्रियप्रवास' की कथा मे ब्रज-भूमि के आनन्द और उल्लास के अवसान का जो वर्णन किया गया है, उसकी सूचना 'दिवस का अवसान' कहकर दी गई है, साथ ही 'गगन के लोहित होने'[1] मे स्पष्ट ही रोते-रोते ब्रजवासियो की आँखो के लोहित हो जाने का सकेत विद्यमान है, क्योकि नीली अथवा काली आँखे 'गगन' के समान है और 'कमलिनी-कुल-वल्लभ' मे समस्त ब्रजकुल के प्राणाधार श्रीकृष्ण की ध्वनि विद्यमान है। उनकी प्रभा के चले जाने से ब्रजवासियो के जीवन मे पहले रोते-रोते आँखो मे लालिमा छा जाती है और फिर उनके सम्पूर्ण प्रदेश मे सदैव के लिए अन्धकार छा जाता है—कवि ने इसी कथा को सकेत रूप मे प्रथम पद्य के अतर्गत कहा है। इसलिए मगलाचरण द्वारा मंगलात्मक प्रारम्भ की अपेक्षा यहाँ कवि ने वस्तुनिर्देशात्मक आरम्भ को अपनाया है।

कवि ने सम्पूर्ण ग्रथ मे खल-निंदा एव सज्जन-प्रशसा को कितने ही स्थलो पर अकित किया है। द्वितीय सर्ग मे ही तृणावरतीय विडम्बना का

---

१ **हरिऔध और उनका प्रियप्रवास, पृ० ५६**

उल्लेख करके कवि ने बकासुर, अघासुर, केशी, व्योमासुर आदि दुष्टो के अनर्थकारी कृत्यो का उल्लेख करके 'दुरन्त-नराधिप-कस' के भयकर कुचक्र आदि का वर्णन किया है और उनके कुकर्मो की निंदा की है।[२] इसी तरह एकादश सर्ग मे श्रीकृष्ण के मानवोचित सत्कार्यो की विवेचना करते हुए उन्हे दिव्य सुगध से परिपूर्ण सरोज, सुपुष्प से सज्जित पारिजात तथा बिना कलक का मयंक कहते हुए उनके अपूर्व गुण, रसीली वाणी, विनम्रता, विशेष प्रीति आदि की प्रशसा की है और ब्रज मे पीडा देने वाले विनाशकारी कालियनाग की निंदा के रूप मे खलो की निंदा की है।[१] इसी प्रकार द्वादश सर्ग मे भयकर वर्षा से ब्रज-जनो की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण का उल्लेख करके उनकी वाणी की सरसता, लोकहित, विनम्रता, शिष्टता, विश्व-मैत्री, विनोद-प्रियता, गुरुजनो के प्रति श्रद्धा, विपद्ग्रस्तो की रक्षा आदि गुणो का वर्णन करके सज्जनो के सत्कार्यो की प्रशसा की है[२] तथा त्रयोदश सर्ग मे अघासुर की करालता, उपद्रव-प्रियता एव निष्ठुर विभीषिका, केशी की प्रवचना, दुरात्मकता एव दुरन्तता, व्योमासुर की समाज-उत्पीडक-प्रवृत्ति, पैशाचिक क्रियायें, पामरता आदि का उल्लेख करके खलो के निंदनीय कार्यो का वर्णन किया है।[3] इस तरह कवि ने स्थान-स्थान पर सज्जनो के सत्कर्मो की प्रशसा तथा खलो के असत् कार्यो की घोर निंदा की है।

इस काव्य के नामकरण के बारे मे पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि पहले कवि ने इसका नाम 'ब्रजागना-विलाप' रखा था, परन्तु फिर इस काव्य मे वर्णित प्रमुख घटना के आधार पर 'प्रियप्रवास' नाम रखा, जो सर्वथा समीचीन है।

शब्द-विधान—काव्य मे शब्द-विधान ही सबसे महत्वशाली है, क्योकि कवि अपने हृदयस्थ गूढ रहस्यो को शब्दो के द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। शब्दों मे ही वह शक्ति भरी हुई होती है, जो भावो के बिम्बग्राही चित्र अकित करती हुई पाठको के हृदय मे उन्ही भावो को जाग्रत कर देती है, जो कि कवि के हृदय मे उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए यदि शब्दो मे प्रेषणीयता का गुण नही है, यदि किसी काव्य मे शब्द-विधान शिथिल है अथवा यदि काव्य मे भावानुकूल

---

१ **प्रियप्रवास २।४६-४६**

२ **वही ११।६-१७**

३ **वही १२।७८-६०**

४. **वही १३।३६-८२**

शब्दो का प्रयोग नही हुआ है, तो वह काव्य सहृदय-रजनकारी न होगा, उससे कवि के अभीष्ट की सिद्धि न होगी और वह साहित्य-क्षेत्र मे समादृत न होगा। इसी कारण प्रत्येक कवि शब्द-विधान के बारे मे अत्यन्त जागरूक रहता है। सभवत इसी कारण शब्द को ब्रह्म भी कहा गया है, क्योकि यही कवि की 'नियतिकृत नियम रहिताम्' 'अनन्य परतत्राम्' तथा 'आह्लादकारिणीम्' कृति का विधायक होता है और इसी की साधना करके कवि ब्रह्मास्वादसहोदर रस की सिद्धि मे सफलता प्राप्त करता है। इस शब्द-विधान के बारे मे विभिन्न विद्वानो की विभिन्न राय हैं।[1] परन्तु इतना सभी मानते है कि किसी भी काव्य के लिए भावानुकूल चित्रोपम शब्दो का चयन अपेक्षित होता है। उन शब्दो मे यदि लाक्षणिकता हो या वे व्यग्यात्मक हो तथा लोक-रुचि के विरूद्ध न हो, तो उनसे असाधारण प्रभाव की सृष्टि होती है और यदि वे नादात्मक सौदर्य एव ध्वन्यात्मकता से परिपूर्ण होते हैं, तो उनसे सहज ही कोई भाव पाठको को हृदयगम करने मे सुविधा होती है। किन्तु उनका व्याकरण-सम्मत होना आवश्यक है और यदि उनमे मुहावरे, लोकोक्ति आदि का समावेश हो तो वे और भी रसात्मक हो जाते हैं।

चित्रोपमता—'प्रियप्रवास' मे हरिऔध जी ने भी पर्याप्त मात्रा मे चित्रोपम शब्दो का प्रयोग किया है, जिनमे भावानुकूलता के साथ-साथ कवि की प्रौढ अभिव्यक्ति एव व्यग्यात्मक रचना-शैली विद्यमान है। उदाहरण के लिए तृतीय सर्ग के प्रारम्भ मे 'सुनसान निशीथ' का चित्र अकित करने के लिए कवि ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उससे पाठको के मस्तिष्क मे अनायास ही एक चित्र-सा अकित हो जाता है। जैसे—

सकल पादप नीरव थे खड़े। हिल नही सकता एक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही। पतित था अवनी पर हो रहा।

अथवा

अवश तुल्य पढा निशि अक मे। अखिल-प्राणि-समूह अवाक था।
तरु-लतादिक बीच प्रसुप्ति की। प्रबलता प्रतिबिम्बित थी हुई।
रुक गया सब कार्य-कलाप था। वसुमती-तल भी अति मूक था।
सचलता अपनी तज के मनो। जगत था थिर होकर सो रहा।

---

१ **शब्द-विधान के लिए देखिए लेखक कृत 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० २१२–२१६**

इसी तरह कवि ने शोक एव करुणा का वातावरण अकित करने के लिए अत्यत सशक्त एव मार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसको पढते ही पाठको के मस्तिष्क मे अनायास ही शोक का चित्र सा अकित हो जाता है और हृदय मे करुणा का सागर उमडने लगता है। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित पक्तियाँ देखी जा सकती है —

हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परम-प्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।
कैसे होके अलग तुझसे आज भी मै बची हूँ।
जो मै ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यो बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा बदन मरती बार मैने न देखा।

इन पक्तियो मे कवि ने करुणा व्यजक पदावली का प्रयोग करते हुए यशोदा के हृदय की मार्मिक व्यथा को जो साकार रूप प्रदान किया है, उसमे भावानुकूल शब्दो की योजना होने के कारण चित्रोपमता का गुण विद्यमान है।

वर्ण-मैत्री—कवि ने काव्य को कर्ण-प्रिय एव पढने मे सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए कही-कही वर्णमैत्री का अत्यत सु दर प्रयोग किया है। इस वर्ण-मैत्री के अतर्गत स्वरमैत्री तथा व्यजनमैत्री दोनो का विधान आता है अर्थात् जहाँ पर भाव-सूचक एक से स्वरो की योजना की जाती है वहाँ स्वरमैत्री होती है और जहाँ पर भावोद्बोधक अथवा रसानुकूल एक से व्यजनो की योजना की जाती है, वहाँ व्यजन-मैत्री होती है। कवि ने उक्त दोनो मैत्रियो का प्रयोग 'प्रियप्रवास' मे किया है। स्वर-मैत्री के उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ ली जा सकती है —

सद्भावाश्रयता अचिन्त्य-दृढता निर्भीकता उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का।

यहाँ कवि ने दीर्घ 'आ' का अधिक प्रयोग करके गिरिराज गोबर्द्धन की दीर्घता, महानता, गुरुता, दृढता आदि की ओर सकेत किया है, जिसकी ध्वनि शब्दो की दीर्घता एव 'आ' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट सुनाई पड रही है। इसी तरह व्यजन-मैत्री के लिए निम्नलिखित पक्तियो को लिया जा सकता है :—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था ।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी ।
पोरो मे कब ईख की विपुलता है ग्रथियो की भली ।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नही ।

यहाँ पर कवि ने 'क' व्यजन की मैत्री द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए पद को अत्यत सरस एव सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है ।

नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मकता—इसी वर्ण-मैत्री का तनिक विकसित रूप नाद-सौदर्य या ध्वन्यात्मकता के नाम से प्रसिद्ध है । इसके द्वारा शब्दो की ऐसी योजना की जाती है, जिससे किसी पदार्थ या व्यापार की विशेष क्रिया स्वय ध्वनित होती है । इस नाद-सौदर्य की सृष्टि के लिए कविजन वस्तु की अभिव्यजना करने वाले विशिष्ट शब्दो की योजना किया करते है । अँग्रेजी मे इसे ओनोमैटोपोइया (Onomatopoeia) कहते है । कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास मे यत्र-तत्र ऐसी शब्द-योजना भी की है, जहाँ नाद-सौदर्य अथवा ध्वन्यात्मकता विद्यमान है । जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे वर्षाकालीन बादलो के घिरने, बिजली के कडकने, मेघो के तीव्रता पूर्वक घुमडने आदि की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है :—

अशनि-पात-समान दिगन्त मे । तब महारव था बहुव्यापता ।
कर विदारण वायु प्रवाह का । दमकती नभ मे जब दामिनी ।
मथित चालित ताडित हो महा । अति प्रचड-प्रभजन-वेग से ।
जलद थे दल के दल आरहे । घुमडते घिरते ब्रज-घेरते ।

इसी तरह ग्रीष्मकालीन प्रचड लू, सूर्य की महा-प्रचडता, पेडो की भयानक प्रकम्पनावस्था, वसुन्धरा की तप्तावस्था, प्राणियो की व्यग्रता आदि से युक्त निदाघ की भयकर ध्वनि निम्नलिखित पक्तियो मे सुनी जा सकती है :—

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगत मे । ज्वलत था आतप ज्वाल-माल-सा ।
पतग की देख महा-प्रचडता । प्रकम्पिता पादप-पुज-पक्ति थी ।
रजाक्त आकाश दिगन्त को बना । असख्य वृक्षावलि मर्दनोद्यता ।
मुहुर्मुहुः उद्धत हो निनादिता । प्रवाहिता थी पवनाग्नि भीषणा ।
विदग्ध होके कण-धूलि राशि का । हुआ तपे लौह कणो समान था ।
प्रतप्त-बालू-इव दग्ध-भाड की । भयकरी थी महि-रेणु होगई ।
असह्य उत्ताप दुरत था हुआ । महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था ।
शरीरियो की प्रिय-शान्ति-नाशिनी । निदाघ की थी अति उग्र ऊष्मता ।

लाक्षणिकता तथा व्यजनात्मकता—हरिऔधजी ने कही-कही भावो की गहनता, कलात्मकता एव चमत्कार-प्रदर्शन के लिए लाक्षणिक एव व्यजनात्मक शब्दो का भी प्रयोग किया है, वैसे सर्वत्र अभिधा की ही प्रधानता है। इन लाक्षणिक प्रयोगो के द्वारा कवि ने सूक्ष्म मनोभावो एव विशिष्ट रूप-व्यापारो के अत्यत हृदयग्राही चित्र अकित किए है। जैसे,

बहु भयकर थी यह यामिनी। विलपते ब्रज-भूतल के लिये।
तिमिर मे जिसके उसका शशी। बहु कला-युत होकर खो चला।

इन पक्तियो मे 'ब्रजभूतल का विलपना' अर्थात ब्रजभूमि पर रहने वाले प्राणियो का विलाप करना, 'तिमिर मे उसका शशी खोना' अर्थात् इस दुख के गहन अन्धकार मे श्रीकृष्ण का सदैव के लिए ब्रज से चले जाना और 'शशी का बहु कला-युक्त होना' अर्थात् ब्रज मे रहकर श्रीकृष्ण का अनेक मानवोचित गुणो से युक्त होना आदि वर्णित है। अत यहाँ कवि ने लाक्षणिक पदावली द्वारा कृष्ण-गमन की अत्यत मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इसी तरह भयकर दु ख के लिए 'अति-प्रचड समीरण' का प्रयोग करते हुए कवि ने कस द्वारा श्रीकृष्ण के लिए भेजे गये निमत्रण मे छिपे हुए भयानक दु.ख के बारे मे सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग किया है—

परम-कोमल-बालक श्याम ही। कलपते कुल का यक चिह्न है।
पर प्रभो! उसके प्रतिकूल भी। अति-प्रचड समीरण है उठा।

यही बात व्यजनात्मक प्रयोगो के बारे मे भी है। कवि ने अपनी शब्द योजना द्वारा कही-कही किसी एक भाव या किसी परिस्थिति की अतीव सुन्दर व्यजना की है। जैसे कवि ने सध्या की मनोरम झाँकी दिखाकर फिर अचानक सूर्य के तिरोहित हो जाने एव ब्रज मे भयकर अधकार के घिर जाने का वर्णन करके ब्रज के आनद एवं उल्लासमय जीवन के एकमात्र आधार ब्रज के सूर्य श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन एव उनके जाते ही ब्रज मे निराशा, शोक, उदासी आदि के घिर जाने की बड़ी सुन्दर व्यजना की है —

"इधर था इस भाँति समा बँधा। उधर व्योम हुआ कुछ और ही।
अब न था उसमे रवि राजता। किरण भी न सुशोभित थी कही।
अरुणिमा-जगती-तल-रजिनी। वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नव-राग-मयी दिशा। अवनि थी तमसावृत हो रही।

यद्यपि इस प्रकार के प्रयोगो की यहाँ भरमार नही है, तथापि जो कुछ भी वर्णन मिलते हैं उनमे कवि की कलात्मकता, सूक्ष्मनिरीक्षण की अद्भुत

एव वर्णन-कौशल आदि गुण विद्यमान है, जो काव्य के कला-सौष्ठव के परिचायक है।

लोकोक्ति एवं मुहावरे—कवि हरिऔध लोकोक्ति एव मुहावरे के प्रयोग मे बडे ही सिद्धहस्त है। इसके लिए उन्होने एक बृहत् ग्रथ 'बोलचाल' के नाम से लिखा है, जिसमे नाखून से लेकर चोटी तक जितने भी मुहावरे बन सकते है, उनका प्रयोग करते हुए कविता की है। इनके 'चौखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' भी मुहावरो एव लोकोक्तियो से भरे पडे हैं। यहाँ तक कि कवि ने गद्य मे भी बडी सरसता, सरलता एव सफाई के साथ मुहावरो का प्रयोग किया है। इसमे कोई सदेह नही कि लोकोक्तियो एव मुहावरो के कारण कोई भी भाषा अत्यत सशक्त, सरस और प्राणवान बन जाती है, उसमे भावो के निरूपण की एक अद्भुत क्षमता आ जाती है और वह उक्ति-सौष्ठव एव अर्थ-गाभीर्य से परिपूर्ण होकर पाठक एव श्रोताओ के हृदय को आह्लाद-कारिणी प्रतीत होती है। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे भी लोकोक्ति एव मुहावरो का अत्यधिक प्रयोग किया है, जिनमे से कतिपय मुहावरे एव लोकोक्तियो के उदाहरण नीचे दिये जाते है :—

मुहावरे—

(१) समा बँधना— इधर था इस भाँति समा बँधा।
(२) दिन खोटे होना— दिन फल जब खोटे हो चुके हैं हमारे।
(३) देखने की ताव न लाना— वह दुख लखने की ताब क्या है न लाते।
(४) लज्जा से मुँह छिपाना— वह मुख अपना हैं लाज से या छिपाते।
(५) बाते कान न करना— बाते मेरी कमलिनिपते! कान की भी न तूने।
(६) पत्थरो को रुलाना— नाना बाते दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
(७) हृदय पर साँप लोटना — हा! हा! मेरे हृदय पर यो साँप क्यो लोटता है।
(८) प्रेम मे पगना— पूरा-पूरा दिवस पति के प्रेम मे तू पगा है।

लोकोक्तियाँ—

(१) अवनि मे ललना जन जन्म को विफल है करती अनपत्यता।
(२) हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तूने कहाँ की नहीं।
(३) वह कब टलता है भाल मे जो लिखा है।
(४) आशा की है अमित महिमा धन्य है दिव्य आशा।
जो छूके है मृतक बनते प्राणियो को जिलाती।
(५) नौका ही है शरण जल मे मग्न होते जनो की।

(६) ऊधो ! माता सदृश ममता अन्य की है न होती ।

(७) जो जी मे है सुरसरित सी स्निग्ध धारा बहाता ।
बेटा ही है अवनि-तल मे रत्न ऐसा निराला ।

(८) प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ।

(९) कुल-कामिनी को स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता ।

(१०) ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है ।

ब्रजभाषा के शब्द—'प्रियप्रवास' की रचना सस्कृत के तत्सम शब्द-प्रधान विशुद्ध खडी बोली मे हुई है । खडी बोली को सस्कृत-गर्भित लिखने का कारण यह है कि कवि ऐसी ही खडी बोली को राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त समझता था, जिसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो की बहुलता हो, क्योकि ऐसी भाषा को ही बगाली, गुजराती, मरहठी, मद्रासी और पजाबी सुगमता से समझ सकते है और ऐसी ही हिन्दी सम्पूर्ण देश मे समादर प्राप्त कर सकती है ।[1] परन्तु विशुद्ध खडी बोली का प्रयोग करते हुए भी कवि ब्रजभाषा के मोह को संवरण नही कर सका है और जहाँ आवश्यकता समझी है, तुरत ब्रजभाषा के शब्द अपना लिए है । इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि कवि ने अपनी कविताओ का श्रीगणेश ब्रजभाषा मे ही किया था और उस समय तक ब्रजभाषा का ही काव्य-क्षेत्र मे एक छत्र राज्य था । इसके साथ ही कवि ने ब्रजभाषा मे कितनी ही सुन्दर एव सरस कविताएँ भी लिखी थी, जिनका सकलन 'रस कलस' के नाम से आज भी प्राप्य है और जो कवि के रचना-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण है । अतः कवि ब्रजभाषा के लालित्य एव माधुर्य से इतना प्रभावित था कि विशुद्ध खडी बोली को अपनाते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इस काव्य मे सस्कृत-गर्भित खडी बोली मे रचना हो रही है, उसने ब्रज-भाषा के अधिकाश शब्दो को अपनाया है तथा स्थान-स्थान पर उन्हे जड़ने का प्रयत्न किया है । यह दूसरी बात है कि वे शब्द ब्रजभाषा मे अत्यत सरस और सुन्दर हो, परन्तु यहाँ खडी बोली के मध्य मे उनकी रमणीयता एव सरसता जाती रही है और वे भद्दे एव ग्रामीण से जान पडते है । जैसे—ढिग, जुगुत, छन-सुअन, मुँडेरे, यक, लैरू, अकले, ठौरो, याँ, वाँ, लाँबी, ओखे, बेड़ी, ओट, कसर, धौल, फेर आदि ।[2] इन शब्दो के प्रयोग द्वारा कविता मे कोई विशेष

१, प्रियप्रवास-भूमिका, पृ० ९ ।

२. देखिए प्रियप्रवास क्रमशः १।३१, ४।४०, ५।५४, ६।४९, ४।१, १०।७०, ८।६०, १०।९२, १२।१, १३।१०९, १३।८३, १४।५८, १४।१५, १५।२, १५।२८, १५।६० १६।६७ ।

माधुर्य एवं सौदर्य की सृष्टि नही हुई है, अपितु ये शब्द वर्णिक वृत्तो की पूर्ति के लिए ही यहाँ अपनाए गए है। अत ये काव्य-सौदर्य मे वृद्धि न करके उसके विघातक से ही जान पड़ते है।

ब्रजभाषा की क्रियायें—हरिऔध जी ने इन शब्दो के अतिरिक्त ब्रजभाषा की क्रियाये भी अत्यधिक मात्रा मे अपनायी है। जैसे—बगरना, पैन्हना, जतलाना, उलहना, कढना, सधना, पिन्हाना, धँसना, दुरना, विलपना, बधना, लसना, काढना, लौटालना, लखना, जनाना, ऊबना, ताकना, कलपाना, बोधना आदि।[1] इनमे से अधिकाश क्रियाओ का प्रयोग बार-बार हुआ है। यद्यपि ये सभी क्रियायें ब्रजभाषा मे अत्यत सरस एव भावोद्बोधक मानी जाती है और इनका 'कोमल कान्त वदन' भी अत्यत आकर्षक है, तथापि खडी बोली के अतर्गत इनका अनधिकार चेष्टा करना सुन्दर एव सुखद नही जान पडता। यह सम्मिश्रण तो ग्रामीण एव नागरिक स्त्रियो के मिलन जैसा दिखाई देता है, क्योकि जैसे ग्रामीण स्त्रियाँ अपनी बोलचाल और अपनी वेश-भूषा के कारण नगर की स्त्रियो मे अलग दिखाई देती है तथा उन्हे पहचानने मे कोई आपत्ति नही होती, वही दशा 'प्रियप्रवास' मे प्रयुक्त ब्रजभाषा की क्रियाओ की है। यहाँ पर भले ही ये क्रियाये अपने कमनीय कलेवर से काव्य के सौदर्य की वृद्धि करने के लिए प्रयुक्त हुई हो, परन्तु उनके प्रयोग द्वारा सौदर्य-वृद्धि की अपेक्षा कुछ ह्रास ही हो गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पक्तियाँ देखिए :—

(१) कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कही भी **कढ़े** तू।

(२) पीला प्यारा वसन कटि मे **पैन्हते** है फबीला।

(३) है पुष्प-पल्लव वही ब्रज भी वही है।
ए है वही न घनश्याम बिना **जनाते**।

यहाँ कढे, पैन्हते और जनाते क्रियाओ का प्रयोग कितना अशोभनीय एव अरुचिकर दिखाई देता है, यह सभी काव्य-मर्मज्ञ जानते है। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रवृत्ति एव अपनी गति होती है। यदि उसमे किसी अन्य भाषा के शब्द या क्रियापद आकर बैठ जाते है, तो उसकी गति, सरसता एव धारा-वाहिकता मे व्याघात उत्पन्न हो जाता है और उसका सौदर्य भी किसी सीमा

---

१ **देखिए प्रियप्रवास क्रमशः** १।२५, ६।५७, ६।७२, ८।४१, ८।६३, ९।१०४, १०।४४, ११।९४, १२।४, १२।६९, १३।७७, १३।९२, १४।४६, १४।७५, १४।७६, १४।१४२, १४।१४५, १५।७६, १५।११८, १७।१८

तक नष्ट हो जाता है। इसका यह अर्थ नही है कि किसी दूसरी भाषा के शब्द या क्रियापद लेने ही नही चाहिए। लेने तो अवश्य चाहिए, परन्तु जब अपने पास न हो और उनके लेने से सौदर्य-वृद्धि होती हो, तो ऐसे शब्दो का स्वागत करना अपेक्षित है। फिर भी हरिऔध जी ने उक्त क्रियापद या शब्द इसलिए अपनाये हैं कि यदि उनके स्थान पर खडी बोली के शब्दो या क्रियापदो का प्रयोग किया जाता, तो छद या वृत्त मे दोष आजाता। अत. वृत्त या छद की सीमा एव उसकी निर्दोषता के विचार से ही आपने ब्रजभाषा के शब्द अपनाए हैं। परन्तु इसमे कोई सदेह नही कि इन प्रयोगो की अधिकता ने भाषा-सौदर्य को कही-कही अत्यधिक हानि पहुँचायी है।

संस्कृत के शब्द—हरिऔध जी ने सस्कृत के कुछ शब्द तो बिल्कुल वैसे ही अपना लिए है, जैसे कि सस्कृत भाषा मे प्रयुक्त होते है। इसमे कोई सदेह नही कि हिन्दी भाषा के भण्डार को सस्कृत के शब्दो ने ही अधिक मात्रा मे परिपूर्ण किया है। परन्तु सस्कृत के तत्सम शब्दो की अपेक्षा उसके रूपो का ज्यो का त्यो हिन्दी मे प्रयोग करना सर्वथा अनुचित जान पडता है। जैसे—यदिच, सच्छास्त्र, मिथः, किम्बा, मुहुर्मुहु, बहुश, इस्ततत, वरच, किंच, एकदा, स्वीय, स्वल्प, ईदृशी, अत्युज्ज्वला, स्वकीया, प्रायश., तथैव, मदीय, त्वदीय, स्वभावत. आदि।[1] इन शब्दो को अपनाने के कारण हरिऔध जी का सस्कृत ज्ञान तो अवश्य प्रकट होता है और भाषा को समृद्ध बनाने का प्रयत्न भी दिखाई देता है, परन्तु ऐसे प्रयोग भी अधिकतर भाषा की धारा-वाहिकता मे बाधक होते है तथा उनसे कोई विशेष रमणीयता एव सरसता की वृद्धि नही होती।

अन्य भाषाओं के शब्द—हरिऔध जी ने कुछ अप्रचलित अन्य भाषाओ के शब्दो का भी अपने काव्य मे प्रयोग किया है। जैसे कई स्थानो पर फारसी "जुदा" शब्द को अपनाया गया है,[2] इसके अतिरिक्त एक स्थान पर कवि ने पजाबी भाषा के 'बेले' शब्द को भी अपनाया है।[3] जो 'समय' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अन्य भाषाओ की भरमार यहाँ नही है।

---

१ देखिए प्रियप्रवास क्रमश ३।७९, ४।८, ६।४, ९।७५, ११।४१, १३।४३, १३।४७, १३।६२, १३।७९, १४।२, १४।२४, १४।३१, १४।७३, १४।९३, १४।४५, १५।१८, १५।५५, १५।८८, १५।९१, १६।२३।

२. देखिए प्रियप्रवास ५।४८, ७।३४

३ वही १४।२६

विकृत शब्द—हरिऔध जी ने वृत्त के आग्रह से अथवा सरसता के अनुरोध से कुछ शब्दो का विकृत रूप मे प्रयुक्त करना अधिक समीचीन समझा है। जैसे—छन-छन (क्षण-क्षण), जुगुत (युक्ति), अकले (अकेले), लाँबी (लम्बी), छिप्रता (क्षिप्रता), तीखी (तीक्ष्ण), गेह (गृह), जसुदा (यशोदा), रतन (रत्न), पै (पर), सरवस (सर्वस्व), मरम (मर्म), माधो (माधव), ढीठ (धृष्ट), थिर (स्थिर), सँदेसा (सदेश), फेर (फिर), आदि।[1]

व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग—'प्रियप्रवास' मे कुछ स्थल ऐसे भी मिल जाते है, जहाँ पर कवि ने व्याकरण की ओर ध्यान न देकर नवीन ढग से शब्दो का प्रयोग किया है। ये सभी वर्णन च्युति-सस्कृति दोष के अन्तर्गत आते है। नीचे इन अशुद्ध प्रयोगो के कतिपय उदाहरण दिये जाते है :—

(१) दश-दिशा अनुरजित हो गई।[2]

यहाँ पर दश शब्द बहुबचन है। अत॰ 'दिशाये' तथा 'होगईं' शब्दो का प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु कवि ने एक वचन का ही प्रयोग किया है।

(२) पलक लोचन की पडती न थी।[3]

कवि ने 'पलक' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग मे किया है, जबकि हिन्दी मे यह शब्द प्राय॰ पुल्लिग मे प्रयुक्त होता है।

(३) हा हा खाया बहु विनय की और कहा खिन्न होके।[4]

यहाँ कवि ने 'हा हा खाई' के स्थान पर 'हा हा खाया' प्रयोग किया है, जो सर्वथा व्यवहार के विरुद्ध है।

साराश यह है कि कवि ने काव्य की गुरुता, गम्भीरता एवं महानता के अनुकूल ही अत्यन्त उत्कृष्ट शब्द-विधान किया है। यहाँ सस्कृत के तत्सम शब्दो का ही बाहुल्य है और सस्कृत की प्रणाली का ही प्रयोग सर्वाधिक दिखाई देता है। इसका मूल कारण यह है कि कवि ने सस्कृत के वृत्तो मे ही सारा काव्य लिखा है और उन वृत्तो के अनुकूल सस्कृत के ही सज्ञापद एव

---

१. देखिए प्रियप्रवास क्रमश. ४।३६, ४।४०, ८।६०, १३।८४, १३।९३, १४।२७, १४।४६, १४।७०, १४।१२७, १५।१६, १५।२९, १५।३१, १५।६२, १६।३६, १६।६७।

२. वही १।३

३. वही १।२७

४. वही ५।६६

विशेषणपद अधिक उपयुक्त ठहरते है। इसी कारण कवि ने हिन्दी की प्रवृत्ति के विरुद्ध स्त्रीलिंग सज्ञापदो के लिए स्त्रीलिंग विशेषणो का ही प्रयोग किया है। जैसे—"राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा" आदि। इसके अतिरिक्त कवि ने ब्रजभाषा के शब्दो को अधिक इसलिए अपनाया है कि वह ब्रजभाषा को कोई पृथक् भाषा नही मानता। उसका मत है— "ब्रजभाषा कोई पृथक् भाषा नही है, इसके अतिरिक्त उर्दू-शब्दो से उसके शब्दो का हिन्दी भाषा पर विशेष स्वत्व है। अतएव कोई कारण नही है कि उर्दू के शब्द तो निस्सकोच हिन्दी मे गृहीत होते रहे और ब्रजभाषा के उपयुक्त और मनोहर शब्दो के लिए भी उसका द्वार बंद कर दिया जावे। मेरा विचार है कि खडी बोलचाल का रग रखते हुए जहाँ तक उपयुक्त एव मनोहर शब्द ब्रजभाषा के मिलें, उनके लेने मे सकोच न करना चाहिए।"[१] यही कारण है कि ब्रजभाषा के शब्द ही नही, अपितु क्रियाये भी लेने मे कवि ने तनिक भी सकोच नही किया है। यह दूसरी बात है कि वे शब्द या क्रियापद किसी को अच्छे लगे या न लगे, परन्तु कवि ने अपनी धारणा के अनुसार खुले आम उनका प्रयोग किया है।

'प्रियप्रवास' की भाषा का स्वरूप—शब्दो का विवेचन करने के उपरान्त प्रियप्रवास की भाषा का जानना अत्यन्त सुगम एव सरल हो जाता है। 'प्रियप्रवास' मे सस्कृत गर्भित खडी बोली को अपनाया गया है। इसलिए कवि का झुकाव बोलचाल की भाषा से सर्वथा दूर सस्कृतमयी पदावली को अपनाने की ओर अधिक रहा है। परन्तु ऐसा नही है कि कवि ने सरल एव सुबोध बोलचाल की खड़ी बोली भाषा का प्रयोग न किया हो। 'प्रियप्रवास' मे इसी कारण हमे भाषा के दोनो रूप मिल जाते है अर्थात् यहाँ संस्कृत के तत्सम शब्द एव समास-बहुला-पदावली-युक्त भाषा का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—

> "रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
> तन्वगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली।
> शोभा वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य लीलामयी।
> श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य की मूर्ति थी।

अथवा—

> नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद-आपूरिता।
> लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभगिमा-पडिता।

---

१. **प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० ५६**

वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता ।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आदोलिता ।

और इसके साथ ही यहाँ अत्यन्त सरल, सरस एव सुबोध बोलचाल की भाषा भी अपनाई गई है । जैसे —

अहह दिवस ऐसा हाय ! क्यो आज आया ।
निज प्रियसुत से जो मै जुदा हो रही हूँ ।
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी ।
यह अनुपम थाती मै तुम्हे सौपती हूँ ।
सब पथ कठिनाई नाथ है जानते ही ।
अब तक न कही भी लाडिले है पधारे ।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना ।
कुछ पथ-दुख मेरे बालको को न होवे ।

उक्त दोनो उदाहरणो से स्पष्ट है कि कवि हरिऔध ने खडीबोली-हिन्दी का दोनो प्रकार से प्रयोग करते हुए यह दिखाया है कि साहित्यिक हिन्दी के दोनो रूप हो सकते है—(१) विशुद्ध सस्कृत गर्भित रूप और (२) बोलचाल का रूप । हरिऔध जी ने यद्यपि बोलचाल की भाषा मे फूल पत्ते, बोलचाल, चुभते चोपदे, चौखे चोपदे आदि कई ग्रथ लिखे और वे सदैव मुहावरेदार बोलचाल की भाषा को ही अधिक मार्मिक एव प्रभाव-शालिनी मानते रहे, तथापि उनका विशेष झुकाव सस्कृत के तत्सम शब्दो से परिपूर्ण सस्कृत-गर्भित खडीबोली की ही ओर रहा । जैसा कि आपने "फूल-पत्ते" की भूमिका मे लिखा भी है—"आजकल जिस भाषा मे खडी बोली की कविता लिखी जाती है, वह बनावटी है, गढी हुई है, असली बोलचाल की भाषा नही है । इन दिनो गद्य की भाषा भी यही है । यह भाषा अब पढे-लिखो मे समझ ली जाती है और दूर तक फैल भी गई है । इसमे सस्कृत शब्दो की भरमार है । इन दिनो इसका लिखना आसान है, इसका अभ्यास हो गया है, यह साहित्यिक भाषा बन गई है । सस्कृत भाषा मे, उसके शब्दो मे, उसके समासो मे कैसा बल है, वह कितनी मीठी है, उसमे कितनी लोच है, कितना रस है, कितनी लचक है, कितनी गुजाइश है, कितना लुभावनापन है, उसमे कितना भाव है, कितना आनन्द है, कितना रग-रहस्य है, मैं उसे कैसे बतलाऊँ । उसमे क्या नही, सब कुछ है, उसमे ऐसे ऐसे सामान है, ऐसे ऐसे विचार हैं, ऐसे ऐसे साधन है, ऐसे ऐसे रत्न हैं, ऐसे ऐसे पदार्थ है कि उनके

बिना हम जी नही सकते, पनप नही सकते, न फूल फल सकते है। उससे मुँह मोडकर हिन्दी भाषा के पास क्या रह जायेगा ? वह कगाल बन जायेगी।· · ··· · हिन्दी भाषा की चोटी उसी के हाथ मे है। ऊँचे-ऊँचे विषय उसी की गोद मे पलेगे, उसी के सहारे हिन्दी भरी पूरी होगी। मैने जो बोलचाल की ओर ध्यान दिलाया है, उसका इतना ही मतलब है कि एक रूप उसका भी रहे, जिससे वह सब कोर कसर दूर कर अपनी किसी और बहनो से पीछे न रहे और इस योग्य बन जाये कि उसे लोग राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठला सके।"[1]

इस कथन मे कवि ने स्पष्ट रूप से यह सकेत कर दिया है कि कवि समय के अनुसार ही सस्कृत पदावली युक्त हिन्दी की ओर झुका है, अन्यथा उसका विचार तो यह है कि बोलचाल की खडी बोली हिन्दी ही समृद्ध और सम्पन्न होनी चाहिए। अपने इन्ही विचारों के कारण कवि प्रियप्रवास-काल से ही दोनो प्रकार की भाषा के प्रयोग करता रहा। 'प्रियप्रवास' सन् १९१३ ई० मे लिखा गया था और 'फूल पत्ते' का प्रकाशन सन् १९३५ ई० मे हुआ था। इस २२ वर्ष की अवधि मे कविका विचार एकदम परिवर्तित हो गया, क्योकि 'प्रियप्रवास' लिखते समय कवि सस्कृत गर्भित खडीबोली को ही राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त समझता था[2] और 'फूलपत्ते' की भूमिका मे आकर कवि बोलचाल मे प्रयुक्त होने वाली सरल एव मुहावरेदार खडी बोली को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन करने के बारे मे सोचने लगा। अत. 'प्रियप्रवास' की भाषा को कवि के प्रयोगकाल की भाषा कहे तो कोई अनुचित बात नही, क्योकि उस समय कवि यह प्रयोग कर रहा था कि हिन्दी की साहित्यिक भाषा का रूप कैसा होना चाहिए। उसे हिन्दी मे शब्द-भडार की कमी दिखाई दी। इसलिए उसकी दृष्टि उर्दू, ब्रज और सस्कृत भाषाओ की ओर गई और उसने उसकी सजातीय एवं समान प्रवृत्ति वाली भाषाओ से अधिक से अधिक शब्द लेकर उसकी पूर्ति आरम्भ करदी। इस दृष्टि से विचार करें तो कवि हरिऔध का स्थान अत्यत महत्वपूर्ण दिखाई देता है, क्योकि हिन्दी भषा के स्वरूप का निर्माण करने के लिए हरिऔध जी ने जो-जो प्रयोग किये, वे व्यर्थ ही नही गये, अपितु उनके द्वारा ही एक ऐसी सशक्त एव समृद्ध खडी बोली हिन्दी का निर्माण हुआ, जिसने छायावादी युग मे सभी प्रकार के भावो को

---

१. फूल पत्ते-दो चार बातें, पृ० २३-२४
२. देखिए प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ६

निरूपित करने का श्रेय प्राप्त करके आधुनिक युग मे राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त कर लिया। अत भाषा की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है, इसमे कवि के भाषा सबधी प्रयोगो को अच्छी तरह देखा जा सकता है और यह आगामी कवियो के लिए आलोक- स्तम्भ बनकर उनका आज भी पथ प्रदर्शन करता हुआ दिखाई देता है।

'प्रियप्रवास' मे शब्द-शक्तियो का प्रयोग—काव्य मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थ जानने के लिए प्राय. तीन शक्तियाँ बतलाई गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यजना। इनमे से किसी शब्द के साकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा कहते है। इसे मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति भी कहा जाता है। जब मुख्याथ के समझने मे बाधा उत्पन्न होती है, तब मुख्य अर्थ से भिन्न, परन्तु मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप मे सम्बद्ध जिस अर्थ का बोध जो शक्ति कराया करती है, उसे लक्षणा कहते है और तीसरी व्यजना शक्ति शब्द और अर्थ की वह शक्ति है जो अभिधा और लक्षणा के शान्त हो जाने पर एक ऐसे अर्थ का बोध कराया करती है, जो सर्वथा विलक्षण होता है। इनमे से अभिधा शक्ति का कार्य तो सीधा साधा है। वह किसी भी शब्द के अपने मुख्य अर्थ को बताकर शान्त हो जाती है। साधारणतया इसी शक्ति के आधार पर सभी काव्यो के अर्थ साधारण व्यक्ति समझा करते है, क्योकि इसके द्वारा किसी चमत्कार या अन्य विलक्षण बातो का पता नही चलता। उनके लिए तो लक्षणा और व्यजना शक्तियो का सहारा लेना पडता है। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' मे भी अधिक विलक्षण या चमत्कारपूर्ण अर्थो वाले शब्दो की भरमार नही है। इसलिए इस काव्य को समझने के लिए अभिधा का सहारा ही पर्याप्त है। परन्तु कही-कही कवि ने काव्य कौशल दिखाते हुए ऐसे-ऐसे शब्दो, पदावलियो एव वाक्यो का प्रयोग भी किया है, जिनको केवल अभिधा के द्वारा नही समझा जा सकता। उनके लिए अन्य दोनो शक्तियो का आश्रय अपेक्षित है। अत अभिधा शक्ति के निरूपण की कोई आवश्यकता नही दिखाई देती। उसके द्वारा तो काव्य की प्रत्येक पक्ति का अर्थ सुगमता से लगाया ही जाता है क्योकि जहाँ केवल वाच्यार्थ-प्रधान पक्तियाँ होती है, वही यह अभिधा शक्ति विद्यमान रहती है। जैसे :—

अभिधा—दिवस का अवसान समीप था। गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर भी अब राजती। कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

उक्त पंक्तियो मे सध्या का वर्णन किया गया है और प्रत्येक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है। अत यहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अभिधा शक्ति ने इन पक्तियो को सरलता एव सुबोधता प्रदान की है।

लक्षणा—जहाँ तक लक्षणा शक्ति का सम्बन्ध है, इसका प्रयोग प्रायः मुख्यार्थ या वाच्यार्थ मे बाधा उत्पन्न होने पर ही होता है। मुख्यार्थ मे बाधा उत्पन्न करने वाले कारणो मे से कुछ कारण रूढिगत होते है और कुछ प्रयोजनगत। इसी आधार पर लक्षणा को सर्वप्रथम दो भेदो मे विभक्त किया जाता है—रूढिलक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। 'प्रियप्रवास' मे इन दोनो लक्षणाओ के स्वरूप देखे जा सकते है। जैसे .—

रूढ़िलक्षणा—बहु-भयकर थी यह यामिनी।
बिलपते ब्रज-भूतल के लिये।२।६१

इन पक्तियो मे 'ब्रज-भूतल' से अभिप्राय ब्रज के रहने वाले समस्त प्राणियो से है और यहाँ पर ब्रज-निवासियो के शोक-जन्य विलाप एव रात्रि के कष्ट का ही वर्णन किया गया है। अत. 'ब्रज-भूतल' का मुख्यार्थ तो ब्रजभूमि ही होता है, परन्तु यहाँ लक्ष्यार्थ से ही इसका अर्थ ब्रज के रहने वाले प्राणी या ब्रज के निवासी किया गया है। इस अर्थ-ग्रहण का मूलकारण रूढि है, क्योकि 'ब्रज' कह देने से ब्रज के प्राणिसमूह एव वहाँ के पदार्थ आदि का बोध हो जाता है। इसी कारण यहाँ रूढिलक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा—प्रिय! सब नगरो मे वे कुबाया मिलेगी।
न सुजन जिनकी है वामता बूझ पाते।
सकल समय ऐसी साँपिनो से बचाना।
वह निकट हमारे लाड़िलो के न आवे।५।५३

उक्त पक्तियो मे कवि ने कुनारियो अथवा दुश्चरित्र स्त्रियो के लिए "साँपिन" शब्द का प्रयोग किया है। "साँपिन" का मुख्यार्थ सर्पिणी या नागिन होता है, परन्तु एक स्त्री तो नागिन हो नही सकती। अतः यहाँ पर भी मुख्य अर्थ मे बाधा उपस्थित होती है। परन्तु कवि ने दुष्टा स्त्रियो के बुरे आचरण को बताने के प्रयोजन से "साँपिन" शब्द का प्रयोग किया है, जो नारियो के नागिन के समान विषाक्त होकर भयकर आचरण करने की व्यंजना कर रहा है। इसी कारण यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

इसके अनन्तर उपादान एव उपलक्षणा की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किए गए जाते है—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। इनमे से जहाँ

वाक्यार्थ की सगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादान लक्षणा होती है और जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोडकर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते है।[1] 'प्रियप्रवास' मे कवि ने इन दोनो लक्षणाओ का भी प्रयोग किया है।

उपादान लक्षणा—सब परस्पर थे कहते यही।
कमल-नेत्र निमत्रित क्यो हुए।
कुछ स्वबधु समेत व्रजेश का।
गमन ही सब भाँति यथेष्ट था।२।२७

इन पक्तियो मे कवि ने श्रीकृष्ण का नाम न लेकर "कमल-नेत्र" को निमत्रित होता हुआ लिखा है। परन्तु 'कमल जैसे नेत्र' श्रीकृष्ण से अलग नही है। अतः 'कमल-नेत्र' पद श्रीकृष्ण के कमल जैसे नेत्र का उपादान करता है और यह 'नेत्र' शब्द अपना अर्थ भी नहीं छोडता। इसी कारण 'कमल-नेत्र' पद मे उपादान लक्षणा है।

लक्षणलक्षणा— क्या देखूँगी न अब कढता इदु को आलयो मे।
क्या फूलेगा न अब गृह मे पद्म सौदर्यशाली।८।६३

उक्त पक्तियो मे 'इदु' तथा 'पद्म' का लक्ष्यार्थ श्रीकृष्ण है, जिसकी व्यजना आलय एव गृह शब्द द्वारा हो रही है। अत यहाँ 'इदु' और 'पद्म' शब्द अपना मुख्यार्थ पूर्णतया छोड बैठते हैं। इसी कारण यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

इस लक्षणा को उपमान-उपमेय के आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर पुन दो भागो मे विभक्त किया जाता है—सारोपा लक्षणा और साध्य-वसाना लक्षणा। इनमे से जिस लक्षणा मे विषयी एव विषय की एकरूपता करने के लिए आरोप हो अथवा आरोप्यगाण और आरोप का विषय इन दोनो की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा लक्षणा कहते है और जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दो से प्रकट न किया गया हो और आरोप्यमाण द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[2] इन दोनो लक्षणाओ के स्वरूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' मे विद्यमान है।

---

१ काव्य दर्पण—पृ० ३१-३२

२ वही—पृ० ३५-३६

सारोपा लक्षणा—प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।
अब तक जिसको मै देखके जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्रतारा कहाँ है। ७।११

उक्त पक्तियो मे कवि ने 'दु ख' मे जलधि का और श्रीकृष्ण मै क्रमश. 'सहारा', 'हृदय' तथा 'नेत्रतारा' का आरोप किया है। प्राय रूपक अलकारो मे इसी लक्षणा का प्रयोग होता है। अत. यहाँ सारोपा लक्षणा है।

साध्यवसाना लक्षणा—बहु भयकर थी यह यामिनी।
विलपते ब्रज भूतल के लिए।
तिमिर मे जिसके उनका शशी।
बहु कलायुत होकर खो चला। २।६१

इन पक्तियो मे कवि ने "शशि" का तो उल्लेख किया है, जोकि उपमान या आरोप्यमाण है, परन्तु श्रीकृष्ण का उल्लेख नही किया है, जो कि उपमेय या आरोप के विषय है। अतः केवल आरोप्यमाण या उपमान का वर्णन होने के कारण यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है। प्रायः रूपकातिशयोक्ति अलकार मे इसी लक्षणा का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त सादृश्य और सादृश्येतर के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा को गौडी और शुद्धा इन दो भेदो मे भी विभक्त किया जाता है। इनमे से गौणी लक्षणा उसे कहते है जिसमे सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है और शुद्धा लक्षणा वह है जिसमे सादृश्य सबध के अतिरिक्त अन्य संबध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है।[1] 'प्रियप्रवास' मे कवि अरिऔध ने इन दोनो लक्षणाओ का भी प्रयोग किया है। जैसे :—

गौणी लक्षणा—ऊधौ आदौ तिमिरमय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्तिशाली।
ज्योतिर्माला-वलित उसमे चन्द्रमा एक न्यारा।
राका-श्री ले समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्लकारी। १०।५५

यहाँ भाग्य और श्रीकृष्ण को कमशः आकाश और चन्द्रमा कहा गया

---

१. काव्य दर्पण, पृ० ३०

है। दोनो एक नही हो सकते। अत यहाँ मुख्यार्थ मे बाधा है। परन्तु दोनो मे गुण-साम्य है, क्योकि जैसे आकाश अधकारपूर्ण रहता है, उसी तरह यशोदा जी का भाग्य भी श्रीकृष्ण के जन्म से पहले अधकार से भरा हुआ था और जिस तरह अधकारपूर्ण आकाश मे चन्द्रमा के उदय होते ही नवीन ज्योति फैल जाती है और वह चन्द्रमा सभी के चित्त को उत्फुल्ल करने वाला जान पडता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने भी यशोदा के यहाँ आकर अपने गुणो की ज्योति से सर्वत्र आनद उत्पन्न करते हुए सबके चित्त को उत्फुल्ल बना दिया था। इसलिए यहाँ दो भिन्न पदार्थो मे अत्यत सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नही होती। इससे यहाँ गौडी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा—यह लक्षणा कही आधार-आधेय सबध से तथा कही तात्कर्म्य सबध द्वारा हुआ करती है। आधार-आधेय सबध द्वारा जैसे :—

कमल-लोचन कृष्ण-वियोग की। अशनिपात समा यह सूचना।
परम आकुल गोकुल के लिए। अति अनिष्टकरी घटना हुई।

यहाँ पर कवि ने 'गोकुल' को 'आकुल' कहा है, किन्तु गोकुल ग्राम का आकुल होना सर्वथा असभव है। अत: यहाँ आधार-आधेय के सम्बन्ध से गोकुल मे रहने वालो का अर्थ-बोध होता है। इसी कारण यहाँ शुद्धा लक्षणा है। इसी तरह तात्कर्म्य सम्बध द्वारा भी शुद्धा लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

श्रीराधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें।
थोडी सी भी न सुखद हुई हो गई वैरिणी सी।
भीनी-भीनी महँक मन की शान्ति को खो रही थी।
पीडा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी।६।२६

यहाँ प्रात कालीन शीतल एव सुगधित वायु को भी राधा के मन की शान्ति को खोने वाली तथा चित्त को व्यथा देने वाली कहा गया है। अतः मुख्यार्थ मे बाधा है, क्योकि प्रात. पवन तो ऐसी होती नही। परन्तु विरहिणियो को प्रात कालीन शीतल एव सुगधित पवन भी सताया करती है, क्योकि इससे उनके हृदय मे और भी भावो की उद्दीप्ति प्राप्त होती है। इसी कारण तात्कर्म्य या समान कर्म करने के कारण यहाँ उस शीतल एव सुगधित पवन की भीनी-भीनी महँक को भी मन की शान्ति खोने वाली और वायु की स्निग्धता को भी पीडा देने वाली कहा गया है। यहाँ सताप देने के आधिक्य का वर्णन करना ही कवि का प्रयोजन है।

इसी तरह लक्षणा के ऊपर बताए गए चारो भेदो की रूढि और प्रयोजनवती लक्षणा से सम्बद्ध कर देने पर आठ प्रकार की रूढिमूला और आठ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा हो जाती है। फिर प्रयोजनवती लक्षणा को भी गूढ और अगूढ़ के भेद से दो भागो मे बाँटा जाये तो सोलह प्रकार की लक्षणा होजाती है और धर्मी और धर्म के भेद से इसके बत्तीस भेद हो जाते है तथा पदगत और वाक्यगत होने से चौसठ भेद अकेली प्रयोजनवती लक्षणा के हो जाते है। ऐसे ही पदगत और वाक्यगत होने के कारण सोलह भेद रूढि-मूला लक्षणा के माने गये है। इस तरह कुल मिलाकर लक्षणा अस्सी प्रकार की हो जाती है। इन सब के उदाहरण खोजने तथा उनका दिग्ददर्शन कराने से कोई लाभ नही। व्यर्थ ही विस्तार हो जाता है। दूसरे सभी भेदो को 'प्रियप्रवास' मे देखा भी नही जा सकता। अत थोडे से उदाहरण देकर ही यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि कवि ने लक्षणा शक्ति का भी प्रयोग किया है, जिससे उसके काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-गाभीर्य की भी सृष्टि हुई है। वैसे उसने अभिधा को अधिक अपनाया है और उसी के आधार पर कथानक मे धारावाहिकता उत्पन्न की है, परन्तु काव्य मे मार्मिक स्थलो को सरस एव आकर्षक बनाने के लिए कवि ने लक्षणा का सहारा लिया है, जो उसके कला-कौशल का द्योतक है।

व्यजना—अभिधा और लक्षणा के उपरान्त इस तीसरी व्यजना शक्ति के सहारे वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे व्यग्यार्थ का पता लगाया जाता है, जो काव्य मे गूढ एव गम्भीर होकर गुप्तरूप से छिपा रहता है। इस शक्ति के द्वारा काव्य मे निहित सरस एवं आकर्षक गूढार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा इससे गहन एव गम्भीर रहस्यो का उद्घाटन किया जाता है। इस शक्ति की सबसे बडी विशेषता ही यह है कि यह शब्द के बल पर ही नही अर्थ के बल पर भी एक अन्यार्थ को व्यजित करती है। परन्तु जहाँ शब्द के बल पर यह व्यग्यार्थ का बोध कराया करती है, वहाँ यह दो प्रकार की होती है—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। इनमे से अभिधामूला शाब्दी व्यजना के पद्रह भेद होते है और लक्षणामूला शाब्दी व्यजना के बत्तीस। साथ ही आर्थी व्यजना के तीस भेद होते है। इस तरह व्यजना के भी अनेक भेद होते है। यदि उन सभी भेदो को 'प्रियप्रवास' मे ढूँढने का प्रयत्न किया जाय, तो मिल सकते है, परन्तु विस्तार-भय से केवल कुछ प्रमुख भेदो के स्वरूप को ही उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करके यह देखने की चेष्टा की जावेगी

कि कवि ने व्यजना-शक्ति का प्रयोग करते हुए काव्य को कितना सरस एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

अभिधा-मूला शाब्दी-व्यजना—सयोग, वियोग, साहचर्य, प्रकरण आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियत्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यजना होती है।[1] जैसे :—

(१) आई बेला **हरि** गमन की छागई खिन्नता सी।

(२) अब नही वह भी अवलोकती, मधुमयी छवि श्री **घनश्याम** की।

उक्त दोनो उदाहरणो मे **हरि** और **घनश्याम** शब्दो के अर्थ क्रमश. सूर्य और नीले बादल भी होते है, किन्तु 'गमन की बेला' तथा कृष्ण की शोभा का प्रसग रहने के कारण उक्त दोनो शब्द श्रीकृष्ण के ही वाचक है। इसलिए यहाँ प्रकरण-सभवा-अभिधा-मूला व्यजना है। एक और उदाहरण लीजिए :—

(१) जिस प्रिय **वर** को खो ग्राम सूना हुआ है।

इस पक्ति मे 'वर' शब्द के श्रेष्ठ, पति, भेट, दान, जामाता, केसर आदि कई अर्थ होते है। परन्तु यहाँ ग्राम से जाने वाला तथा गोकुल ग्राम को सूना बनाने वाला 'वर' और कोई नही श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ही है। अत: यहाँ वियोग-सभवा-अभिधा-मूला-शाब्दी-व्यजना है। इसी तरह शाब्दी व्यजना के अन्य भेद भी ढूंढने पर मिल सकते है।

लक्षणामूला-शाब्दी व्यजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यजना कहते है।[2] यह व्यजना प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा से मिलती-जुलती है। 'प्रियप्रवास' मे इसका भी प्रयोग हुआ है। जैसे .—

सखि ! मुख अब तारे क्यो छिपाने लगे है।
वह दुख लखने की ताब क्या है न लाते।
परम-विकल होके आपदा टालने मे।
वह मुख अपना है लाज से या छिपाते।

---

१ **काव्यदर्पण**, पृ० ४२

२ वही, पृ० ४६

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
बह रुधिर रहा है कौनसी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यो लगे है।
सखि ! सकल दिशा मे आगसी क्यो लगी है।।

उक्त पक्तियो मे कवि ने तारो के मुख छिपाने, प्राची मे रुधिर वहने, पक्षियो के विकल होकर बोलने तथा सभी ओर आग सी लगने का वर्णन करके राधा की विरह-जन्य-आकुलता तथा उसके हृदय की तीव्र वेदना का वर्णन किया है और कवि का प्रयोजन भी यही है कि वह प्रकृति के पदार्थो मे मानवीय भावो एव व्यापारो का आरोप करता हुआ ऐसा वर्णन करके राधा की तीव्र व्यथा का चित्र अकित करना चाहता है। अत यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा के साथ-साथ राधा की तीव्र वेदना सबन्धिनी अतिशयता व्यग्य है। इसी से यहाँ लक्षणामूला-शाब्दी व्यजना है।

आर्थी व्यंजना—जो शब्द-शक्ति बक्ता, बोद्धव्य वाक्य, अन्य सनिधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यग्यार्थ की प्रतीति कराती है, उसे आर्थी व्यजना शक्ति कहते है।[1] 'प्रियप्रवास' मे आर्थी व्यजना के द्वारा भी कवि ने चमत्कार के काव्य-कौशल दिखाने की चेष्टा की है। इसके विभिन्न भेदो मे से कतिपय भेदो के उदाहरण देकर हम अपनी बात को पुष्ट करने का प्रयत्न करेगे।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य सभवा—

परम सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था। गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था। पर विराम न था ब्रज-बधु को।
पहुँचते वह थे शर-वेग से। विपद संकुल आकुल ओक मे।
तुरत थे करते वह नाश भी। परम वीर समान विपत्ति का।

यहाँ पर कवि ने एक आभीर के मुख से श्रीकृष्ण के सेवा-कार्यों की प्रशसा कराते हुए भयंकर वर्षा के समय गोवर्द्धन पर्वत मे ले जाकर गोकुल निवासियो की सुरक्षा एवं उनकी विपत्ति-विनाश के लिए जो-जो कार्य किये थे—उनका वर्णन किया है। इस वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा-भावना, लोक-हित एव विश्व-प्रेम आदि व्यग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ से ही हो रही है। अतः यहाँ वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य सभवा व्यजना है।

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ४७

देश-वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-संभवा—

प्रशस्त शाखा तरु-वृन्द की उन्हे । प्रतीत होती उस हस्त तुल्य थी ।
सकामना जो नभ ओर हो उठा । विपन्न-पाता-परमेश के लिए ।
सरोवरो की सुषमा स-कजता । सु-मेरु औ निर्झर आदि रम्यता ।
न थी यथा तथ्य उन्हे विमोहती । अनन्त सौदर्य-मयी वनस्थली ।

इन पक्तियो मे कवि ने वनस्थली के वृक्षो को अपनी-अपनी लम्बी-लम्बी डालियो को ऊपर करके अपने हाथ उठाकर ईश्वर से अपनी सुरक्षा के लिए कामना करते हुए दिखाया है और वह रमणीक वनस्थली उद्धव को मोहित न करती हुई दिखाई है। इस वाच्यार्थ द्वारा कवि ने ब्रज के वन-प्रदेश मे भी व्याप्त गहन शोक की व्यजना की है, जो देश-विशेष के वर्णन द्वारा व्यक्त होरही है। अत यहाँ देशवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सभवा व्यंजना है।

काल-वैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य-सभवा—

प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ । पवन मे अधिकाधिक गूँजती ।
कल अलाप सुप्लवित था जहाँ । अब वहाँ पर नीरवता हुई ।
विशद चित्रपटी ब्रजभूमि की । रहित आज हुई वर चित्र से ।
छवि यहाँ पर अकित जो हुई । अहह लोप हुई सब काल को ।

उक्त पक्तियो मे कवि ने संध्या की मनोरम छटा का वर्णन करके गोकुल ग्राम मे सहसा व्याप्त रजनी के घोर अधकार का वर्णन किया है, जिसके कारण गोकुल की सध्या का वह मनोहर चित्र, जिसमे गाय एव ग्वाल-वालो के साथ गोकुल के जीवन-धन श्रीकृष्ण मुरली बजाते हुए अकित थे, अनायास उस अधकार की कालिमा से सदैव के लिए मिट जाता है। इस वर्णन द्वारा कवि ने गोकुल से सदैव के लिए आनन्द के दिवसो का लुप्त हो जाना अथवा वहाँ से सदैव के लिए श्रीकृष्ण के चले जाने की व्यजना की है। अत: यहाँ काल-वैशिष्ट्य के कारण वाच्योत्पन्न व्यजना की सुदर छटा दिखाई देती है।

साराश यह है कि कवि ने अभिधा, लक्षणा एव व्यजना शक्तियो के सहारे काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ सरसता, गभीरता एवं विचित्रता उत्पन्न करने का सुदर प्रयास किया है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे वाच्यार्थ की प्रधानता होते हुए भी यत्र-तत्र लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ की छटा भी

विद्यमान है और इसी कारण काव्य मे सरसता के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य एव अर्थ-गाभीर्य की झलक भी मिल जाती है। फिर भी लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ का प्रयोग अधिक नही मिलता। इसका एक कारण तो यह है कि यह काव्य कवि की प्रौढ कृति नही है। दूसरे, इसका निर्माण जिस युग मे हुआ था उस समय तक खडी बोली इतनी सशक्त एव सक्षम नही हुई थी कि उसमे लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य आसके। इसका पूर्ण विकास आगे चलकर छायावादी युग मे हुआ। अत: कवि ने यहाँ अभिधा के सहारे वाच्यार्थ को ही अधिकाधिक रम्य एव सरस बनाने का प्रयत्न किया है।

'प्रियप्रवास' मे गुणो का स्वरूप—गुणो को रस का धर्म कहा गया है। कारण यह है कि विभिन्न रसो का आस्वादन करते समय चित्त के भाव भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसे, शृगार रस का वर्णन पढकर या सुनकर अथवा देखकर हृदय मे माधुर्य का सचार होता है और वीर रस के वर्णन द्वारा ओज की दीप्ति रग-रग मे फैल जाती है। ये माधुर्य, ओज आदि ही गुण कहलाते हैं, जो रसो से सम्बद्ध होकर चित्त मे विभिन्न स्थितियो को जाग्रत करते रहते है और हृदय को विस्तृत एव उदार बनाने मे सहायक होते है। गुणो की सख्या के बारे मे पहले बडा विवाद रहा है। भरत मुनि ने दस गुण बतलाए थे। व्यास जी ने उन्नीस गुण कहे। दडी ने दस गुणो का वर्णन किया। वामन ने उनकी सख्या बीस करदी और भोज ने चौबीस गुणो का निरूपण किया। परन्तु भामह ने केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुणो को ही स्वीकार किया और मम्मटाचार्य ने भी इन तीन गुणो को ही काव्य के लिए सर्वथा उचित समझा। आजकल उक्त तीन गुणो को ही प्रमुखता दी जाती है। वैसे श्लेष, समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि आदि गुण भी माने गए है। फिर भी अधिकाश आचार्य तीन गुणो को ही मानते हैं। प० रामदहिन मिश्र का मत है कि "यद्यपि आचार्यों ने प्रधानतया तीन ही गुण माने हैं, पर आधुनिक रचना पर दृष्टिपात करने से कुछ अन्यान्य गुणो का मानना आवश्यक प्रतीत होता है। आजकल ऐसी अधिकाश रचनायें दीख पडती है जिनमे न तो प्रसाद गुण है और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप देख पडते है।"[1] परन्तु आपने उक्त तीन गुणों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है तथा इनके अतिरिक्त और किसी गुण को प्रमुखता नही दी है। इसके अतिरिक्त आचार्य बा० गुलाबराय का मत

१. काव्य दर्पण, पृ० ४०६

है कि" मम्मट ने इन दशो को माधुर्य, ओज, प्रसाद—तीन के ही भीतर लाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इस प्रयत्न मे उनको आशिक ही सफलता मिली है। पहली बात तो यह है कि इन दश गुणो की व्याख्या के सम्बन्ध मे धर्म के तत्व की भाँति यही कहा जा सकता है कि "नैको मुनिर्यस्यवचः प्रमाणम्" और मम्मट ने यदि वामन के बतलाये हुए दश गुणो की अन्विति तीन मे करदी है तो उससे और आचार्यो के बतलाये हुए गुणो मे नही होती। इसके अतिरिक्त इन दस या बीस गुणो मे हमको शैली के बहुत से तत्व और प्रकार मिल जाते है।"[१] इतना मानते हुए भी बाबूजी ने प्रमुखता तीन गुणो को ही दी है।

गुणो की सख्या तीन मानने का प्रमुख कारण यह है कि चित्त की तीन ही प्रमुख वृत्तियाँ होती है—कोमल, कठोर तथा मिश्रित। इन तीनो वृत्तियो का सम्बध क्रमश· माधुर्य, ओज और प्रसाद से है, क्योंकि जो गुण अन्त करण को द्रवित करके अथवा पिघलाकर उसे प्रसन्न कर देता है उसे माधुर्य कहते है।[२] यह गुण सभोग शृगार, करुण रस, विप्रलम्भ शृगार और शान्तरस मे रहता है तथा इनमे भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है। इसके लिए ट, ठ, ड, ढ को छोडकर क से म तक के ऐसे वर्ण अपेक्षित होते है, जो अपने-अपने अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। इस गुण के लिए समासरहित छोटे-छोटे शब्द अथवा अल्प समास वाली रचना अच्छी होती है। इस तरह मधुर एव कोमल पदो वाली रचना ही माधुर्य गुण के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है,[३] इसी तरह चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण को ओज कहा जाता है।[४] यह गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस मे उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप से विद्यमान रहता है। इसके लिए ऐसी दीर्घ समासवती एव औद्धत्यपूर्ण पद-योजना आवश्यक होती है, जिसमे सयुक्ताक्षर रेफ, सयुक्त अक्षर, द्वित्व वर्ण, टवर्ग, तालव्य शकार, मूर्धन्य षकार आदि रहते है।[५], इस गुण का सम्बध चित्त की कठोर वृत्ति से रहता है, जब कि माधुर्य का कोमल वृत्ति से। इसके साथ ही जो गुण 'प्रसाद' कहलाता है वह सहृदय-

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, भाग १, पृ० १६४

२ चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण ८।२

३. साहित्य दर्पण—८।२-३

४ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। सा० द० ८।४

५. साहित्यदर्पण—८।४-६

हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त मे उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकडी मे आग।[1] यह प्रसाद गुण सभी रसो का धर्म माना जाता है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओ की विशेषता मानी जाती है। सूखे ईधन मे अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपडे मे जल की झलक की भाँति प्रसाद गुण द्वारा चित्त मे एक साथ किसी अर्थ का प्रकाश हो जाता है। और वह चित्त को व्याप्त कर लेता है। इनमे से प्रसाद गुण की स्थिति माधुर्य और ओज के साथ भी हो सकती है, परन्तु माधुर्य और ओज दोनो एक साथ नही रहते।

माधुर्य—अब यदि 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डाले तो पता चलेगा कि हरिऔध जी ने इस काव्य मे माधुर्य गुण को अपनाते हुए बडी सरस रचना की है। यदि यह कहा जाय कि 'प्रियप्रवास' मे माधुर्य का ही प्राधान्य है तो कोई अत्युक्ति नही, क्योकि वियोग शृगार एव करुणा की अविरल धारा बहाते हुए कवि ने यहाँ अन्त करण को द्रवित कर देन वाले अथवा पिघला देने वाले इस गुण का ही सर्वाधिक प्रयोग किया है। यहाँ यशोदा का करुण-क्रदन, राधा की विरह-कातरता, गोपियो की विक्षिप्तावस्था, गोपो की खिन्नता, ब्रज के अन्य प्राणियो की शोकावस्था आदि मे सर्वत्र कोमल एव मधुर पदावली युक्त माधुर्य गुण भरा हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए —

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणो के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले।
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे।
कैसे होके अलग तुझसे आज भी मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यो बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैने न देखा।[2]

इन पक्तियो मे कवि ने कोमल एव मधुर पदावली का प्रयोग करते

---

१ चित्त व्याप्नोति य क्षिप्र शुष्केन्धनमिवानल.।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च । सा० द० ८।७-८

२. प्रियप्रवास ७।५६-५७

हुए चित्त को पिघलाने के लिए जो मधुर पद-योजना की है, उसमे वियोग एव करुणा के साथ-साथ माधुर्य गुण विद्यमान है। इसे पढते ही अथवा सुनते ही चित्त द्रवित हो जाता है और सारा वर्णन अत्यत हृदयग्राही जान पड़ता है।

ओज—'प्रियप्रवास' मे यद्यपि माधुर्य की प्रधानता है, तथापि ओज गुण को अपनाते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के शौर्य, पराक्रम एव वीरता का वर्णन किया है। इस गुण के अनुकूल वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस होते है, क्योकि इनके स्थायी भाव उत्साह, जुगुप्सा तथा क्रोध के कारण ही हृदय मे दीप्ति उत्पन्न होती है, हृदय का विस्तार होता है और उत्तेजना का सचार होता है। मुख्यतया उत्साह एव क्रोध ही ओज गुण के अधिक अनुकूल होते है। 'प्रियप्रवास' मे इसके उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते है। जैसे ब्रज को उत्पीडित करने वाले व्योमासुर को एक दिन अपने सामने देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे —

सुधार चेष्टा बहु व्यर्थ हो गई। न त्याग तूने कु-प्रकृत्ति को किया।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा। तुझे बधू मैं भव-श्रेय-दृष्टि से।
क्षमा नही है खल के लिए भली। समाज-उत्सादक दण्ड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना। सु-कर्मियो को करता विपन्न है।
अत अरे पामर सावधान हो। समीप तेरे अब काल आगया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू। सम्हाल तेरा बध वाँछनीय है।[1]

उक्त पक्तियो मे परुष पदावली युक्त ऐसी रचना की गई है, जिसे सुनकर अथवा पढकर अनायास ही चित्त मे स्फूर्ति आ जाती है, उसमे दीप्ति जाग्रत हो जाती है और आवेग उमड़ आता है। इतना ही नही इससे हृदय मे विस्तार होता है और वह उद्विग्न होकर आवेश युक्त हो जाता है। अत यहाँ ओज गुण विद्यमान है।

प्रसाद—यह गुण तो यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। इसके द्वारा कवि ने अपने काव्य को सरल, सरस तथा सुमधुर बनाने की चेष्टा की है, जिससे उसके अर्थ को समझने मे कोई आपत्ति नही होती। श्रवणमात्र या पठनमात्र से ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियाँ देखी जा सकती है :—

१, **प्रियप्रवास १३।७७-८२**

यह सकल दिशाये आज रो सी रही है।
यह सदन हमारा, है हमे काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नही है।
विजन-विपिन मे है भागता सा दिखाता।
सदन रत न जाने कौन क्यो है बुलाता।
गति पलट रही है भाग्य की क्यो हमारे।
उह ! कसक समाई जा रही है कहाँ की।
सखि ! हृदय हमारा दग्ध क्यो हो रहा है।[1]

उक्त पक्तियो मे कवि ने सरल और सुबोध रचना करते हुए श्रवण-मात्र से अर्थ प्रतीति कराने वाले शब्दो की योजना की है, जो प्रसाद गुण-व्यजक है।

'प्रियप्रवास' मे रीतियों का स्वरूप—रीति शब्द रीङ् गतौ गत्यर्थक रीङ् धातु मे क्तिन् प्रत्यय के सयोग से बनता है। अत रीति का अर्थ है—मार्ग, पथ, गति, प्रणाली या पद्धति। इसी कारण रीति से किसी लेखक की विशिष्ट रचना-प्रणाली का बोध होता है। साधारणतया प्रत्येक लेखक या कवि के लिखने का ढंग अपना निजी होता है, उसमे कुछ विशिष्टता होती है, जो अन्य कवि या लेखको मे नही दिखाई देती और जिसके परिणामस्वरूप हम तुरन्त पहँचान लेते है कि अमुक रचना अमुक व्यक्ति की है। यद्यपि यह विशिष्टता या यह भेद अत्यत सूक्ष्म होता है, क्योकि एक ही भाषा के कवियो मे भाषागत अन्तर तो होता नही, केवल उनकी रचना-प्रणाली या भाव-निरूपण की पद्धति में ही अन्तर होता है। इसी कारण काव्य का मर्म समझने के लिए रीति का जानना भी अत्यावश्यक है। अंग्रेजी मे इसे स्टाइल (Style) कहकर पुकारते हैं। स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के Stilus, Stylus शब्द से निकला है, जिमका शाब्दिक अर्थ 'लौह लेखनी' या लोहे की कलम होता है। प्राचीन रोमन काल मे पट्टियो के ऊपर मोम जमाकर लोहे की कलम से लिखा जाता था। इसी कारण लिखने के इस ढग को स्टाइल कहने लगे। अत: स्टाइल भी लिखने या बोलने की विशिष्ट प्रणाली को कहते है। इस तरह रीति से अभिप्राय ऐसी पद-सघटना से है जो रसानुकूल शब्दो को अपनाती हुई अपनी विशिष्टता से रसादि का उपकार किया करती है। कालरिज के

---

१. प्रियप्रवास—४।३२-३३

अथवा

सद्भावाश्रयता, अचिन्त्य दृढता, निर्भीकता, उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का। ६।२३

पाचाली—यह रीति उक्त दोनो रीतियो की अन्तरालवर्तिनी होती है। इसमे पचम वर्ण वाली, माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो युक्त पदयोजना की जाती है और ओज तथा कान्ति गुणो के अभाव मे इसके पद उलवण (उत्कट) नही होते।[1] 'प्रियप्रवास' मे इस पाचाली रीति के अनुकूल भी रचना मिल जाती है —

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थी।
फूले कज समान मजु-दृगता थी मत्तताकारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि-उन्मेषिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति सी।
काली-कुचित-लम्बमान अलकें थी मानसोन्मादिनी। ४।४—५

उक्त पक्तियो मे कवि ने पचम वर्ण वाली अनुनासिक वर्णो से युक्त माधुर्य एव सौकुमार्य गुण सम्पन्न पदावली का प्रयोग किया है, जिसमे उत्कृष्टता एव कर्ण-कटुता का सर्वथा अभाव है तथा अधिक लम्बे-लम्बे समास भी नही है। अत उक्त छन्द पाचाली रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

लाटी—रीति के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने तो केवल तीन रीतियाँ ही मानी है। रुद्रट ने इस चौथी 'लाटीया' रीति की और कल्पना की थी तथा समस्त रीतियो को दो विभागो मे बाँटा था अर्थात् पाचाली तथा वैदर्भी रीतियाँ काव्य मे माधुर्य की द्योतक बतलाई और गौडी तथा लाटी रीतियो को ओजस्विता-प्रदर्शक कहा। रसौचित्य के अनुसार रीतियो के चुनाव की चर्चा सर्वप्रथम रुद्रट ने ही साहित्य-ससार मे प्रारम्भ की थी और इसी कारण इन रीतियो का महत्व प्रदर्शित करते हुए रुद्रट ने रसो के अनुकूल इनके प्रयोग

---

१ भारतीय साहित्य-शास्त्र पृ० २०८

पर बल दिया था।[1] इस दृष्टि से लाटी रीति मे गौडी की भाँति ही ओज प्रकाशक वर्णो की प्रधानता रहती है। गौडी तथा लाटी मे अधिक अन्तर न होने के कारण आजकल विद्वान् इस रीति को कोई पृथक् रीति नही मानते और गौडी रीति मे ही इसका समाहार कर लेते है।

इस प्रकार रीति के अनुसार 'प्रियप्रवास' की रचना-पद्धति पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कवि ने ओजस्विता एव तेजस्विता दिखाने के लिए गौडीय तथा लाटीय रीति का प्रयोग यत्किंचित् अवश्य किया है, परन्तु ऐसी योजना अधिक नही दिखाई देती। उसका अधिक झुकाव माधुर्य एव सौकुमार्य गुणो के विवेचन की ओर रहा है और उन्ही के अनुकूल पाचाली तथा वैदर्भी रीतियो को अधिक अपनाया है। इनमे से भी पाचाली रीति के अनुकूल पचम वर्णमयी सुकुमार पद-योजना भी अपेक्षाकृत अधिक नही है। अत 'प्रियप्रवास' मे कवि सर्वाधिक वैदर्भी रीति को ही अपनाकर चला है। यह रीति प्राय शृंगार एव करुण रस के सर्वथा अनुकूल भी होती है और इस काव्य मे इन दोनो रसो का ही प्राधान्य है।

'प्रियप्रवास' मे वृत्तियों का स्वरूप—वृत्ति शब्द वृत् वर्तने धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बना है। वर्तन का अर्थ जीवन होता है और वृत्ति उस जीवन की सहायक जीविका को कहते है। अत वृत्ति का साधारण अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार या जीवन का सहायक व्यापार। काव्य तथा नाटक मे इसी सहायक व्यापार द्वारा जो शब्द-योजना की जाती है उसे वृत्ति कहते है।[2] साधारणतया रीति की सहायक वृत्ति मानी जाती है। ये वृत्तियाँ नाटक तथा काव्य मे पृथक्-पृथक् मानी गई है। नाटक मे चार वृत्तियाँ होती है—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। परन्तु काव्य मे वृत्तियो की अलग कल्पना की गई है। काव्य मे मुख्यतया तीन वृत्तियाँ होती है—कोमला, उपनागरिका तथा परुषा। इनमे से कोमला वृत्ति का नाम उद्भट ने ग्राम्या भी दिया है।[3]

कोमला—इस वृत्ति के अतर्गत लकार, ककार, रेफ आदि से युक्त कोमलाक्षरो की बहुलता होती है। इसी वृत्ति के आधार पर कुछ विद्वानो ने

---

१ **भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० १६२-१६३**

२. **वही, पृ० २४६**

३. **वही, पृ० २५६**

अनुप्रास अलकार का नाम भी कोमलानुप्रास अथवा ग्राम्यानुप्रास दिया है। 'प्रियप्रवास' मे इस कोमला वृत्ति के अनुकूल मधुर एव कोमल रचना भी मिल जाती है, जिसमे कोमलाक्षरो के अतर्गत सुकुमार भावो का प्रदर्शन हुआ है। जैसे—

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-सकुला-वापिका थी।
नाना चाहे कलित-कलियाँ थी लताये उमगे।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-वेलियाँ थी।
सद्वाछा के विहग उसके मंजु-भाषी बड़े थे।
भोला-भाला-मुख सुत-बधू-भाविनी का सलोना।
प्राय. होता प्रकट उसमे फुल्ल-अम्भोज-सा था।
बेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालासाये।
हो जाती थी विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी।

उक्त पक्तियो मे कवि ने लकार, ककार तथा रकार युक्त कोमल पदावली का प्रयोम करते हुए कोमला वृत्ति को अपनाया है।

उपनागरिका—इसमे टवर्ग को छोडकर शेष वर्गों मे से उसी वर्ग के अन्तिम वर्ण के सयोग से मधुर शब्दो की योजना की जाती है अर्थात् इसमे ङ्क, ञ्च, न्त, म्प आदि की प्रधानता रहती है। यह वृत्ति नगर की चतुर, सयानी तथा विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने के कारण उपनागरिका कहलाती है। 'प्रियप्रवास' मे इस वृत्ति के अनुकूल रचना पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। जैसे :—

अतसि - पुष्प - अलकृतकारिणी। शरद नील-सरोरुह रञ्जिनी।
नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की। सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी।
अति-समुत्तम-अङ्ग-समूह था। मुकुट-मजुल, औ मनभावना।
सतत थी जिसमे सुकुमारता। सरसता प्रतिविम्बित हो रही।

अथवा

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाडिम नारिकेल इमिली औ शिशिपा इगुदी। आदि

उक्त पदो मे अनुस्वार साहित पचम वर्ण युक्त शब्दो का ही प्राधान्य है। अत· यहाँ माधुर्य व्यजक सुकुमार वाक्यावली के कारण उपनागरिका वृत्ति है।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० २५७

परुषा—पहले केवल दो ही वृत्तियो का प्रचलन था। परन्तु आचार्य उद्भट ने एक तीसरी परुषा वृत्ति की नवीन उद्भावना की। इसमे स, श, ष वर्णो की टवर्ग या रेफ के साथ मिश्रण होकर सयुक्ताक्षरो की बहुलता पाई जाती है।[1] 'प्रियप्रवास' के कुछ स्थलो पर इस परुषा वृत्ति का भी प्रयोग मिल जाता है। जैसे :—

विलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहु ।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो ।
निपात होता तब भूत-प्राण था ।
विभीषिका-गर्त्त नितान्त गूढ था ।
प्रलम्ब आतक-प्रसू, उपद्रवी ।
अतीव मोटा यम-दीर्घ-दण्ड सा ।
कराल आरक्तिम नेत्रवान औ ।
विषाक्त-फूत्कार-निकेत सर्प था । १३।४०-४१

उक्त पक्तियो में कवि ने रेफ युक्त सयुक्ताक्षरो का प्रयोग करते हुए सर्प की प्रचण्डता एव भीषणता का वर्णन करते हुए परुष पदावली का प्रयोग किया है। अत. यहाँ परुषा वृत्ति है।

अतएव कवि ने रसानुकूल रीतियो एव वृत्तियो का प्रयोग करते हुए अपने रचना-कौशल को प्रकट किया है। जिस तरह 'प्रियप्रवास' मे वैदर्भी रीति की बहुलता है, उसी तरह यहाँ उपनागरिकता वृत्ति का प्रयोग भी अधिक मात्रा मे किया गया है, क्योकि माधुर्य-व्यजक वर्णों की बहुलता उपनागरिका वृत्ति मे ही होती है और 'प्रियप्रवास' मे ऐसे ही वर्णो की बहुलता है, जो माधुर्य, सौकुमार्य एव सारल्य के द्योतक है।

'प्रियप्रवास' मे वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति शब्द 'वक्र' और 'उक्ति' इन दो शब्दो के योग से बना है अर्थात् जहाँ उक्ति की वक्रता हो वही वक्रोक्ति होती है। आचार्य कुतक ने अपने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' नामक ग्रथ मे वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भगीभणितिरुच्यते।" इनमे से कवि कम की कुशलता का नाम है वैदग्ध्य या विदग्धता। भङ्गी का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता और भणिति का अर्थ है कथन प्रकार। इस प्रकार इन तीनो का समन्वित अर्थ यह हुआ कि कवि के कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होने

वाले कथन के प्रकार को वक्रोक्ति कहते है ।[1] वक्रोक्ति एक अलकार भी होता है, जो श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति के नाम से दो प्रकार का होता है। परन्तु वक्रोक्ति के प्रवर्तक कुतक ने इसे केवल एक अलकार न मानकर काव्य मे विचित्रता या चमत्कार उत्पन्न करने वाली एक विशिष्ट कथन-प्रणाली माना है, जिसके छै प्रमुख भेद बतलाये है—(१) वर्णविन्यास वक्रता , (२) पद-पूर्वार्ध वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबध-वक्रता। इस तरह कुतक ने प्रबन्ध की छोटी से छोटी इकाई वर्ण या अक्षर से आरम्भ करके प्रबध तक की वक्रता का विवेचन अपने ग्रथ मे किया है, जो पूर्णतया वैज्ञानिक है ।[2]

(१) **वर्ण-विन्यास वक्रता**—इस वक्रता के अन्तर्गत वर्ण के सौदर्य विषयक सभी प्रकारो का उल्लेख किया गया है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालकार इसी के अन्तर्गत आ जाते है। वर्ण-मैत्री एवं वर्ण-युग्मो की योजना भी इसी के अन्दर आ जाती है। कुंतक ने बिना प्रयास के ही अनुप्रास के प्रयोग पर बल दिया है और बताया है कि अनुप्रास पर आग्रह रखने से अर्थ का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अत ऐसे वर्णो की योजना होनी चाहिए, जो समता तो रखते हो, परन्तु अर्थ-सौंदर्य को ध्यान मे रखकर प्रयुक्त हो। अत शब्दो की झकार पैर मे बजने वाले नूपुरो की झकार का अनुरणन तो करे, परन्तु उसमे हृदय के लिए आह्लादकारी अर्थ भी रहना चाहिए। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने यथास्थान अनुरणन का ध्यान रखते हुए इस वर्ण-विन्यास-वक्रता का प्रयोग किया है। जैसे —

> कमल-लोचन क्या कल आ गये।
> पलट क्या कु-कपाल-क्रिया गई।
> मुरलिका फिर क्यो वन मे बजी।
> बन रसा तरसा बरसा सुधा। १५।७८

यहाँ पर 'क', 'ल', 'र', 'ब' और 'स' की झकार ने वर्ण-विन्यास की वक्रता उपस्थित करते हुए अपूर्व चमत्कार उत्पन्न किया है, जिससे न तो अर्थ ही विच्छिन्न हुआ है और न अन्य कोई व्याघात उपस्थित हुआ है, अपितु समस्त पदावली पूर्णतया रसात्मक है।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३०१

२. वही, पृ० ३७२–३७३

(२) **पद-पूर्वार्ध-वक्रता**—इस वक्रता का प्रयोग पद के पूर्वार्ध मे वहाँ होता है जहाँ कवि यह चाहता है कि किसी वस्तु का अलौकिक ढग से तिरस्कार किया जाय अथवा अलौकिक रूप से उत्कर्ष दिखलाया जाय। इसके अनेक भेद होते है जैसे—रूढि-वैचित्र्य-वक्रता, पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, सवृत्ति-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता आदि।[1] इनमे से उपचार-वक्रता प्रमुख है। इसमे प्राय कवि घन पदार्थों मे द्रव का, अमूर्त पदार्थों मे मूर्त पदार्थ के धर्म का, अचेतन मे चेतन धर्म का आरोप करता हुआ एक विचित्र सरसता उत्पन्न किया करता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे इस उपचार-वक्रता के भी उदाहरण मिल जाते है। जैसे —

उपचार-वकता—

व्रज-धरा-जन के उर मध्य जो, विरह-जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उसको कभी, नयन का वह वारि-प्रवाह भी।

यहाँ पर कवि ने 'शोक' के लिए जिस 'कालिमा' शब्द का प्रयोग किया है, वह कालिमा तो मूर्त है, दिखाई देती है, परन्तु शोक कभी मूर्त नही होता। अतः अमूर्त के लिए मूर्त्त पदाथ का प्रयोग करके कवि ने यहाँ उपचार-वक्रता का प्रयोग किया है।

पर्याय-वक्रता—इस वक्रता के अन्तर्गत उचित स्थान पर उचित पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिससे काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ रसात्मकता आ जाती है।[3] 'प्रियप्रवास' मे पर्याय-वक्रना का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे ·—

कालिन्दी सी कलित-सरिता दर्शनीया-निकुंजे।
प्यारा वृन्दा-विपिन विटपी-चारु न्यारी लताये।
शोभा वाले विहग जिसने है दिये हा! उसीने।
कैसे माधो-रहित व्रज की मेदिनी को बनाया। १५।३६

यहाँ कवि ने 'माधो' शब्द का अत्यन्त वक्रता के साथ प्रयोग किया है, क्योकि इसका अर्थ श्रीकृष्ण तथा वसत दोनो होता है और जिस तरह

---

१ भारतीय-साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० ३७९
२. वही, पृ० ३८३
३. वही, पृ० ३८१

वसत ऋतु के अभाव मे सुदर नदी, दर्शनीय कुज, सुदर वन, दिव्य वृक्ष-लताये, शोभाशाली विहग आदि का कोई महत्व नही, क्योकि वसत ऋतु मे ही इन सबका सौदर्य आह्लादकारी हो जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के बिना भी उक्त सभी पदार्थो का होना व्यर्थ है। अतः कवि ने पर्याय-वक्रता के चमत्कार द्वारा 'माधो' शब्द का प्रयोग करते हुए यहाँ अत्यंत मार्मिकता एव सरसता का सचार किया है। इसी प्रकार पद-पूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेद भी 'प्रियप्रवास' मे मिल सकते है। परन्तु विस्तारभय से सबका विवेचन न करके उक्त दो उदाहरणो से ही कवि के कौशल का पता लगा सकते है।

(३) **पदपरार्ध-वक्रता**—इस वक्रता का प्रयोग पदो के उत्तरार्द्ध मे होता है। इसके भी काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, सख्या-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता आदि कई भेद होते है। इनमे से कारक-वक्रता के अतर्गत कविजन किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारको मे विपर्यय कर देते हैं, जिससे काव्य मे समधिक रुचिरता आ जाती है। विशेषतया जहाँ कवि अचेतन पदार्थ मे चेतनत्व का आरोप करके उसमे चेतन की सी क्रिया का निवेश कर देते है, वहाँ रस का परिपोष होने के कारण कारक-वक्रता होती है।[1] 'प्रियप्रवास' मे इस कारक-वक्रता के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते है। जैसे—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार मे।
मै हूँ सुदर मानदड ब्रज की शोभामयी भूमि का।९।१५

यहाँ कवि ने गोवर्द्धन पर्वत का वर्णन एक अत्यत गर्वपूर्ण व्यक्ति के रूप मे किया है, जो अपने घमड मे चूर होकर सिर ऊपर उठाकर सदैव देखता हो। अत अचेतन गोवर्द्धन पर्वत मे एक चेतन व्यक्ति के गुणो का आरोप करके यहाँ कारक-वक्रता का प्रयोग किया गया है। यह पदपरार्ध-वक्रता का ही एक भेद है। इसके अन्य भेदो को भी 'प्रियप्रवास' मे देखा जा सकता है।

(४) **वाक्य-वक्रता**—इस वक्रता का प्रयोग वाक्य मे होता है। इसके असख्य भेद है। सारे अलंकार इसी वाक्य-वक्रता के अतर्गत आते हैं।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३६८-३६९

वैसे भी कवियो की प्रतिभा अनंत होती है। अत. जिस वाक्य को एक कवि एक प्रकार से कहता है, उसे दूसरा दूसरे ढग से प्रस्तुत करता है। इसी कारण कवि-प्रतिभा की अनतता के कारण इस वाक्य-वक्रता के भेद भी अनत हो गये है। कुतक ने इसी वक्रता के अतर्गत रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा समाहित नामक अलकारो का भी विवेचन किया है।[1] इस वाक्य-वक्रता मे वस्तु-वक्रता भी आ जाती है और इसी वस्तु-वक्रता के अतर्गत कुतक ने स्वभावोक्ति अलकार को मान लिया है, क्योकि जिस वस्तु का वर्णन स्वभाविक रूप से किया जाय वही स्वभावोक्ति अलकार होता है। परन्तु कुतक ने स्वभाविक वर्णन की अपेक्षा रसात्मक वर्णन को अधिक महत्व दिया है। इस वाक्य-वक्रता का रूप 'प्रियप्रवास' मे तो पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है, क्योकि अलकारो के प्रयोग मे सर्वत्र वाक्य-वक्रता का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण आगे चलकर अलकार-विधान के अतर्गत देखे जा सकते है। यहाँ अनावश्यक विस्तार के भय से उनके उदाहरण नही दिये जा रहे है।

(५) **प्रकरण-वक्रता**—इस वक्रता का प्रयोग प्रकरण मे होता है। प्रकरण प्रबध के एक देश को कहते है और प्रकरणो के पारस्परिक सहयोग से ही प्रबध की प्रकृष्टता सम्पन्न होती है। यदि प्रकरण मे ही किसी प्रकार का दोष होता है, तो सम्पूर्ण प्रबध भी दोषयुक्त कहलाता है। अत. कविजन प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुदर बनाने का प्रयत्न करते है और उसमे ऐसे-ऐसे प्रसगो की योजना की जाती है, जिससे सम्पूर्ण काव्य मे चारुता आ जाती है। इसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक माना गया है कि नायक के चरित्र मे ऐसी दीप्ति उत्पन्न की जाती है, जिससे सौदर्य का उन्मीलन होता है और लालित्य का विकास होता है इसे प्रकरण-वक्रता का अन्यतम प्रकार स्वीकार किया गया है।[2] इस अन्यतम प्रकार के आधार पर यदि 'प्रियप्रवास' के नायक अथवा नायिका पर दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा कि कवि ने इन दोनो के चरित्र मे एक ऐसी अद्भुत वक्रता अथवा चमत्कार की सृष्टि की है, जो 'प्रियप्रवास से पूर्ववर्ती काव्यो मे नही दिखाई देती। यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा राधा के जीवन को लोकोपकार, विश्व-प्रेम, स्वजाति-सेवा, लोक-कल्याण, आर्त्तजनो के प्रति उदारता, अनाथो की रक्षा आदि से परिपूर्ण दिखाकर प्रकरण-वक्रता के अन्यतम प्रकार का प्रयोग किया

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३७३-३७४

२. वही, पृ० ४१५

है, जिसके परिणामस्वरूप सारा काव्य भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक बन गया है और आधुनिक युग की प्रारम्भिक सरल कृति होकर भी उत्कृष्ट स्थान का अधिकारी हो गया है।

इस प्रकरण-वक्रता का दूसरा प्रकार यह बताया गया है कि कविजन काव्य की कथावस्तु मे अपनी ओर से नवीन कल्पना करके प्रबध की चारुता बढाया करते है · वह नवीन कल्पना भी रस- निर्भर होती है।[1] इस द्वितीय प्रकार का रूप भी 'प्रियप्रवास' मे विद्यमान है, क्योकि कवि हरिऔध ने श्रीकृष्ण की लोक-प्रचलित कथा को बुद्धि-सगत बनाने के लिए कालिय नाग, गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठाने, दावानल का पान करने आदि से सबधित प्रसगो को प्रतीकात्मक रूप मानकर उनका संबंध मानव-जीवन के व्यावहारिक कार्यों से जोड दिया है। जैसे कालिय नाग की कथा को एक प्रपीडक जाति का कृष्ण द्वारा निष्कासन मान लिया गया है। गोवर्द्धन पर्वत की विशाल कदराओ मे श्रीकृष्ण ने समस्त ब्रजवासियो के सुरक्षित रहने की सम्पूर्ण व्यवस्था करदी थी और सर्वत्र श्रीकृष्ण का प्रसार था। इसलिये उसे उँगली पर उठा लिया कहा जाता है। इसी तरह दावानल मे शीघ्र घुसकर श्रीकृष्ण ने समस्त गोप एव गायो को बचा लिया था, इसी को देखकर यह कहा जाने लगा कि श्रीकृष्ण दावानल को पी गये। इस तरह अलौकिक कथाओ को मानवीय रूप देकर नवीन उद्भावनाये की गई है। भले ही ऐसा करने से काव्य मे सरसता का सचार न हुआ हो, परन्तु इतना अवश्य है कि इन नवीन कल्पनाओ से काव्य मे चमत्कार की सृष्टि हुई है। ऐसे ही इस वक्रता के अन्य भेद भी है। इस प्रकार 'प्रियप्रवास' मे प्रकरण-वक्रता को भी अपनाकर कवि ने अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है।

(६) **प्रबंध-वक्रता**—यह वक्रता काव्य की सबसे अधिक व्यापक वक्रोक्ति मानी गई है। इसका आश्रय न तो अक्षर होता है, न पद, न वाक्य और न वाक्यार्थ, वरन् आदि से लेकर अत तक सम्पूर्ण काव्य ही इस वक्रोक्ति का आधार होता है। इसके भी विभिन्न भेद होते हैं। उनमे से प्रथम भेद यह है कि जहाँ कवि मूल कथानक के रस को बदल कर नवीन चमत्कारी रस का अविर्भाव करता है, जिससे कथामूर्ति आमूल रसस्निग्ध हो जाती है तथा

१· भारतीय साहित्य-शास्त्र पृ० ४१६

श्रोताओ का विशेष अनुरजन होता है।[1] दूसरा भेद यह है कि कभी-कभी कथानक का समग्र भाग रसमय नही होता। आदि अश अधिक सरस तथा हृदयग्राही होता है और उत्तर अश अधिक सरस नही होता, तो कवि विरस अश को छोडकर केवल सरस अंश को लेकर अपने काव्य की सृष्टि करता है। तीसरा भेद यह है कि कविजन एक ही कमनीय फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कथानक आरभ करते है, परन्तु नायक अपने बुद्धि-वैभव से अन्य फलो को भी प्राप्त कर लेता है। चौथा भेद काव्य के नाम मे चमत्कार या वक्रता का होना बतलाया गया है और पाँचवा भेद वहाँ माना गया है जहाँ एक ही प्रसिद्ध कथानक को भिन्न-भिन्न रूप मे अकित करते हुए कविजन विलक्षणता उत्पन्न किया करते है।[2] उक्त भेदो के आधार पर जब 'प्रियप्रवास' पर दृष्टि डाली जाती है तब पता चलता है कि यहाँ प्रबंध-वक्रता के प्रथम भेद को पूर्णतया तो अपनाया नही गया है, क्योकि प्राय: कृष्ण-गमन एव ब्रज के विलाप आदि मे जिस रस का वर्णन अन्य काव्यो मे है, उसी रस को कवि ने भी अपनाया है, परन्तु हाँ कवि ने उस विप्रलम्भ शृगार के शोक का वर्णन यहाँ इतना गहन एवं स्थायी रूप देते हुआ किया है, जिससे वह शोक सचारी भाव न रहकर स्थायी भाव बन गया है और करुण रस का आविर्भाव हो गया है।

प्रबध-वक्रता के दूसरे भेद को भी कवि ने अपनाया है, क्योकि प्राय: उसने कृष्ण-गमन, व्रजवासियो के विलाप, कालिय नाग, दावानल, गोवर्द्धन-पर्वत का उँगली पर उठाना, उद्धव-गोपी सवाद, उद्धव-राधा-सम्वाद आदि उन्ही प्रसंगो को यहाँ स्थान दिया है, जो सरस है तथा हृदयग्राही हैं और अन्य नीरस प्रसगो को नही अपनाया है, उनके केवल नाम देकर ही छोड़ दिये है, जैसे पूतना की कथा, चाणूर मल्ल कस आदि के बध की कथा इत्यादि। उक्त प्रसग कवि के अभिप्रेत रस के अनुकूल नही है। अत यहाँ उन्हे न अपनाकर केवल विरह-वर्णन एव राधा-कृष्ण के विश्व-प्रेम से सबधित प्रसगो को ही सगुम्फित किया गया है। इस वक्रता का तृतीय भेद यहाँ नही अपनाया गया है। हाँ चतुर्थ भेद अवश्य विद्यमान है, क्योकि कवि ने पहले इस काव्य का नाम 'ब्रजागना-विलाप' रखा था, परन्तु फिर 'प्रियप्रवास' कर दिया। इस नाम मे एक विशिष्ट वक्रता एवं चमत्कार विद्यमान

---

१ भारतीय साहित्य-शास्त्र ४२१-४२२

२. वही, पृ० ४२३-४२४

है, क्योकि काव्य मे केवल गोपियो का विलाप ही विलाप नही है, यहाँ गोप, गोपी, नद, यशोदा, राधा आदि भी विलाप करती हैं। दूसरे, विलाप को ही यहाँ महत्व प्रदान नही किया गया है, अपितु श्रीकृष्ण के चले जाने पर राधा के हृदय मे किस तरह विश्व-प्रेम जाग्रत होता है, इसको प्रमुख रूप से दिखाने की चेष्टा की गई है। अत ये बाते 'व्रजागना-विलाप' नाम से सिद्ध न होती, जबकि 'प्रियप्रवास' अर्थात् 'प्रिय के गमन' द्वारा पूर्णतया सिद्ध हो रही हैं। इसी कारण यहाँ प्रबध-वक्रता के चतुर्थ प्रकार के दर्शन होते हैं। प्रबध-वक्रता का पाँचवाँ भेद भी किसी न किसी प्रकार से यहाँ मिल जाता है, क्योकि कवि ने लोक-प्रसिद्ध श्रीकृष्ण की कथा को एक नया मोड एव नया रूप प्रदान करते हुए ही यहाँ प्रस्तुत किया है, जिससे कथानक मे चारुता आगई है और प्रबध काव्य मे नवीनता के साथ-साथ मार्मिकता आगई है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारो एवं भेद-प्रभेदो का प्रयोग करते हुए काव्य को सरस एव मार्मिक बनाने की चेष्टा की है और चमत्कार उत्पन्न करते हुए कौतूहल की भी सृष्टि की है। परन्तु ऐसा नही है कि सारा काव्य वक्रोक्ति से ही परिपूर्ण हो। वक्रोक्ति के ये भेद तो यत्र-तत्र ही मिलते हैं और जहाँ तक प्रबध-वकता का प्रश्न है, वह भी काव्य को अधिक विशिष्टता प्रदान नही करती, अपितु उसके द्वारा कही-कही तो कथा हास्यास्पद भी हो गई है। जैसे कवि ने प्राय· अधविश्वास एवं रूढि परम्परा को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, परन्तु तृतीय सर्ग के अंतर्गत नीरव निशीथ मे विकट-दंत दिखाकर प्रेतो एव मुख-फैलाए हुए प्रेतिनियो का वर्णन करके कवि स्वयं अंधविश्वास मे लीन हो गया है। इसी तरह कालीदह में कृष्ण के पेड़ पर चढकर कूदने, यमुना मे लापता हो जाने तथा उस कालीनाग के सिर पर खडे होकर बशी बजाने का वर्णन करके कवि ने अलौकिकता को ही अपना लिया है और वह किसी प्रकार भी इस घटना को मानवीय रूप नही दे सका है। यही बात गोबर्द्धन पर्वत के उँगली पर उठाने की है। हरिऔध जी ने लिखा है कि भयकर वर्षा के समय श्रीकृष्ण ने समस्त ब्रजजनो को प्रेरणा देकर या अपनी वाणी से उत्तेजित करके या उठाकर गोबर्द्धन पर्वत की कदराओ मे सुरक्षित भेज दिया था और श्रीकृष्ण मे इतनी स्फूर्ति थी कि वे समस्त व्रजवासियो के पास तुरन्त पहुँच जाते थे तथा जो कुछ वे कहते थे सभी लोग उसे करने लिए तुरन्त तैयार हो जाते थे। बस इसी बात को मुहावरे के रूप मे "उँगली पर उठाना"

कहते हैं । अत· श्रीकृष्ण ने गोबर्द्धन के आस-पास रहने वालो को बस इसी तरह उँगली पर उठा लिया था । कवि के इस निरूपण मे भी कोई विशेष वक्रता नही आ पाई है । ऐसी ही अन्य बाते भी हैं । अत प्रबध-वक्रता का कोई उत्कृष्ट रूप यहाँ दिखाई नही देता । इसी कारण यहाँ वक्रोक्ति को तो अपनाया गया है, परन्तु उसका कोई विशिष्ट रूप इस काव्य मे चित्रित नही हुआ है ।

अलंकार-विधान—"अलकरोतीति अलकार" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो अलम् अर्थात् भूषित करे वह अलकार कहलाता है । वामनाचार्य ने "सौदर्यमलङ्कार" कहकर अलकार को शब्द और अर्थ में सौदर्य उत्पन्न करने वाला माना है । परन्तु अधिकाश विद्वान् गुणो को काव्य का स्थायी धर्म और अलकारो को अस्थायी धर्म मानते है । वैसे भी अलकार साधन हैं, साध्य नही हो सकते । इसलिए दडी की यह परिभाषा उचित ही है कि "काव्य-शोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते" अर्थात् अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले होते है । परन्तु चन्द्रालोककार जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जो कोई काव्य को अलकार से रहित मानता है, वह विद्वान् अग्नि को उष्णता से रहित क्यो नही मानता ।[1] इससे अलकारो की अनिवार्यता पर जोर दिया गया दिखाई देता है । परन्तु आगे चलकर आपने "हारादिवदलकार. सन्निवेशो मनोहर" कहकर अलकारो को हार आदि आभूषणो की भाँति काव्य-शरीर को सजाने वाला माना है । अब जिस तरह बिना आभूषणो के भी शरीर की शोभा हो सकती है, उसी तरह बिना अलकारो के भी काव्य सुशोभित एव मनोहर बन सकता है । परन्तु भामह ने लिखा है—"न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता-मुखम्" अर्थात् सुन्दर होकर भी स्त्री का मुख बिना आभूषणो के शोभा नही देता और इसी बात को आचार्य केशव ने इस तरह लिखा है कि भले ही कोई स्त्री सुन्दर जाति की हो, सुलक्षणी हो, सुन्दर वर्ण की हो, सरस हो और सुन्दर वृत्त की हो, परन्तु जैसे वह बिना आभूषण के शोभा नही देती, वैसे ही कविता भी उक्त सभी लक्षणो से युक्त होकर भी बिना अलकारो के शोभा नही पाती ।[2] अत इन आचार्यों के मतानुसार कविता मे अलकारो का होना

---

१. अँगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलंकृती ।
   असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलं कृती ।
   —चन्द्रालोक १।८

२. जदिप सुजाति, सुलच्छिनी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
   भूषन बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ।

सौदर्य के लिए सर्वथा अपेक्षित है। यही कारण है कि सभी कवि किसी न किसी सीमा तक अपने काव्य मे अलकारो को अपनाते आये है और अलंकारो से कोई भी अपना पल्ला नही छुडा पाया है। परन्तु अलकारो की अधिकता कभी रुचिकर नही होती।

'प्रियप्रवास' मे कवि हरिऔध ने भी अलकारो को अपनाया है और भाव-निरूपण मे उनका उचित उपयोग किया है। साधारणतया अलंकार कथन के विभिन्न ढग है। इसलिए काव्य मे उनका प्रयोग सर्वथा अनिवार्य सा हो जाता है। जब कथन-प्रणाली ही अलंकार है, तब काव्य इनसे कैसे मुक्त हो सकता है ? 'प्रियप्रवास' मे इसी कारण अलकारो के विभिन्न रूप विद्यमान है और कवि ने चमत्कार एव सौदर्य की सृष्टि के लिए उनका उचित उपयोग किया है। परन्तु हरिऔध जी के अलकार-विधान की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे परम्परागत उपमानो की अधिकता होने पर भी उनके प्रयोग मे नवीनता दिखाई देती है और अलकारो के कारण कही भी रस या भाव-निरूपण मे कोई व्याघात उत्पन्न नही हुआ है। वैसे हरिऔध जी ने अलकारो के बहुत से भेदो को अपने काव्य मे स्थान दिया है। परन्तु विस्तारभय से केवल थोड़े से अलकारो के उदाहरण देकर ही उनके अलकार-विधान की विशेषताओ को जानने का प्रयत्न किया जायेगा।

'प्रियप्रवास' मे अलंकारो का स्वरूप—अलकारो को मुख्यतया तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालंकार। जहाँ शब्द के कारण कुछ चमत्कार होता है वहाँ शब्दालकार होता है, जहाँ अर्थ मे कविजन कुछ चमत्कार उत्पन्न कर देते है वहाँ अर्थालकार होता है और जहाँ दोनो अलकार साथ होते हैं वहाँ उभयालकार होता है। परन्तु प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के ही अलकार होते है। शब्दालकार मे से अनुप्रास अलंकार प्रमुख है। इस अलकार द्वारा वर्ण-मैत्री का प्रयोग करते हुए एकसी झंकार वाले शब्दो का एक साथ प्रयोग किया जाता है। इसके पाँच भेद माने गये हैं, परन्तु उनमे से प्रमुख भेदो के स्वरूप 'प्रियप्रवास' मे इस तरह विद्यमान है :—

छेकानुप्रास—

फूली फैली लसित लतिका वायु मे मद डोली।
प्यारी-प्यारी ललित-लहरे भानुजा मे विराजी।
सोने की सी कलित किरणे मेदिनी ओर छूटी।
कूलो कुजो कुसुमित वनो मे जगी ज्योति फैली

यहाँ पर 'फूली-फैली' मे 'फ' और 'ल' की, 'लसित-लतिका' मे 'ल' और 'त' की, 'ललित-लहरें' मे 'ल' की, 'कलित-किरणे' मे 'क' की, 'कूलो-कुजो' मे 'क' की और 'जगी-ज्योति' मे 'ज' की एक-एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास अलकार है।

वृत्यनुप्रास—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी।

यहाँ 'क' की अनेक बार आवृत्ति हुई है, इसलिए वृत्यनुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

किस तपोवन किस काल मे सच बता मुरली कल नादिनी।
अवनि मे तुझको इतनी मिली, मधुरता, मृदुता, मनहारिता।

यहाँ अन्तिम शब्दो मे दन्त्य-वर्णो की समता होने से श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास—यह अनुप्रास वही होता है, जहाँ तुकांत छन्द लिये जाते हैं। परन्तु 'प्रियप्रवास' तो अतुकान्त छन्दो मे लिखा गया है। **अतः** यहाँ इस अलंकार का प्रयोग अधिक नही हुआ है। फिर भी कही-कही इसकी झलक विद्यमान है। जैसे,

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि-निमग्ना का सहारा कहाँ है।

यमक—

विलसित उर मे है जो सदा देवता सा।
वह निज उर मे है ठौर भी क्यो न देता।
नित वह **कलपाता है** मुझे कान्त हो क्यो।
जिस विन **कल पाते** है नही प्राण मेरे।

यहाँ 'कलपाता' और 'कलपाते' शब्द एक से होकर भी अलग-अलग अर्थ के द्योतक हैं।

पुनरुक्ति—

पुत्र-प्रिया-सहित मजुल राग गा-गा।
ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।
ले-ले अनेक उर-बंधक-चारु ताने।
की श्याम ने परम मुग्धकरी क्रियाये।

यहाँ 'गा-गा' 'ला-ला' और 'ले-ले' मे एक ही बात को बार-बार कहकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

श्लेष—

विपुल धन अनेको रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम ! बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो।

यहाँ 'लाल' शब्द पुत्र और रत्न का वाचक होने के कारण अत्यन्त चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इसीलिए यहाँ श्लेष अलकार है।

अर्थालंकार—इन शब्दालकारो के अतिरिक्त कवि ने विभिन्न अर्थालकारो को भी अत्यन्त सुन्दरता एवं सजीवता के साथ अपने काव्य मे अपनाया है। जिनमे से कुछ प्रमुख अर्थालकारो का स्वरूप इस प्रकार है :—

उपमा—सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा का स्थान सर्वोपरि है। इस अलकार का प्रयोग विभिन्न सादृश्यो के आधार पर होता है, जिनमे से आकृति-सादृश्य तथा भाव या गुण-सादृश्य तथा रग-सादृश्य प्रमुख है। इसके साथ ही यह अलकार अनेक प्रकार से काव्य मे प्रयुक्त होता है। कही अमूर्त्त के लिए मूर्त्त वस्तु का साम्य, कही मूर्त्त वस्तु के लिए अमूर्त्त-साम्य, कही अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त-साम्य और कही मूर्त्त के लिए मूर्त्त-साम्य की योजना की जाती है। 'प्रियप्रवास' मे इस अलकार का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

आकृति-सादृश्य—

(१) मकर-केतन के कल-केतु-से।
लसित थे वर-कुडल कान मे।
(२) विकट दर्शन कज्जल मेरू-सा, सुर गजेन्द्र समान पराक्रमी।
द्विरद क्या जननी उपयुक्त है, यक पयोमुख बालक के लिए।

भाव या गुण-सादृश्य—

फूले कज समान मजु-दृगता थी मत्तता-कारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता भी मुग्धता-मूर्ति सी।
काली-कुचित-लम्बमान-अलके थी मानसोन्मादिनी।

रग-सादृश्य—

गगन साध्य समान सु-श्रोष्ठ थे।
दसन थे युगतारक-से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनदिनी।

अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान—

बेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालसाये।
हो जाती थी विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता-सी।

यहाँ कवि ने 'लालसा' जैसे अमूर्त्त भाव के लिए 'पुष्पिता माधवी लता' जैसे मूर्त्त उपमान का प्रयोग करके समता दी है।

मूर्त्त वस्तु के लिए अमूर्त्त उपमान—

हरीतिमा का सु-विशाल-सिधु-सा।
मनोज्ञता की रमणीय-भूमि-सा।
विचित्रता का शुभ-सिद्ध-पीठ-सा।
प्रशान्त-वृन्दावन दर्शनीय था।

यहाँ पर 'वृन्दावन' जैसे मूर्त्त पदार्थ की समता हरीतिमा के सिधु, मनोज्ञता की भूमि, विचित्रता के सिद्ध पीठ आदि अमूर्त्त पदार्थों से की गई है।

अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान—

विलोकनीया नभ नीलिमा समा, नवाम्बुदो की कल-कालिमोपमा।
नवीनतीसी कुसुमोपमेय थी, कलिदजा की कमनीय श्यामता।

यहाँ कवि ने यमुना की श्यामता की समता आकाश की नीलिमा तथा बादलो की कालिमा से दी है और दोनो ही अमूर्त्त है।

मूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान—

दोनो कधे वृषभ-वर-से है बडे ही सजीले।
लम्बी बाँहे कलभ-कर-सी शक्ति की पेटिका हैं।

यहाँ पर श्रीकृष्ण के कधे जैसे मूर्त्त पदार्थ है, वैसे ही उनके उपमान वृषभ-स्कध भी मूर्त्त उपमान हैं उसी तरह उनकी भुजाये भी मूर्त्त पदार्थ हैं और हाथी के बच्चे की सूँड भी भूर्त्त उपमान है।

मालोपमा—कही-कही कवि ने चमत्कार उत्पन्न करते हुए एक ही वस्तु के लिए विभिन्न उपमागे देकर इस मालोपमा अलकार का भी प्रयोग किया है, जिससे काव्य मे रुचिरता, प्रभावोत्पादकता और सरसता भी आगई है और एक बिम्बग्राही चित्र भी पाठको के सम्मुख उपस्थित हो गया है। जैसे श्रीकृष्ण के हृदय की समता करने के लिए कवि ने विभिन्न उपमानो की योजना करते हुए इस अलकार का इस तरह प्रयोग किया है :—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किशलय सा है स्नेह के उत्स सा है।

पूर्णोपमा—कवि ने प्राय. पूर्णोपमाओ का ही अधिक प्रयोग किया है। उक्त उदाहरणो मे से कई स्थानो पर पूर्णोपमा अलकार विद्यमान है। परन्तु फिर भी जहाँ उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द सभी विद्यमान हो, ऐसा एक और उदाहरण नीचे दिया जाता हैं :—

'नीले फूले कमल-दल सी गात की श्यामता है।'

यहाँ 'गात' उपमेय है, 'कमल दल' उपमान है, 'श्यामता' साधारण धर्म है और 'सी' वाचक शब्द है। अत: यहाँ पूर्णोपमा अलकार है।

उत्प्रेक्षा—सादृश्यमूलक अलकारो मे उत्प्रेक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा कविजन बडी-बड़ी उन्नत एव असभावित कल्पनाये करते हुए अपने विचार प्रकट किया करते है। इसके तीन प्रमुख भेद होते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनमे से 'प्रियप्रवास' मे वस्तूत्प्रेक्षा अलकार को अधिक अपनाया गया है। परन्तु अन्य दोनो उत्प्रेक्षाओ के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा—

विपुल सुन्दर बदनवार से, सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते ब्रज-सद्म-समूह के, वदन मे दसनावलि थी लसी।
नव-रसाल-सुपल्लव के बने, अजिर मे वर तोरण थे बँधे।
विपुल-जीह विभूषित था हुआ, वह मनो रस-लेहन के लिये।

हेतूत्प्रेक्षा—

सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया-पगा था।
कंजो मे से मधुप कढ के घूमते थे भ्रमे से।

मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना।

फलोत्प्रेक्षा—

धीरे-धीरे पवन ढिग जा फूल वाले द्रुमो के।
शाखाओ से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानो यो थी हरण करती फुल्लता पादपो की।
जो थी प्यारी न ब्रज जग को आज न्यारी व्यथा से।

रूपक—कवि हरिऔध ने जिस तरह उपमा एव उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्य-मूलक अलकारो द्वारा भावो के मार्मिक चित्र अकित किये हैं, उसी तरह रूपक अलकार के प्रयोग द्वारा भी काव्य मे सरसता एवं सजीवता की सृष्टि की है। यह रूपक अलकार प्रमुख रूप से तीन प्रकार का कहलाता है—निरग-रूपक, सागरूपक और परम्परित रूपक। इन तीनो रूपको के उदाहरण 'प्रियप्रवास' मे इस तरह विद्यमान हैं।

निरंगरूपक—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना।
तन्वगी कल हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली।

सागरूपक—

ऊधो मेरे हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमे कल्पना-क्यारियाँ थी।
न्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहो के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी।
सच्चिन्ता की सरस-लहरी-सकुला-वापिक थी।
नाना चाहे कलित कलियाँ थी लतायें उमगे।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-बेलियाँ थी।
सद्वाछा के विहग उसके मजु-भाषी बड़े थे।

परंपरितरूपक—

होगी हा! वह मग्नभूत अति ही मेरे वियोगाब्धि मे।
जो हो सभव तात पोत बन के तो त्राण देना उसे।

उक्त सादृश्यमूलक अलकारो के अतिरिक्त कवि ने अन्य बहुत से सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, तर्कन्यायमूल, गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूल, अध्यवसायमूल, लोक-

व्यवहारमूल तथा विशेषणवैचित्र्यमूल अलकारो का भी प्रयोग किया है। जिनके उदाहरण इस प्रकार है :—

रूपकातिशयोक्ति—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल व्रजधरा को फूंक देता जलाता।

विरोधाभास—

जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उजाला।
तेरा होना उदय ब्रज मे तो अँधेरा करेगा।

शुद्धापह्नुति—

अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है।

व्यतिरेक—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बडा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नही है।

सदेह—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार मे।
मैं हू सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमि का।

कैतवापह्नुति—

विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता बहु वारि था।
विपुल नीर बहाकर नेत्र से मिष कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती ब्रज की धरा।

स्मरण—

मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि मे कूजने मे खगो के।
मीठी ताने परम प्रिय की मोहनी वशिका की।

प्रतीप—

है दाँतो की झलक मुझको दीखती दाड़िमो मे ।
विम्बाम्रो मे वर अधर सी राजती लालिमा है ।
मैं केलो मे जघन-युग की मजुता देखती हूँ ।
गुल्फो की सी ललित सुषमा है गुलो मे दिखाती ।

भ्रान्तिमान—

अति सशकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता ।
ब्रज समूह विनाशन को खडे यह निशाचर है नृप कस के ।

परिकर—

स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना ।
बहुत सभव है यदि यो कहै सुन नही सकती 'जगदम्बिका' ।

परिकरांकुर—

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी ।
समझ था पड़ता बरसात मे उदक का रस नाम यथार्थ है ।

विषम—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था ।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी ।
पोरो मे कब ईख की विपुलता है ग्रथियो की भली ।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तू ने कहाँ की नही ।

दृष्टान्त—

कमल का दल भी हिमपात से दलित हो पडता सब काल है ।
कल कलानिधि को खल राहु भी निगलता करता बहु क्लान्त है ।
कुसुम सी सुप्रफुल्लित बालिका हृदय भी न रहा प्रफुल्ल ही ।
वह मलीन सकलमष हो गया प्रिय मुकुन्द-प्रवास-प्रसग से ।

निदर्शना—

कुअंगजो की बहु कष्टदायिता बता रही थी जन नेत्रवान को ।
स्वकटको से स्वयमेव सर्वदा विदारिता हो बदरी द्रुमावला.

अर्थान्तरन्यास—

हृदय चरण मे तो मैं चढा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमे सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल मे जो लिखा है।

विभावना—

श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोयी।
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनो।
ज्यो-ज्यो लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यो-त्यो आंसू अधिकतर थे लोचनो मध्य आते।

मानवीकरण—

आविर्भूता गगन-तल मे हो रही है निराशा।
आशाओ मे प्रकट दुख की मूर्तियाँ हो रही है।
ऐसा जी मे व्रज-दुख-दशा देख के था समाता।
भू-छिद्रो से विपुल करुणा-धार है फूटती सी।

निष्कर्ष यह है कि हरिऔध जी का अलकार-विधान अत्यत पुष्ट एव समृद्ध है और उन्होने अधिकाश प्राचीन अलकारो को अपनाते हुए अपने काव्य-कौशल को प्रकट किया है, जिसमे कही भी भावो के निरूपण मे व्याघात उत्पन्न नही हुआ है। हरिऔध जी ने प्राय. भावानुरूप अलकारो का प्रयोग किया है और कही-कही तो अलकारो के कारण भावो मे उत्कृष्टता एव मार्मिकता भी आ गई है। जैसे श्लेष अलकार का उदाहरण देते हुए ऊपर जिस 'लाल' शब्द का उल्लेख किया गया है, इस शब्द द्वारा कवि ने वहाँ कितनी मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता भरदी है। ऐसे ही अन्य स्थल भी हैं, जहाँ कवि ने अलकारो के सहारे भावो मे तीव्रता लाने का प्रयत्न किया है। इतना ही नही कवि ने सागरूपको के बनाने मे भी बडा ही कौशल दिखाया है। परन्तु कही-कही ये सागरूपक इतने लम्बे और अरुचिकर हो गये है कि काव्य का आनद जाता रहा है। जैसे, दशम सर्ग मे कवि ने जो हृदय मे उद्यान का आरोप करके सागरूपक बनाया है, वह कला-कौशल की दृष्टि से अत्यंत मार्मिक है तथा यहाँ रूपक का निर्वाह भी सुदर है, परन्तु सरसता एव धारा-प्रवाह की दृष्टि से उतना रुचिकर नही है। इतने लम्बे-लम्बे सागरूपक अधिक आनदप्रद नही होते। फिर भी कवि ने अलकारो के प्रयोग में

स्वाभाविकता एव सरसता का अधिक ध्यान रखा है और बहुत कम स्थलो पर अलंकारो को जान-बूझकर ठूंसने का प्रयत्न किया है। निस्सदेह कवि अलकार-योजना मे पर्याप्त सफल रहा है और उसने अलकारो के द्वारा भाव-व्यजना मे भी अपूर्व चमत्कार एव अद्भुत काव्य-कौशल प्रकट किया है।

छन्द-विधान—काव्य मे श्रवणशीलता एव श्रुतिप्रियता की सृष्टि के लिए किसी न किसी प्रकार के छद की आवश्यकता का अनुभव आरम्भ से ही हुआ था। यही कारण है कि ऋग्वेदादि प्राचीन काव्य-ग्रथो मे भी लय, गति एव एक व्यवस्थित क्रमानुसार छदो का प्रयोग हुआ है। भारतीय साहित्याचार्यो मे से भामह तथा रुद्रट ने तो महाकाव्य की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए छद के बारे मे कुछ नही लिखा है। परन्तु सर्वप्रथम दडी ने महाकाव्य मे पढने एव सुनने मे मधुर एव रमणीक छंन्दो की आवश्यकता का उल्लेख किया है तथा बतलाया है कि प्रत्येक सर्ग मे एक ही छद का प्रयोग करना चाहिए तथा सर्ग के अत मे भिन्न छद का प्रयोग अपेक्षित है।[1] आचार्य हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने भी छद के बारे मे दडी की ही बात का समर्थन किया है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इतना और जोड़ दिया है कि महाकाव्य मे एक सर्ग ऐसा भी हो सकता है, जिसमे नाना प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया जा सकता है। इन आचार्यो मे से हेमचन्द्र ने एक बडी ही महत्वपूर्ण बात की ओर सकेत किया है। आपने लिखा है कि "अर्थानुरूप छन्दस्त्वम्" अर्थात् सदैव अर्थ के अनुरूप छद-योजना होनी चाहिए।[2] पाश्चात्य विद्वानों मे से अरस्तू ने भी वीर-महाकाव्य (Epic) के लिए आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही छद हेक्सामीटर का प्रयोग आवश्यक माना है, यह हेक्सामीटर षट्पदी छद होता है।[3] परन्तु पाश्चात्य विकसनशील महाकाव्यो मे सर्वत्र छदो का प्रयोग दिखाई नही देता और न उनमे सर्ग के अत मे छद बदलते ही हैं, वरन् बीच-बीच मे गद्याश के प्रयोग भी मिलते है। वैसे ये महाकाव्य जनता के मध्य मे राज-दरबारो के बीच वाद्य-यन्त्रो के साथ गाये जाते थे तथा सस्वर सुनाये जाते थे। अत: इनमे गेय एव सुपाठ्य छदो का प्रयोग हुआ है, जिससे भावानुरूप प्रभाव की सृष्टि मे अत्यत सहायता मिली है। परन्तु छंद का होना

---

१ काव्यादर्श १।१८-१९

२ उभयवैचित्र्यं यथा रसानुरूपसंदर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्"—इत्यादि
—हेमचन्द्र काव्यानुशासन, अध्याय ८

३. Aristotles Poetics--Part III—of the Epic Poem.

कोई आवश्यक तत्व नही माना गया है। फिर भी प्रभावात्मकता एव भाव-प्रेषणीयता के लिए छदो की सहायता जितनी अपेक्षित है उतनी अन्य किसी की नही। इसी कारण काव्य मे छंन्दो की प्रशसा करते हुए पाश्चात्य कवि कॉलरिज ने लिखा है कि छद साधारण मनोवेगो और ध्यान सबधी चेतना एवं सवेदनशीलता की वृद्धि मे बडी सहायता पहुँचाते है।[१] यही बात कविवर यीट्स ने दुहराई है कि छद मस्तिष्क को जाग्रत-मूर्छा की स्थिति मे सुलाने का कार्य करता है।[२] अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स भी काव्य की प्रभावोत्पादक शक्ति के लिए छन्दो का होना आवश्यक मानते है।[3]

भारतीय मनीषियो मे से आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'छद के बधन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौदर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखलाई पडता है।'[४] प्रसादजी ने भी छदो की प्रभावशालीनता पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'प्राय. सक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नही। इसी स्थान मे हम सगीत की भी योजना कर सकते है। सद्य प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नही।'[५] कविवर पत ने तो यहाँ तक लिखा है कि "कविता तथा छद के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छंद मे लयमान होता है।"[६]

भारतीय साहित्य मे ये छद दो प्रकार के प्रचलित हैं—वर्णिक तथा मात्रिक। वर्णों की गणना और वर्ण-क्रम के आधार पर जिन छदो की रचना होती है उन्हे वर्णिक छद कहते है और जिन छदो मे वर्णों के ऊपर ध्यान न देकर केवल मात्राओ की गणना की जाती है, उन्हे मात्रिक छंद कहते हैं। सस्कृत काव्य मे प्राय: वर्णिक छदो का ही प्रचार रहा है और अधिकाश कवितायें वर्णो के क्रम से ही निर्मित छदो मे लिखी गई है, जबकि हिन्दी की

---

१ Principles of Literary Criticism—p. 143.

२. वही, पृ० १४३

३. वही, पृ० १३६

४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६

५. इन्दु, कला २, किरण १, श्रवण शुक्ला २, सँ० १६६७, पृ० २०

६ पल्लव की भूमिका, पृ० २१

अधिकाश कविताये मात्रिक छंदो में ही निर्मित हुई हैं। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस मे थोडे से वर्णिक छदो मे भी अपनी रचना की थी, तथापि वर्णिक छदो की ओर सबसे अधिक ध्यान आधुनिक युग मे ही दिया गया। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम हिन्दी के कवियो से मात्रिक छदो के अतिरिक्त सस्कृत के वर्णिक छदो को अपनाने का आग्रह किया और स्वय ने भी वर्णिक छदो मे कवितायें लिखी। इनके आग्रह एव अनुरोध का ही यह परिणाम था कि हरिऔध जी ने अपना सारा 'प्रियप्रवास' काव्य वर्णिक छदो मे ही लिखा।

'प्रियप्रवास' की छंद-योजना—'प्रियप्रवास' मे सर्वत्र वर्णिक छदो का ही प्रयोग हुआ है। सस्कृत साहित्य मे इन वर्णिक छदो मे लिखी हुई रचनाये प्राय: अतुकान्त है। इसी तरह 'प्रियप्रवास' मे भी सर्वत्र अतुकान्त एव अन्त्यानुप्रास-हीन कविता है। यहाँ पर कवि ने द्रुतविलम्बित, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित, मन्द्राक्रान्ता, बसन्ततिलका, वशस्थ और शिखरणी नामक सात छदो को अपनाया है, जिनमे से सर्वाधिक द्रुतविलम्बित, मालिनी, मन्दाक्रान्ता और वशस्थ छंदो का प्रयोग किया गया है। साधारणतया वर्णनात्मकता एव शीघ्रतापूर्वक कथा के कहने मे द्रुतविलम्बित छद सर्वथा उपयुक्त होता है। इसी कारण कवि ने जहाँ-जहाँ कथा को शीघ्रतापूर्वक किसी के मुख से या स्वय कहना आवश्यक समझा है, वहाँ-वहाँ द्रुतविलम्बित छद का प्रयोग किया है। ऐसे ही वसततिलका, मालिनी तथा मन्दाक्रान्ता छद सदैव वियोग या विलाप के वर्णन मे सर्वथा उपयोगी होते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' की रचना मन्दाक्रान्ता छद मे की है तथा भवभूति ने बसततिलका तथा मालिनी छद मे राम के विलाप का वर्णन करते हुए उत्तररामचरित नाटक मे करुण रस की अभिव्यक्ति की है। अत. वियोग-जन्य खिन्नता, उदासी, अवसाद या विलाप आदि का वर्णन करने के लिए कवि ने यहाँ सर्वत्र बसततिलका, मन्दाक्रान्ता तथा मालिनी छद अपनाये हैं, जिनमे इन वियोग-जन्य भावो की मद-मद गति से उठने की प्रक्रिया, उनके प्रसार एव उनके प्रभाव का अत्यत प्रभावशाली वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य छदो को भी कवि ने सर्वथा भावानुकूल प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। इन समस्त छदो के लक्षण एव उदाहरण इस प्रकार है :—

द्रुतविलम्बित—इस छद का लक्षण यह है—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ

भरी"[1] अर्थात् इसमे नगण, भगण, भगण, और रगण नामक चार गण होते है और १२ वर्ण होते है। जैसे :—

दिवस—का अव—सान स—मीपथा=१२ वर्ण
। । ।—ऽ । ।—ऽ । ।—ऽ । ऽ
नगण — भगण — भगण — रगण

मालिनी—इस छद का लक्षण यह है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकै"[2] अर्थात् मालिनी छद मे नगण, नगण, मगण, यगण और यगण नामक ५ गण होते है और १५ वर्ण होते है। जैसे :—

प्रमुदि—त मथु—रा के मा—नवो को—बनाके=१५ वर्ण
। । ।—। । ।—ऽ ऽ ऽ—। ऽ ऽ—। ऽ ऽ
नगण—नगण — मगण — भगण —यगण

शार्दूल विक्रीड़ित—इस छंद का लक्षण यह है—"सूर्याश्वैर्मसजस्तता: सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्"[3] अर्थात् इस छंद के अंतर्गत मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और एक गुरु (ऽ) होता है। इस तरह कुल मिलाकर १९ वर्ण होते है। जैसे :—

ज्यो ज्यो थी—रजनी —व्यतीत—करती—औदेख—तीव्योम—को=१९ वर्ण
ऽ ऽ ऽ—। । ऽ—। ऽ ।—। । ऽ—ऽ ऽ ।—ऽ ऽ ।—ऽ
मगण — सगण —जगण — सगण— तगण— तगण —गुरु

मन्दाक्रान्ता—इस छंद का लक्षण इस प्रकार है—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत्"[4] अर्थात् इस छद मे मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और अन्त में दो गुरु वर्ण होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर १७ वर्ण होते है। जैसे :—

ऐसी रो—ई सक—ल जन—ता खो ब—ची धीर—ता को=१७ वर्ण
ऽ ऽ ऽ—ऽ । ।—। । ।—ऽ ऽ ।—ऽ ऽ ।—ऽ, ऽ
मगण —भगण —नगण — तगण — तगण —दो गुरु

---

१ वृत्तरत्नाकर ३।४९
२. वही ३।८७
३. वही ३।१०१
४. वही ३।९७

बसंततिलका—इस छद का लक्षण यह है—"उक्ता बसंततिलका तभजाजगौग "[1] अर्थात् इस छद मे तगण, भगण, जगण, सगण और अन्त में दो गुरु वर्ण होते है। इस तरह कुल मिलाकर १४ वर्ण होते है। जैसे—

सू ने स—भी स द—न गो कु—ल के हु—ए थे=१४ वर्ण

ऽ ऽ । — ऽ । । — । ऽ । — । ऽ । — ऽ, ऽ

तगण — भगण — जगण — सगण — दो गुरु

वंशस्थ—इस छद का लक्षण यह है—"जतौ तु वशस्थ मुदीरितं जरौ"[2] अर्थात् यहाँ जगण, तगण, जगण और रगण नामक ४ गण तदनुसार १२ वर्ण होते हैं। जैसे :—

गिरीन्द्र—मे व्याप—विलोक—नीय थी=१२ वर्ण

। ऽ । — ऽ ऽ । — । ऽ । — ऽ । ऽ

जगण — तगण — जगण — रगण

शिखरिणी—इस छद का लक्षण यह है—"रसे रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला ग. शिखरिणी।"[3] अर्थात् इस छद मे यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त मे एक लघु और एक गुरु वर्ण होता है। इस तरह कुल मिलाकर १७ वर्ण होते है। जैसे—

अनूठी — आभा से — सरस — सुषमा — से सुर —स से=१७ वर्ण

। ऽ ऽ — ऽ ऽ ऽ — । । । — । । ऽ — ऽ । । — । ऽ

यगण — मगण — नगण — सगण — भगण — लघु, गुरू

उक्त छदो के समझने के लिए **"यमाताराजमानसलगा"** नामक एक सूत्र प्रचलित हैं, जिसमे समस्त गणो के नाम तथा लक्षण भी आ जाते है। जैसे सस्कृत छदो मे आठ गण होते है—यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण। उक्त सूत्र मे प्रत्येक गण का प्रथम शब्द आठ गणो को सूचित करता है और अतिम 'ल' और 'गा' क्रमश: लघु और गुरु वर्ण के द्योतक है। इन गणो के लक्षण भी उक्त सूत्र मे इस तरह आगये हैं जैसे :—

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।६६

२ वही ३।४६

३. वही ३।९३

गण वर्ण		सूत्र	सकेत
१–यगण=एक लघु दो गुरु	=	यमाता =	। ऽ ऽ
२–मगण=तीनो गुरु	=	मातारा=	ऽ ऽ ऽ
३–तगण=दो गुरु एक लघु	=	ताराज =	ऽ ऽ ।
४–रगण=पहला गुरु, दूसरा लघु तथा तीसरा गुरु	=	राजभा=	ऽ । ऽ
५–जगण=पहला लघु, दूसरा गुरु और तीसरा लघु	=	जभान =	। ऽ ।
६–भगण=पहला गुरु दोनो लघु	=	भानस =	ऽ । ।
७–नगण=तीनो लघु	=	नसल =	। । ।
८–सगण=पहले दोनो लघु तीसरा गुरु	=	सलगा =	। । ऽ

इस तरह हरिऔध जी ने हिन्दी-काव्य मे नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए जहाँ कथानक के अतर्गत नवीन उद्भावना की थी, वहाँ परम्परागत छदो के अतर्गत भी नवीन परम्परा का उद्घोष किया था। इसमे कोई सदेह नही कि सस्कृत के वर्णिक छदो का प्रयोग अत्यत दुरूह तथा दुष्कर होता है और मात्रिक छदो के प्रयोग मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती। इसी कारण हिन्दी-कविता मे मात्रिक छदो की ओर अधिक झुकाव रहा और वर्णिक छदो की दुरूहता मे फँसने का प्रयत्न अधिक नही किया गया। फिर भी आधुनिक युग मे इस ओर भी सराहनीय प्रयत्न हुए, उनमे से हरिऔध जी का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशसनीय है। परन्तु जैसाकि कविवर पत ने लिखा है कि "हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छदो ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छन्दो मे नही"[1] इस आधार पर प्रतीत होता है कि हरिऔध जी वर्णिक वृत्तो के प्रयोग मे तो सर्वथा सफल हुए हैं और पर्याप्त परिश्रम करके उनका भावानुकूल प्रयोग भी किया है, परन्तु छदो के द्वारा जो श्रुतिसुगमता, श्रुतिमधुरता एव सगीतात्मकता का सृजन होता है उनके लिए हरिऔध जी के ये छद अधिक सफल नही दिखाई देते। सस्कृत कविता मे तो उक्त तीनो गुण विद्यमान है, परन्तु हरिऔध जी की

---

१ पल्लव की भूमिका, पृ० २३

इस कविता मे ये गुण क्यो नही आ सके है—इसका प्रमुख कारण यह है कि सस्कृत भाषा विभक्ति-प्रत्यय-विभूषित तथा समास एव सधि-प्रधान भाषा है। उसमे सश्लिष्टात्मक पदो की प्रधानता रहती है, जबकि हिन्दी विश्लेषणात्मक भाषा है, इसमे विभक्ति-प्रत्यय लगकर भी जटिलता नही होती और इसके प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् ही लिखे जाते है, जिससे यहाँ समास एवं सधि की प्रधानता नही होती। इसीलिए उक्त वर्णिक छद सश्लिष्टता-प्रधान सस्कृत-भाषा मे तो श्रुतिसुगमता श्रुतिमधुरता, एव सगीतात्मकता की सृष्टि मे अत्यत सफल होते हैं, परन्तु हिन्दी जैसी विश्लेषणात्मक एवं सधि-समास-विहीन भाषा मे इन वर्णिक छदो के कारण कृत्रिमता, आडम्बर एवं अस्वाभाविकता आ जाती है। यही कारण है कि कवि हरिऔध पर्याप्त परिश्रम करने के उपरान्त भी 'प्रियप्रवास' की कविता मे उतनी सरसता, श्रुतिमधुरता एव सगीतात्मकता की सृष्टि नही कर सके है, जितनी कि उनके 'रसकलस' मे विद्यमान है। यहाँ भाव एव रस के अनुकूल छदो का प्रयोग होते हुए भी वे कृत्रिमता एव अस्वाभाविकता से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, उनमे भावो की धारावाहिकता नष्ट हो गई है और उनसे हिन्दी-कविता की स्वाभाविक प्रवृति को अत्यत आघात पहुँचा है। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र मे आगे चलकर इस परम्परा का पालन नही हुआ और किसी भी महाकवि ने सस्कृत वृत्तो मे अपने महाकाव्य का सृजन नही किया। अत हरिऔध जी के इन छदो मे उनकी प्रयोग करने वाली प्रवृत्ति के दर्शन तो होते है और उनके परिश्रम एव कार्य-कुशलता की भी जानकारी प्राप्त होती है, परन्तु ये छद काव्य का स्थायी प्रभाव डालने मे सर्वथा असफल सिद्ध हुए है।

'प्रियप्रवास' मे औचित्य—काव्य मे औचित्य से तात्पर्य यह है कि काव्य के समस्त उपकरणो का उपयुक्त, अनुरूप तथा अनुकूल प्रयोग हो। साधारणतया जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे 'उचित' कहा जाता है और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। काव्य मे औचित्य की सर्वाधिक व्यवस्था आचार्य क्षेमेन्द्र ने की है। वैसे सर्वप्रथम इस औचित्य का प्रतिपादन भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र मे किया है, क्योकि वहाँ पर नाटक के प्रसग मे पात्र, प्रकृति, वेश-भूषा, भाषा आदि के औचित्य पर भरत मुनि ने अपने विचार प्रकट किये हैं। इस औचित्य के अनेक भेद माने गये हैं, क्योकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार-चर्चा' मे पद, वाक्य, प्रबधार्थ, गुण, अलकार आदि से सबधित २७ प्रकार के औचित्य सबधी भेद बतलाये हैं, जिनके आधार पर किसी भी काव्य के गुण-दोषो पर विचार

किया जाता है ।[1] उनमे से प्रबधौचित्य, गुणौचित्य, अलकारौचित्य, रसौचित्य, लिगौचित्य, नामौचित्य आदि प्रमुख है, जिनके आधार पर हम 'प्रियप्रवास' मे औचित्य के देखने का प्रयत्न करेंगे ।

प्रबंधौचित्य—इस औचित्य से तात्पर्य यह है कि समग्र प्रबध तात्पर्य के अनुरूप होना चाहिए । ऐसा होने से उसमे सहृदयो के चित्त को आवर्जन करने वाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है ।[2] 'प्रियप्रवास' मे कवि ने श्रीकृष्ण तथा राधा को लोकोपकार, समाज-सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण दिखाने के लिए सम्पूर्ण प्रबध की योजना की है । यहाँ पहले श्रीकृष्ण को लोकोपकार-निरत दिखाकर त्याग, तपस्या, समाज-सेवा, स्वजाति-उद्धार आदि मे लीन दिखाया है और विश्वप्रेम मे ओत-प्रोत होकर अपने प्रियजन एव प्रियजन्य-भूमि तक का परित्याग करते हुए अकित किया है । तदुपरान्त श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व मानने वाली राधा को भी उनके चरण-चिह्नो पर चलते हुए त्याग, तपस्या सेवा, एव विश्व-प्रेम की सजीव मूर्ति के रूप मे अकित किया गया है । सारी कथा उक्त भावो के सर्वथा अनुकूल तथा कवि के तात्पर्य के सर्वथा अनुरूप ही विकसित हुई है । इससे 'प्रियप्रवास' मे प्रबधौचित्य पूर्णतया विद्यमान दिखाई देता है । परन्तु कवि के सम्मुख एक उद्देश्य यह भी रहा है कि श्रीकृष्ण के समस्त अलौकिक एव अद्भुत कार्यो को लौकिक एव मानवीय रूप दिया जाय और इसके लिये उसने जहाँ-तहाँ परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए प्रबध की मूल कथा मे अनौखी उद्भावनाये की हैं। जैसे—कालियनाग के नाथने की कथा, गोबर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने की कथा, दावानल की कथा आदि । परन्तु इनमे कवि अपने उद्देश्य मे सफल नही हुआ है और न इन प्रसगो को वह अपने तात्पर्य के अनुरूप ढाल सका है । अत. 'प्रियप्रवास' मे प्रबध-सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है ।

गुणौचित्य—जहाँ कवि ओज, प्रसाद एव माधुर्य नामक गुणो का सन्निवेश प्रस्तुत अर्थ के सर्वथा अनुरूप करता है, वहाँ गुणौचित्य के दर्शन होते हैं । 'प्रियप्रवास' मे प्रसाद और माधुर्य की ही प्रधानता है और यशोदा, नद, गोप, गोपियो एव राधा के प्रसंगो मे सर्वत्र उक्त दोनो गुणो का समावेश अर्थ के अनुरूप ही हुआ है । परन्तु बीच-बीच मे कवि ने श्रीकृष्ण के वीरतापूर्ण, समाज-सेवा एवं जाति-उद्धार के कार्यो का वर्णन करते हुए ओज गुण की

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ९७ ।

२. वही, पृ० ९७

योजना की है, यहाँ ओजगुण का सन्निवेश भी ओजस्वी उक्तियो से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा प्रकर्षशाली है। जैसे·—

विपद से वर-वीर समान जो, समर-अर्थ समुद्यत हो सका।
विजय भूति उसे सब काल ही, वरण है करती सु-प्रसन्न हो।
पर विपत्ति विलोक स-शक हो, शिथिल जो करता पग-हस्त है।
अवनि मे अवमानित शीघ्र हो, कवल है बनता वह काल का।

अत. यही कहा जायेगा कि 'प्रियप्रवास' मे गुणौचित्य का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है।

अलकारौचित्य—औचित्य-विचार-चर्चा मे लिखा है कि "प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है, जिस प्रकार पीन स्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुदरी।"[1] इस तरह जहाॅ प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकारो की योजना होती है, वहाॅ निस्सदेह वे प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ इसके भी पोषक होते है। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने यही भरसक प्रयत्न किया है कि सर्वत्र अलकारो की योजना अर्थानुरूप हो। जैसे कवि ने 'लाल' शब्द मे श्लेष का चमत्कार उत्पन्न करते हुए तथा अन्य रत्नो से उसे उत्कृष्ट घोषित करते हुए यशोदा के मुख से अत्यत उचित पदावली का उच्चारण कराया है —

"विपुल धन अनेको रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम! बतला दो लाल मेरा कहाॅ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो। ७।४१

परन्तु कही-कही अनौचित्य के भी दर्शन हो जाते है। जैसे कवि का श्रीकृष्ण से रहित यशोदा की तुलना करते हुए उसे मछली के समान कहना तो सर्वथा उचित है, परन्तु निम्नलिखित पक्तियो मे उसे सर्प के समान कहा है और श्रीकृष्ण को मणि के तुल्य कहा है, जबकि यशोदा स्त्री है उसकी समता सर्प से ठीक नही और श्रीकृष्ण पुरुष है, इसलिए उनकी समता स्त्रीलिंग हृदय-मणि से ठीक नही है। अतः यहाॅ अलंकार सम्बन्धी अनौचित्य भी है·—

---

१ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।
—औचित्य-विचार-चर्चा, श्लोक १५।

निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है ।
तडप तडप के तो प्राण है त्याग देता ।
मम सदृश मही मे कौन पापीयसी है ।
हृदय-मणि गँवा के नाथ जो जीविता हूँ । ७।४८

इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि कवि ने राधा की समता देते हुए "शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी" कहकर मणि की समता स्त्रीलिंग राधा से दी है, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण है । इसी तरह निम्नलिखित पक्ति मे भी अलकार सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है —

"फूले कज समान मजु दृगता थी मत्तता कारिणी ।"

यहाँ पर 'दृगो' को नही अपितु 'दृगता' को 'फूले कजो के समान कहा है । पहले तो लिगौचित्य ही नही है । दूसरे, प्राय नेत्र या दृग ही कज के समान होते है, कही 'दृगता' कज के ममान नही होती । यदि कहना ही था तो दृगता को 'कजता' के समान कहना चाहिए था । परन्तु कवि ने इस औचित्य की ओर ध्यान नही दिया है । इसलिए यत्र-तत्र अलकार सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है ।

रसौचित्य—प्रत्येक काव्य मे रसौचित्य पर सर्वाधिक ध्यान रखा जाता है । क्योकि रस ही काव्य की आत्मा है और यदि रसौचित्य पर ही ध्यान नही रखा जायगा तो सारा काव्य ही निर्जीव एव नीरस हो जायगा । कहने की आवश्यकता नही कि 'प्रियप्रवास' मे 'विप्रलम्भ शृगार' को प्रमुखता दी गई है तथा अन्य सभी रस उसके अगरूप मे वर्णित है । परन्तु कवि ने विप्रलम्भ शृगार को इतनी गहनता, गभीरता एव स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया है, जिससे वह करुण रस की कोटि मे पहुँच गया है, क्योकि शोक नामक भाव जो पहले सचारी भाव के रूप मे था, आगे चलकर स्थायी भाव बन जाता है । वैसे सभी वर्णन पूर्णतया रसौचित्य की कोटि मे ही आते है । परन्तु 'पवन दूतीप्रसग' मे राधा ने पवन से वार्त्तालाप करते हुए उसे अपना सदेश कृष्ण तक पहुँचाने के लिए जो नानाप्रकार की युक्तियाँ बताई है, वह वर्णन पूर्णतया औचित्य की सीमा को पार कर गया है, क्योकि एक भ्रान्ता विरहिणी इस तरह कुशलतापूर्वक युक्तियाँ नही बता सकती । अत वहाँ रस सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है । यही बात कालीनाग की कथा के वर्णन मे भी है । वहाँ कवि का झुकाव श्रीकृष्ण के ओजपूर्ण कार्यो की व्याख्या करते हुए वीर-रस के वर्णन की ओर है और इसीलिए श्रीकृष्ण के मुख से यह भी कहलवाया है :—

"अत करूँगा यह कार्य मे स्वय, स्वहस्त मे दुर्लभ प्राण को लिये।
स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मै, न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

परन्तु कुछ ही क्षणो उपरान्त हम उन्ही श्रीकृष्ण को उस महाव्याल से युद्ध आदि न करके केवल उसके फणो पर खडे होकर मधुर मुरली बजाते हुए देखते है और इस अद्भुत दृश्य को देखकर वीर रस का अनुभव न करके अद्भुत रस मे डुबकियाँ लगाने लगते है। अत वीर रस का वर्णन न करके कवि यहाँ अद्भुत रस के वर्णन मे लीन हो जाता है। इसी कारण यहाँ रसौचित्य का ध्यान नही रखा गया है।

लिगौचित्य—प्राय प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिग वाले शब्दो की योजना ही लिगौचित्य के अतर्गत आती है। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने प्राय: लिंगौचित्य का बहुत ध्यान रखा है। परन्तु फिर भी कही-कही जाने या अनजाने लिग सम्बन्धी अनौचित्य हो गया है। अभी अलकार-औचित्य के अतर्गत हम कुछ उदाहरण ऐसे दे चुके है, जहाँ स्त्रीलिंग उपमेय के लिए पुल्लिग उपमान तथा पुल्लिग उपमेय के लिए स्त्रीलिग उपमान आगये है। इनके अतिरिक्त सागरूपक बनाते समय भी कवि इस लिग सम्बन्धी औचित्य की परवा न करके पुल्लिग 'विहग' का आरोप स्त्रीलिग 'सदवाछा' मे,[१] स्त्रीलिंग 'कलाओ' का आरोप पुल्लिग 'सरस-सुख' मे[२] तथा स्त्रीलिंग 'वेलि' का आरोप पुल्लिग 'पुण्य' मे[३] कर बैठा है। इसी तरह सप्तम सर्ग मे कवि ने यशोदा के विलाप का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के लिए सजल जलद, सुधा का स्रोत, दिनकर, स्वच्छ सोता चित्रो का चितेरा आदि कहकर लिंगौचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा है, परन्तु वही पर शुको के समान घर को मुखरित करने वाला तथा खगो के समान वनो मे कलरव करने वाला कहकर कवि ने पिक के समान वाटिका को ध्वनित करने वाला बताया है।[४] यहाँ पुल्लिग श्रीकृष्ण के लिए स्त्रीलिग 'पिक' का प्रयोग सर्वथा अनौचित्य का द्योतक है। इस तरह कही-कही लिंग सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है, परन्तु 'प्रियप्रवास' मे अधिकतर लिंगौचित्य की ही रमणीकता दर्शनीय है।

---

१ प्रियप्रवास १०।४६
२ वही १०।५२
३ वही १०।६२
४ वही ७।२१

नामौचित्य—जहाँ पर प्रकृत अर्थ के अनुरूप नामो की योजना की जाती है, वहाँ नामौचित्य होता है। साधारणतया सार्थक नामो की योजना से ही काव्य मे रमणीयता एव मार्मिकता आती है। जैसाकि आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है कि "कवि मनुष्यो के नामो के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण मे योग देते है। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारी, दीनबधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही है। ऐसे शब्दो को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हो। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण ! हे वृन्दावन विहारी !" आदि न कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कसनिकदन !" आदि सबोधनो से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योकि श्रीकृष्ण के द्वारा कस आदि दुष्टो का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन मे गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसगत है।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि कवि को काव्य मे अर्थसगत नामो का प्रयोग करना चाहिए तथा अनुपयुक्त नामो के प्रयोग से बचना चाहिए। कहने की आवश्यकता नही कि कवि हरिऔध ने भी 'प्रियप्रवास' मे प्राय सार्थक एव अर्थसगत नामो का ही प्रयोग किया है। जैसे :—

(१) आई बेला हरि-गमन की छागई खिन्नता सी ।५।२०

यहाँ पर कवि ने श्रीकृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है। हरि का एक अर्थ सूर्य भी होता है और जिस तरह सूर्य के छिपने का समय आते ही सर्वत्र अधकार छा जाता है, उसी तरह ब्रज मे भी श्रीकृष्ण के गमन का समय आते ही सर्वत्र अधकार जैसा विषाद (खिन्नता) छा गया था। अतः यहाँ 'हरि' शब्द सर्वथा सार्थक है।

(२) बोली सशोक अपरा यक गोपिका यो।
ऊधो अवश्य कृपया ब्रज को जिलाओ।

---

१. चिन्तामणि, भाग १. प्रथम संस्करणपृ०, २४६

जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ ।
लौटाल श्याम-घन को ब्रज मध्य लाओ ।१४।७५

यहाँ पर कवि मृतप्राय ब्रज के लिए जिस 'श्याम-घन' के लौटाने की बात कही है, उसमे 'श्याम-घन' नाम अत्यन सार्थक है, क्योकि मरे हुए एव जले हुए पेड पौधो तथा मृतप्राय प्राणियो को जलवाले काले बादल ही जीवन प्रदान किया करते है ।

(३) कालिंदी सी कलित-सरिता दर्शनीया-निकुजे ।
प्यारा वृन्दा-विपिन विटपी चारु न्यारी लताये ।
शोभावाले विहग जिसके है दिये हा ! उसीने ।
कैसे माधो-रहित ब्रज की मेदनी को बनाया ।१५।३६

यहाँ कवि ने माधो' शब्द का अत्यत सार्थक प्रयोग किया है, क्योकि माधव का अर्थ वसत भी होता है और वसत के बिना जैसे नदी, कुज, वन, लता, पक्षी आदि मे कोई शोभा नही आती, उसी तरह कृष्ण के बिना भी यमुना, कुजो, वृन्दावन आदि मे कोई शोभा नही रही है । अत. 'माधो' शब्द दोनो ओर सकेत करता हुआ अपनी सार्थकता एव उपयुक्तता सूचित कर रहा है ।

इस तरह कवि ने 'प्रियप्रवास' मे विभिन्न औचित्यो का समावेश करके अपने काव्य को सरस एव सुन्दर बनाने की चेष्टा की है और अपने काव्य-कौशल को भी व्यक्त किया है, परन्तु जहाँ-तहाँ अनौचित्य आगये हैं, जिनसे काव्य मे कुछ दोष दिखाई देते है, फिर भी वे दोष इतने नही है जो सर्व-साधारण की दृष्टि मे आसके, अपितु वे चन्द्रमा के कलंक की भाँति कवि के कला-कौशल की ज्योत्स्ना मे छिप जाते है और उनकी ओर अनायास ही ध्यान नही जाता । अत. यह मानना पड़ेगा कि 'प्रियप्रवास' मे औचित्य के उत्कृष्ट रूप की ही अभिव्यजना हुई है ।

'प्रियप्रवास' में काव्य-शैलियों का स्वरूप—शैली भावाभिव्यक्ति का ढग है । यही वह साधन है, जिसके द्वारा कवि अपने हृदयस्थ भावो को पाठको एवं श्रोताओ तक पहुँचाता है । इसके लिए कभी वह सरल पद्धति का प्रयोग करता है, कभी शुद्ध, साहित्यिक एव क्लिष्ट पद्धति को अपनाता है और कभी अत्यत अलकृत पद्धति का प्रयोग करता है । सभी प्रकार की पद्धतियो द्वारा वह अपने विचार दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है । इसी कारण शैली मे सबसे बडा गुण प्रेषणीयता का होता है । जहाँ कवि अपनी भाषा को समास एवं व्यजना-शक्ति से इतना बोझिल बना देता है कि श्रोता एव पाठक उसके

मूल-भाव तक बडी कठिनाई से पहुँच पाते है, वहाँ इस प्रेषणीयता के गुण का ह्रास हो जाता है और कविता सर्वजनसुलभ नही रहती, परन्तु जहाँ कवि सरल एव सरस पदावली के साथ अपने विचारो को व्यक्त करता है, वहाँ यह प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक देखा जाता है। इस शैली के द्वारा ही किसी कवि का पता सुगमता से चल जाता है, क्योकि प्रत्येक कवि की अपनी एक प्रमुख शैली होती है। साधारणतया शैली के पाँच गुण प्रमुख रूप से माने गये हैं—(१) ओजस्विता, (२) सजीवता, (३) प्रौढता, (४) प्रभावशालीनता और (५) प्रेषणीयता। अत वही शैली सर्वश्रेष्ठ होती है, जिसमे शब्दो का चयन इतना सुन्दर एव सुष्ठु हो, कि उसमे उक्त सभी गुणो का समावेश पूर्णरूपेण हो सके और जो रोचकता, व्यजकता एव धारावाहिकता के कारण अत्यत सुस्पष्ट एव सजीव हो। साधारणतया काव्य की शैलियाँ चार प्रकार की होती है—(१) सरल शैली, (२) अलकृत शैली, (३) गुम्फित या क्लिष्ट शैली और (४) गूढ या साकेतिक शैली। 'प्रियप्रवास' मे केवल प्रथम तीन शैलियो का स्वरूप ही मिलता है। चौथी गूढ या साकेतिक शैली के दर्शन यहाँ नही होते।

सरल शैली—इस शैली के अतर्गत सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है, प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है और अत्यत सरलतापूर्वक भावो की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रियप्रवास' मे इस शैली का प्रयोग अधिकाश स्थलो पर हुआ है। जैसे—

फूले नीले वनज-दल-सा गात का रग प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोदिनी मजु-बाते।
सोंधे-डूबी-अलक यदि है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता। १०।५७

अलंकृत शैली—इस शैली के अतर्गत अलकार-प्रधान भाषा का प्रयोग किया जाता है और सुमधुर शब्दो द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए भावो को व्यक्त किया जाता है। 'प्रियप्रवास' मे इस शैली के भी यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं। जैसे—

मेरी आशा नवल-लतिका थी बडी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमो के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदको के।
पन्नो द्वारा रचित उसकी सुदरी डठियाँ थी। १०।७६

गुम्फित एवं क्लिष्ट शैली—इस शैली के अतर्गत परस्पर सगुम्फित लम्बे-लम्बे समास-बहुल शब्दो एव वाक्यो का प्रयोग होता है तथा कभी-कभी एक ही वाक्य मे कितने ही अन्य वाक्य भी सम्मिलित रहते है और पदावली भी अत्यत क्लिष्ट एव सगुम्फित होती है। 'प्रियप्रवास' मे इस क्लिष्ट शैली का प्रयोग अधिक तो नही हुआ है, परन्तु कही-कही कवि का झुकाव इसकी ओर अवश्य रहा है। जैसे —

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भगिमा-पडिता।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनद-आन्दोलिता।
सद्वस्त्रा-सदलकृता गुणयुता सर्वत्र-सम्मानिता।
रोगी-वृद्ध-जनोपकार-निरता सच्छास्त्र-चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-सपोषिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्री-जाति-रत्नोपमा। ४।६-८

इनके अतिरिक्त गूढ एव साकेतिक शैली का प्रयोग यहाँ नही हुआ है, परन्तु उक्त तीनो शैलियो मे से भी प्रथम सरल शैली को ही कवि ने यहाँ सर्वाधिक अपनाया है। अत. शैली की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' मे प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक विद्यमान है। परन्तु जहाँ-जहाँ गुम्फित एव गूढ शैली का प्रयोग हुआ है, वहाँ कवि की कविता अत्यत बोझिल एव कृत्रिम बन गई है और उसकी स्वाभाविकता पूर्णतया नष्ट हो गई है। उसके लिए कवि ने भले ही यह दलील दी हो कि "क्या रामचरितमानस, रामचद्रिका और विनय-पत्रिका से भी 'प्रियप्रवास' अधिक सस्कृत-गर्भित है।"[1] परन्तु यह बात स्पष्ट है कि रामचरितमानस, रामचद्रिका या विनयपत्रिका के भी वे पद या वे पद्य-भाग अधिक सजीव एव अधिक प्रभावोत्पादक नही है, जहाँ पर कवियो ने क्लिष्ट एव गुम्फित शैली का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका के प्रारम्भिक स्तोत्रो को देखा जा सकता है। वे उतने प्रभावशाली नही है, जितने कि शेष पद दिखाई देते है। यही बात 'प्रियप्रवास' के बारे मे भी है। यहाँ पर भी कवि का झुकाव जहाँ-जहाँ क्लिष्टतापूर्ण संस्कृत-गर्भित

---

१. **प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० १०**

शैली की ओर रहा है, वहाँ-वहाँ काव्य की सरसता, सजीवता एव सुष्पष्टता नष्ट हो गई है और प्रेषणीयता का गुण भी नष्ट हो गया है, परन्तु जहाँ कवि ने सरस एव मुहावरेदार पदावली युक्त सरल शैली या अलंकृत शैली का प्रयोग किया है, वहाँ सजीवता एव प्रभावशालीनता पूर्णतया विद्यमान है।

निष्कर्ष—इस प्रकार कला के विभिन्न पहलुओ पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भले ही 'प्रितप्रवास' की भाषा मे संस्कृत के छदो को अपनाने के कारण दुरूहता, कृत्रिमता एव क्लिष्टता आगई हो और भले ही कही-कही उसमे अस्वाभाविकता भी विद्यमान हो, फिर भी अन्यान्य त्रुटियो के रहते हुए वह अत्यत परिष्कृत एव भावानुकूल है, उसमे विभिन्न मनोभावो एव परिस्थितियो के चित्रण की अपूर्व क्षमता है तथा अनेक स्थलो पर कवि को विविध भावो के चित्रण मे पर्याप्त सफलता भी मिली है। इसी तरह कवि के अलकार-विधान एव छद-विधान भी अत्यत प्रौढ एव परिमार्जित है तथा उनमे सर्वत्र कलात्मकता, चमत्कार-प्रियता तथा रूढिवादिता के साथ-साथ सरसता, कोमलता एव वर्णन की नवीनता भी विद्यमान है। इसमे कोई सदेश नही कि कवि ने भावपक्ष की तरह कलापक्ष मे भी क्रान्ति उपस्थित करते हुए नवीनता का श्रीगणेश किया है और अपनी भावाभिव्यक्ति को भी युगानुकूल बनाने की चेष्टा की है। परन्तु कवि के समय तक भाषा इतनी सशक्त एव व्यजना-प्रधान नही बन सकी थी, जिससे कवि अपनी अनूठी अभिव्यक्ति को प्रकट कर पाता। फिर भी कवि ने जिस नवीन दिशा की ओर सकेत करते हुए अपने काव्य का निर्माण किया है, उसमे गुरुता, गभीरता एव अभिव्यजना की उत्कृष्टता विद्यमान है और अर्थ-सौष्ठव के साथ-साथ सरसता भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाती है इतना ही नही प्राचीन रुढिवादिता का भी कवि ने विरोध किया है। इसी करण मगलाचरण, प्रस्तावना, खल-निंदा, सज्जन प्रशसा आदि विभिन्न परम्परागत बातो को प्रारम्भ मे स्थान नही दिया है और न कथानक की पिटी-पिटाई लीक पर ही चलने का प्रयत्न किया है, अपितु कथा-योजना मे नवीन प्रणाली का श्रीगणेश करते हुए विभिन्न पात्रो के मुख से ही सम्पूर्ण कथा को कहलवाने का प्रयत्न किया है। भले ही कथानक की सुसगठित योजना की दृष्टि से यह कार्य त्रुटिपूर्ण हो, परन्तु यह कवि की कलात्मकता एव गवेषणा-पूर्ण रचना-कौशल का परिचायक है और कवि के पुष्ट कला-पक्ष का द्योतक है। इन सभी विशेषताओ के कारण विभिन्न त्रुटियों को देखते हुए भी प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने लिखा था—"खडी हिन्दी 'प्रियप्रवास' के बल से सचमुच अपने पाँवो खडी हो

प्रभविष्णुता, उद्देश्य की महानता एव काव्य-कला की प्रौढता को देखकर भी हम आँखे मीचले और उसे महाकाव्य न माने यह दूसरी बात है। वैसे 'प्रियप्रवास' निस्सदेह अपनी कोटि का एक अनुपम महाकाव्य है तथा आधुनिक युग के सभी महाकाव्यो का पथ-प्रदर्शक है।

प्रकरण ५

प्रियप्रवास में संस्कृतिक निरूपण

भारतीय संस्कृति—भारतीय सस्कृति की अविच्छिन्न धारा वैदिक काल से लेकर आज तक प्रवाहित है और इसमे न जाने कितनी अन्य सस्कृतियो का भी सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु इसके अपने प्रवाह मे कोई व्याघात उत्पन्न नही हुआ है और न इसकी धारा क्षीण ही हुई है। इस सस्कृति को स्वरूप देने मे निगम, आगम, बौद्ध, जैन, द्रविड, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि कितनी ही सस्कृतियो का हाथ रहा है और इसी कारण इसे सामासिक सस्कृति भी कहा जाता है, फिर भी यह सास्कृतिक धारा अन्यान्य सस्कृतियो के सम्मिश्रण पर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण बनाये हुए है। भारतीय सस्कृति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इसके विभिन्न रूप है। जैसे प्राचीन ग्रथो के आधार पर देवसृष्टि का प्रथम उल्लेख मिलने के कारण हम इसे दो रूपो मे देखते हैं—देव-सस्कृति और मानव-सस्कृति। आगे चलकर यह देव-सस्कृति पूर्णतया मानव-सस्कृति मे विलीन हो गई और मानव-सस्कृति फिर दो रूपो मे दिखाई देने लगी—वैदिक सस्कृति और अवैदिक सस्कृति। इनमे से जो सस्कृति वैदिक ग्रथो के आधार पर पल्लवित हुई वह वैदिक सस्कृति है और जो वैदिक साहित्य से परे वेद-बाह्य विचारो के आधार पर विकसित हुई उसे अवैदिक सस्कृति माना जा सकता है। इनमे से वैदिक सस्कृति भी पुन दो रूपो मे विकसित हुई—निगम सस्कृति और आगम सस्कृति। निगम सस्कृति तो पूर्णतया वैदिक विचारो के आधार पर विकसित हुई थी, परन्तु आगम सस्कृति वैदिक विचारो को ही लेकर विकसित तत्रो या आगमो के आधार पर पल्लवित हुई। ऐसे ही अवैदिक सस्कृति मे कितनी ही अन्य सस्कृतियाँ सम्मिलित है। जैसे आग्नेय सस्कृति, द्रविड सस्कृति, जैन सस्कृति, बौद्ध-सस्कृति तथा अन्य विदेशी सस्कृतियाँ, जिनमे यूनानी, शक, आभीर, मुस्लिम, अँग्रेजी आदि सस्कृतियाँ सम्मिलित है। इस तरह भारतीय सस्कृति हमे

विभिन्न रूपो मे विभक्त दिखाई देती है और यह शका होती है कि इतने सम्मिश्रण के उपरान्त भी भारतीय सस्कृति का अपना स्वरूप कैसे अक्षुण्ण बना रहा ? इसके लिए सबसे सुदर उदाहरण गगाजी का दिया जाता है। जैसे, गगा नदी मे अनेक नदी और नाले मिलते है, फिर भी गगा की पावनी धारा अक्षुण्ण रूप से बहती चली जाती है और सर्वत्र गगा की धारा के नाम से ही प्रसिद्ध है। यही बात भारतीय सस्कृति के बारे मे भी है। इसमे भी अनेकानेक सस्कृतियो का सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु वे सभी सस्कृतियाँ इसमे आकर इस तरह घुलमिल गई हैं कि आज उनका अपना-अपना स्वतत्र अस्तित्व नही दिखाई देता, अपितु वे सभी मिलकर भारतीय सस्कृति की मुख्य धारा के नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही इतनी सस्कृतियो के मिलने के उपरान्त भी भारतीय सस्कृति की कुछ अपनी ऐसी विशेषतायें रही है, जिनके कारण यह सस्कृति सबका समन्वय करती हुई आज तक विद्यमान है तथा बाह्य सस्कृतियो से प्रभावित होकर भी इसकी अन्तरात्मा मे तनिक भी परिवर्तन नही हुआ है। इतना ही नही इसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल है कि बरसाती नालो के रूप मे मिली हुई अन्य सस्कृतियो को भी इसने पवित्र करके अपना रूप प्रदान कर दिया है और आज वे सभी बाह्य सस्कृतियाँ घुलमिल कर भारतीय सस्कृति के रूप मे एकाकार हो गई है।

'प्रियप्रवास' मे भारतीय संस्कृति का स्वरूप—भारतीय संस्कृति का स्वरूप एक रसायन के रूप मे तैयार हुआ है। इसी कारण इसमे विभिन्न विशेषताये विद्यमान है और वे सब अपना-अपना निजी गुण रखते हुए भी एक सामूहिक गुण के रूप मे परिणत हो गई हैं। 'प्रियप्रवास' का निर्माण आधुनिक युग के द्वितीय चरण मे हुआ था। उस समय वैदिक एव अवैदिक विचारो का प्रचार एव प्रसार करने के लिये भारत मे कितनी ही सास्कृतिक सस्थाये कार्य कर रही थी, जिनमे से ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन, प्रार्थनासमाज, राधास्वामी सम्प्रदाय, आदि प्रसिद्ध हैं। इनके विचारो से सभी प्रभावित हुये थे। प्रभावित होने का प्रमुख कारण यह था कि ये सभी सास्कृतिक सस्थाये लोकोपकार, देश-सेवा, समाज-सेवा, एकता, समता, विश्व-प्रेम, लोक-हित आदि के विचारो को प्रमुखरूप से लेकर चली थी, कोई भी सस्था भारतीय सस्कृति के मूल सिद्धान्तो से विमुख न थी और सभी के अतर्गत अधिक से अधिक भारतीय सास्कृतिक परम्परा विद्यमान थी। अतः उक्त सस्थाओ और भारतीय परम्परा से पूर्णतया प्रभावित होकर हरिऔध जी ने भारतीय सस्कृति के उन सिद्धान्तो, उद्देश्यो एव प्रमुख विचारो

को 'प्रियप्रवास' मे स्थान दिया, जो पूर्णतया युग के अनुकूल थे और जिनसे राष्ट्रीय नव जागरण एव देशोन्नति मे पूरी-पूरी सहायता मिल सकती थी। अब हम भारतीय सस्कृति के उन्ही विचारो को क्रमश प्रस्तुत करने की चेष्टा करेगे।

आदर्श परिवार—भारतीय सस्कृति मे परिवार का अत्यधिक महत्व है। यहाँ की सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली इतनी उत्कृष्ट एव उपादेय है कि उसी के कारण मानव के सुदर चरित्र एव उन्नत विचारो का निर्माण होता है। इस परिवार की पाठशाला मे ही वह जीवन के सम्पूर्ण रहस्यो की शिक्षा सुगमता से ग्रहण कर लेता है और अपने आदर्श को अपनाकर जीवन-क्षेत्र मे पदार्पण करने के लिए सुयोग्य हो जाता है। हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे ऐसे ही सुदर एव आदर्श परिवार की झाँकी अकित की है, जिसमे माता यशोदा, पिता नद तथा परम लाडिला पुत्र कृष्ण तीन सदस्य है और उनमे परस्पर कितना स्नेह, कितना दुलार एव कितना आदर भाव है कि वे भारतीय कुटुम्ब का आदर्श बने हुए हैं। यहाँ माता यशोदा एक आदर्श माता के रूप में अकित है, जो अपने पुत्र के लालन-पालन मे बड़ी ही कुशल हैं। 'वे अपने पुत्र को प्रभात होते ही बडी उत्कंठा के साथ मीठी मेवा, मृदुल नवनी और पक्वान्न खिलाया करती थी तथा कजरी गाय का दूध पिलाया करती थी। उनका पुत्र कृष्ण बडा ही सकोची था। अत वे उसे गोद मे लेकर बडी रुचि के साथ खिलाया-पिलाया करती थी। यदि पुत्र का मुख तनिक भी म्लान हो जाता, तो उनका हृदय भी व्यथित हो उठता था और वे पुत्र का मुख देखते-देखते ही अपना सारा दिन व्यतीत करती थी। यदि पुत्र के खाने पीने का समय तनिक भी टल जाता था, तो माता को बडी व्यथा होती थी। वे पुत्र के खेलने-कूदने का भी बडा ही ध्यान रखती थीं। रग-विरगे मुग्धकारी खिलौने तथा नट आदि के खेलो से पुत्र को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थी।'[१] वही उनका लाडिला पुत्र जब कस के निमत्रण पर मथुरा जाने लगा तब भला ऐसी स्नेहमयी जननी का हृदय क्यो न विदीर्ण होता। पुत्र के जाते ही उनकी वेदना एव व्यथा असह्य हो गई और जब वह पुत्र लौटकर ही न आया, तब तो उस माता के दुख की कोई सीमा न रही। इस तरह एक आदर्श माँ के जीवन की सुदर झाँकी 'प्रियप्रवास' मे अकित है।

---

१ **प्रियप्रवास १०।२४–३०**

जैसी आदर्श माँ यहाँ चित्रित है वैसा ही आदर्श पुत्र भी यहाँ विद्यमान है। एक पुत्र के रूप मे अकित 'श्रीकृष्ण अपनी माता यशोदा तथा पिता नद को अत्यत स्नेह करते थे। अपनी मधुर क्रीडाओ से सबका मन मोहित करते रहते थे। वे बडी ही सरस बाते किया करते थे। सदैव छोटे और बडे सभी की भलाई के कार्य करते रहते थे। बचपन से ही उन्हे दूसरो के हित का बडा ध्यान रहता था। सभी से अत्यत प्यार के साथ मिलते थे। दुख के दिनो मे सभी की सहायता करते थे। बडो से बडी विनम्रता के साथ मिलते थे और बडी शिष्टता के साथ बातचीत किया करते थे। वे कभी किसी से विरोध की बाते नही करते थे। बड़े प्रेम के साथ समस्त बालको के साथ खेला करते थे और अपूर्व फल-फूल खिला-खिला कर स्वयं भी प्रसन्न होते तथा अपने साथियो को भी प्रसन्न रखते थे। यदि वे देखते कि कही मित्रो मे कलह हो गया है तो वे तुरन्त उसे शान्त कर देते थे। यदि कोई बली निर्बल को सताता था तो वे उसे तिरस्कृत करते थे और यदि कोई व्यक्ति बडे प्रेम के साथ अपना कार्य करता था तो यह देखकर उहे प्रसन्नता होती थी। माता, पिता तथा गुरुजन आदि किसी भी बडे व्यक्ति का कोई छोटा व्यक्ति निरादर करता था तो वे बड़े ही खिन्न और दुखी होकर उन छोटे व्यक्तियो या पुत्रो को समझाते हुए सदुपदेश दिया करते थे। वे सदैव सेवा और उपकार मे लीन रहते थे। इसी कारण वे अकेले नद-यशोदा के ही पुत्र न थे, अपितु सारा ब्रज उन्हे अपना समझता था, सतानहीन व्यक्ति उनको ही अपनी सतान मानते थे और सतानवान व्यक्ति अपनी सतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। इस तरह थोड़ी अवस्था मे ही वे अत्यत सम्मान एवं आदर के पात्र बन गये थे।'[1]

भारतीय संस्कृति मे गमन के समय प्राय: छोटे व्यक्ति अपने से बडो के चरण छूते है और बडे व्यक्ति आशीर्वाद देते है। परिवार के इस उज्ज्वल रूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' मे अत्यंत रमणीयता के साथ अकित है। श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा चलते समय अपनी माता यशोदा के चरण छूते है और माता यशोदा उन्हे आशीर्वाद देती हुई कहती है—"हे जीवनाधार जाओ और दोनो भैया शीघ्र लौटकर मुझे अपना चन्द्रमुख दिखाना। तुम्हारे मार्ग मे धीरे-धीरे सुदर पवन बहे, सूर्य अपनी तीव्रता न दिखावे, वृक्ष प्यारी छाया प्रदान करे, वनो मे शान्ति फैले, मार्ग की समस्त बाधाये शान्त हो,

---

१. प्रियप्रवास १२।८०–९०

आपत्तियाँ दूर हो, तुम्हारी यात्रा सफल हो और तुम कुशलतापूर्वक घर लौट कर आओ।"[1] यहाँ पर स्पष्ट ही "गच्छ पुनरागमनाय" वाली भारतीय सस्कृति की आदर्शात्मक वाणी गूँजती हुई सुनाई पड़ती है।

पिता के रूप मे नद का जीवन भी अत्यत स्नेह, दुलार एव कर्त्तव्य-परायणता से परिपूर्ण दिखलाया गया है। कस का निमत्रण पाकर उनका पितृ-हृदय भी अपने लाडले पुत्र के लिए दहल जाता है। उनकी रात बडी कठिनाई से कटती है[2] और जब मथुरा से अकेले ही लौट कर आते है तो वे अपना मुख तक दिखाना अच्छा नही समझते तथा घर आने मे उनके पैर मन-मन भर के हो जाते है। उनका मुख उदास हो आता है और वे एक विक्षिप्त की भाँति घर लौटते हैं।[3] कारण स्पष्ट ही है कि वे अपने सर्वस्व तथा प्राणप्रिय पुत्र को मथुरा छोड कर अकेले ही चले आये थे। इतना ही नही उनकी वेदना उद्धव के सम्मुख और भी शतधा होकर फूट पडती है तथा वे अपने यमुना मे डूबने पर कृष्ण द्वारा बचाये जाने को अत्यत बुरा मानते है, क्योकि यदि उस समय उनका लाडला पुत्र उन्हे न बचाता, तो अब यह असह्य वेदना न सहनी पडती।[4] उनकी यह असह्य पीडा एव उनका यह अटूट प्रेम एक परिवार के उच्च आदर्श का द्योतक है। इस तरह हरिऔधजी ने भारतीय परिवार के इस सास्कृतिक आदर्श का अत्यंत सजीवता के साथ निरूपण किया है तथा माता-पिता के असीम स्नेह एवं पुत्र के आदर्श जीवन की अत्यंत मार्मिक झाँकी अकित की है। भारतीय परिवारो मे स्नेह का जैसा अटूट बधन एवं हृदयो का जैसा अभिन्न सबध विद्यमान है, वैसा अन्य किसी भी सास्कृति मे नही दिखाई देता। हरिऔधजी ने परिवार की उसी सास्कृतिक धारा का वर्णन 'प्रियप्रवास' मे करके भारतीय जीवन की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है।

आदर्श समाज—आदर्श परिवार की भाँति 'प्रियप्रवास' मे आदर्श समाज का चित्र भी अकित किया गया है। यह समाज ब्रज के जीवन श्रीकृष्ण का अनन्य प्रेमी है। श्रीकृष्ण के प्रति इतना स्नेह, इतना दुलार, इतना बधुत्व एव इतना ममत्व इस समाज मे भरा हुआ है कि जिस समय वे अपने ग्वाल-

---

१. प्रियप्रवास ५।४४–४५
२. वही ३।२१–२५
३ वही ६०।३-६
४. वही १०।८६-६४

बालो के साथ शाम को गाये चराकर लौटते है, सारा समाज काम-काज छोड-कर अपने प्रिय नेता एव उदार बधु के दर्शन के लिए दौड पडता है। आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने-अपने घर से निकल पडते है और श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का दर्शन करके अपने जीवन को धन्य समझते है, ब्रज-वनिताये तो अनिमेष नेत्रो से उनकी छवि देखती हुई पत्थर की मूर्ति सी बन जाती है, ब्रज के शिशु हर्ष से उछलते हुए उनके चारो ओर इकत्रित हो जाते है, युवक-जन रस की निधि लूटते से जान पडते है और वयोवृद्ध उस सौदर्य को निहार कर अपने नेत्रो का फल प्राप्त करते है। इस तरह ब्रज का सारा समाज श्रीकृष्ण को देखकर हर्ष एव आनद मे विभोर हो जाता है।[1] परन्तु जैसे ही ब्रज-प्रदेश मे कस के निमत्रण पर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का समाचार सुनाया जाता है, वैसे ही यह प्रफुल्लित समाज शोक मे निमग्न होकर अपने जीवन-धन के बारे मे सशकित हो उठता है। श्रीकृष्ण के गमन पर तो ऐसा जान पडता है मानो इस सम्पूर्ण समाज का प्राण ही निकल कर कही जारहा हो। इस समाज की ऐसी दुरवस्था क्यो न हो ? क्योकि श्रीकृष्ण ने अपने अटूट प्रेम, असीम स्नेह एव अथक परिश्रम द्वारा ब्रज के समाज को इतना सुसगठित कर लिया था कि वे सभी अपने को एक कुटुम्ब अथवा एक नीड मे रहने वाले प्राणियो के रूप मे मानते थे। उनमे ऐसी एकरूपता स्थापित हो गई थी कि वे सभी शरीर के अवयवो की भाँति अभिन्न हो गये थे। उनके श्रीकृष्ण उनकी आत्मा थे और समस्त ब्रज का समाज शरीर था। इसके लिये श्रीकृष्ण ने भी उनके जीवन मे घुलमिल कर पूर्णतया अभिन्नता स्थापित करली थी। इसीलिये तो कालीनाग का बध करते समय जैसे ही श्रीकृष्ण यमुना मे कूदे सारी ब्रजभूमि मे हाहाकार मच गया, सारा समाज यमुना के किनारे आकर इकत्रित हो गया और जब तक श्रीकृष्ण बशी बजाते हुए सकुशल ऊपर नही आगये तब तक सभी व्यक्ति किनारे पर खड़े रहे।[2] यही बात दावाग्नि, प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि, व्योमासुर-वध आदि के अवसर पर भी हुई। श्रीकृष्ण ने समाज की हित-कामना से उनका अत्यत सुन्दर सगठन किया था। उसी का यह परिणाम था कि ब्रज की सम्पूर्ण बाधाओ को वे सब मिलजुल कर सुगमता से दूर कर लेते थे। उन्होने समाज को संगठित करने के लिए बचपन से ही प्रयत्न किया था। वे अपने मित्रो, सुहृदो एव बधुओ के साथ खेलते हुए स्वय हार जाते थे

---

१. प्रियप्रवास १।११-२८
२. वही ११।३८-४०

ग्रौर उन्हे विजयी बनाया करते थे। वन में अपने सखाओ को भूखा देखकर स्वय पेडो पर चढकर मीठे फल तोड़-तोड कर उन्हे खिलाया करते थे। यशोदाजी उनके लिए वन मे बडे-बडे सुस्वादु भोजन प्रतिदिन भेजा करती थी। श्रीकृष्ण उन समस्त व्यजनो को अपने सखाओ के साथ बैठकर खाया, करते थे। नवीन किसलयो अथवा अन्य कोमल पत्तो के खिलौने बनाकर वे अपनी ग्वाल मंडली मे बाँटकर उसे प्रसन्न बनाया करते थे। कभी-कभी वे सघन वृक्ष की छाया मे बैठकर देवता एव दानवो की कथाये सुनाकर अपने सखाओ को प्रबोधन किया करते थे।[1] इस तरह उन्होने समाज को एक ऐसी इकाई मे परिणत कर दिया था कि वे सभी अपने को सदैव अभिन्न समझा करते थे और श्रीकृष्ण के सकेत पर मर-मिटने को उत्सुक रहा करते थे। इतना ही नही सारे समाज मे इसी कारण श्रीकृष्ण की सी सच्चरित्रता, सरलता, सहृदयता, सज्जनता एवं उदारता व्याप्त हो गई थी और श्रीकृष्ण के चले जाने पर वे अपने जीवन-धन के गुणगान गाते हुए तथा उनके विरह-जन्य सताप को सहते हुए सदैव श्रीकृष्णमय होकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। अतएव हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे ब्रज के ऐसे समाज की झाँकी अकित की है, जो अपार स्नेह एवं असीम प्रेम की मूर्ति बना हुआ है तथा जिसके जीवन मे एकता, समता, अनन्यता एव अभिन्नता के साथ-साथ सास्कृतिक समरसता पूर्णतया विद्यमान है, जो श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण होने के कारण भेद मे भी अभेद एव अनेकता मे भी एकता के दर्शन करता है तथा जिसमे श्रीकृष्ण जैसे समाज के नेता, राधा जैसी समाज-सेविका, गोप जैसे सच्चे हितैषी एव सुसगठित समाज-सेवी सैनिक, गोपियाँ जैसी स्नेहमयी सच्चे प्रेम की पुजारिन और सम्पूर्ण लता, वृक्ष, पशु आदि एक ही प्रेम-रस मे लीन दिखाये गये है। इस तरह 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की एक-रूपता से परिपूर्ण आदर्श समाज का सजीव चित्रण हुआ है।

अवतारवाद—भारतीय जीवन मे अवतारों की कल्पना का भी बड़ा महत्व है। यहाँ पशु एव मानव आदि सभी रूपो मे ईश्वर के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है। ऐसा माना जाता है कि अभी तक दस अवतार हो गये है जो कच्छप, मत्स्य, वाराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि के रूप मे प्रसिद्ध हैं। हो सकता है कि इनके पीछे मानव के क्रमिक विकास का इतिहास छिपा हुआ हो, क्योकि पहले जल-जीवो को अवतार मानना, फिर

---

१ प्रियप्रवास १३।६४-१०१

वाराह जैसे जल और स्थल के जीव को अवतार कहना, पुन पशु और मानव के मिश्रित स्वरूप 'नृसिह' को अवतार कहना, तदुपरान्त एक छोटे से बौने पुरुष के रूप मे 'वामन' के अवतार की कल्पना करना और इसके अनतर 'परशुराम' के रूप मे पुरुष के पूर्ण अगो सहित ईश्वर के अवतीर्ण होने की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मानव की उत्पत्ति सहसा नही हुई, उसका क्रमिक विकास हुआ है और वह जल-जीव से विकसित होते-होते मानव के रूप मे पूर्ण विकास को पहुँचा है। भले ही यह कोरी कल्पना हो परन्तु इसमे भी सत्याश विद्यमान है, क्योकि नृ-विज्ञान भी यही बताता है कि मानव का क्रमिक विकास हुआ है और भूगोल से यह सिद्ध है कि सर्वप्रथम जल ही जल सर्वत्र फैला हुआ था, उसके अनतर क्रमश पृथ्वी आदि का विकास हुआ। अत· पहले मानव निस्सदेह जल-जीव के रूप मे ही अवतीर्ण हुआ होगा। इसीसे हमारे यहाँ सर्वप्रथम मत्स्य एव कच्छप जैसे जल-जीवो के रूप मे भगवान् के अवतीर्ण होने की कथाये प्रचलित है। तदनतर विकसित होते-होते मानव ने 'राम' और 'कृष्ण' के रूप मे अवतार ग्रहण किया। भारतीय सस्कृति मे 'राम' को बारह कलाओ का और 'कृष्ण' को सोलह कलाओ का पूर्ण अवतार कहा जाता है। इस तरह मत्स्य या मछली से लेकर 'कृष्ण' तक मानव के पूर्ण-विकास की कथा को यहाँ धार्मिक आवरण देकर 'अवतारो' के रूप मे कहने की कथा प्रचलित है। यही कारण है कि भारतीय विचार-धारा मे अवतारो के प्रति भी अत्यत श्रद्धा एव विश्वास प्रकट किया जाता है। यहाँ सर्वाधिक श्रद्धा एव भक्ति 'राम' और 'कृष्ण' के प्रति व्यक्त की जाती है। इसका मूल कारण यह है कि इन दोनो अवतारी पुरुषो के बारे मे भारतीय कवियो एवं लेखको ने अन्यान्य ग्रथ लिखकर इनकी चारित्रिक विशेषताओ एव इनकी महानताओ का उद्घाटन किया है। यहाँ के आदि काव्य बाल्मीकि रामायण एव महाभारत मे क्रमश राम और कृष्ण की महानता, दिव्यता, गुरुता एवं अलौकिक कार्य-प्रणाली आदि का ही वर्णन हुआ है, जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय साहित्य मे सर्वाधिक इनकी ही चर्चा की गई है और इसी कारण ये दोनो महान् एव दिव्य महापुरुष भारतीय सस्कृति के अभिन्न अग बन गये है।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' का निर्माण महात्मा श्रीकृष्ण के आधार पर किया है। यद्यपि हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के अलौकिक एव अमानवीय कार्यों को लौकिक एव मानवीय बनाने की चेष्टा की है और उन्हे एक महापुरुष, नृ-रत्न एव लोकप्रिय नेता के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न

किया है, तथापि वे श्रीकृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा, अटूट प्रेम एवं अनत विश्वास को किसी प्रकार परिवर्तित नही कर सके है। कवि को भारतीय जीवन की वह गहन अनुभूति किसी न किसी प्रकार व्यक्त ही करनी पडी है और वे श्रीकृष्ण को भले ही अवतारी दिव्यपुरुष के रूप मे रखने की प्रतिज्ञा करके चले हो, परन्तु 'प्रियप्रवास' मे भी श्रीकृष्ण अपने दिव्य, भव्य एव अलौकिक अवतारी पुरुष के रूप मे ही विद्यमान हो गये है। प्रथम सर्ग मे ही श्रीकृष्ण की अनुपम एव अलौकिक छवि तथा उस छवि को देखने के लिये आई हुई समुत्सुक जनता की श्रद्धा-भक्ति का वर्णन[1] भारतीय सस्कृति की उस अविच्छिन्न धारा की ओर सकेत कर रहा है, जिसके अतर्गत श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पण करने का विधान है और जहाँ श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व मानकर ईश्वर का अवतार कहा गया है। इतना ही नही कालीनाग नाथने के उपरान्त उसके सिर पर चढ़कर बशी बजाते हुए श्रीकृष्ण का वर्णन तो पूर्णतया उनके अवतार की ही घोषणा कर रहा है।[2] इस तरह हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के प्रति नद, यशोदा, राधा, गोप एव गोपियो के प्रगाढ प्रेम एव हार्दिक भक्तिभाव की अभिव्यजना करते हुए 'प्रियप्रवास' मे भक्तिकालीन कवियो की ही भाँति श्रीकृष्ण के अवतारी रूप की झाँकी प्रस्तुत की है और भारतीय संस्कृति के अतर्गत व्याप्त अवतारी पुरुषो के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति का निरूपण किया है।

ईश्वर-प्रार्थना—भारतीय सस्कृति मे ईश्वर-प्रार्थना का अत्यधिक महत्व है। यहाँ के धर्म-प्राण जीवन मे उस अनत शक्ति-सम्पन्न, विराट् एव विभु भगवान् के प्रति एक ऐसा दृढ विश्वास एव अटूट श्रद्धा विद्यमान है, जिसे प्राय कष्ट एव दुर्घटना के समय किसी भी सतप्त हृदय से सुना जा सकता है। वैसे तो विश्व के समस्त धार्मिक सम्प्रदायों मे ईश्वर-प्रार्थना

---

१. प्रियप्रवास १।१५-३३

२. फणीश शीशोपरि राजती रही। सु-मूर्ति शोभामय श्री मुकुंद की।
विकीर्णकारी कल ज्योति चक्षु थे। अतीव उत्फुल्ल मुखारविंद था।
विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा। कसी हुई थी कटि मे सुकाछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कंध था। विलम्बिता थी वनमाल कठ में।
अहीश को नाथ विचित्र रीति से। स्वहस्त में थे वर-रज्जु को लिये।
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहुः। प्रबोधिनी-मुग्धकरी-विमोहिनी।
—प्रियप्रवास ११।३६-४१

का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है और यह विचार-धारा विश्व-संस्कृति का एक अखड एवं अभिन्न अंग है। परन्तु यह ईश्वर-प्रार्थना भारतीय मानवो के तो रग-रग मे व्याप्त है और कष्ट एव आपत्ति के समय तो नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति के हृदय से भी ईश्वर के लिए विनम्र विनय अनायास निकलती हुई देखी गई है। अतएव हरिऔधजी ने भारतीय सस्कृति की इस प्रकृष्ट विचार-धारा को 'प्रियप्रवास' मे भी स्थान दिया है। यहाँ पर तृतीय सर्ग मे कस का निमत्रण आते ही माता यशोदा अपने इष्टदेव एव इष्टदेवी को मनाती हुई अत्यत श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रार्थना मे निमग्न चित्रित की गई है। वे क्रमश· जगदीश्वर एव जगदम्बिका की प्रार्थना करती हुई अपने पुत्र के लिए कुशल-मगल की कामना करती है और अत्यत दैन्य एवं लघुता प्रकट करती हुई श्रीकृष्ण के ऊपर आने वाले समस्त सकटो के निवारण के लिए याचना करती है।[1] उनकी इस प्रार्थना मे एक आर्त्त प्राणी की सी करुण पुकार एव दुर्बल व्यक्ति का सा दु ख-दैन्य अत्यधिक मात्रा मे भरा हुआ है। इसके साथ ही यहाँ उस अटल विश्वास के भी दर्शन होते है, जो ईश्वर-प्रार्थना का मूल है और जिसके आधार पर एक अशक्त एव दुर्बल प्राणी उस अनंत शक्ति-सम्पन्न विभु का सहारा प्राप्त करने की इच्छा करता है। अत· हरिऔधजी ने भारतीय सस्कृति की इस प्रमुख विशेषता को भी अकित करके 'प्रियप्रवास' मे भारतीय जीवन की अन्तर्बाह्य समस्त विशेषताओ को चित्रित करने का प्रयास किया है।

व्रत-पूजा—भारत के धार्मिक जीवन मे व्रत-पूजा का भी अत्यधिक महत्व है। यहाँ यह विश्वास प्रचलित है कि विभिन्न व्रतो के करने से विभिन्न फलो की प्राप्ति होती है। भले ही इस व्रत-विधान का सबध शरीर को स्वस्थ एव हृष्ट-पुष्ट रखने से हो, परन्तु धार्मिक रूप देकर इन व्रत-उपवासों को भी लौकिक एव पारलौकि फल प्रदान करने वाला कहा गया है और यहाँ के पुराणो एव अन्य धर्म-ग्रथो मे इनकी महत्ता एव विशिष्टताओ का अत्यत विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। यही बात पूजा आदि के बारे मे भी है। प्राय· यहाँ तुलसी, दुर्गादेवी, भगवती आदि की पूजा का विधान प्रचलित है और यह कहा जाता है कि इनकी पूजा-अर्चना आदि के कारण कुमारी बालाओं को मनोवांछित पति की प्राप्ति होती है। भारतीय संस्कृति की इस गहन विश्वास-मयी विचारधारा को भी हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे स्थान दिया है।

---

१. प्रियप्रवास ३।४८-८५

इसीलिये यहाँ कवि ने कुमारी राधा को पति रूप मे श्रीकृष्ण की प्राप्ति के हेतु विधि-विधान के साथ देवी भगवती की पूजा-अर्चना करते हुए अकित किया है, अन्य देवी-देवताओ को मनाते हुए बताया है और बहुत से व्रत उपवास आदि को रखते हुए चित्रित किया है।[1] इससे सिद्ध है कि अभीष्ट पति की प्राप्ति के लिए व्रत एव पूजा का जो विधान कुमारियो के लिए यहाँ के सास्कृतिक जीवन मे प्रचलित है, उसकी ओर सकेत करते हुए कवि ने अपने काव्य मे भारतीय सस्कृति की विभिन्न विशेषताओ को अ।केत करने की चेष्टा की है।

तीर्थ-स्थानों का महत्व—भारतीय सस्कृति मे 'जननी-जन्मभूमि' के प्रति अगाध प्रेम एव अखड श्रद्धा स्थापित करने के लिए तथा देश-प्रेम की उत्कट भावना जाग्रत करने के लिये भारत के तीर्थ-स्थानो का अत्यधिक महत्व बताया गया है। इन तीर्थो मे नदी, नद, वन, पर्वत, नगर, सिंधु आदि प्रकृति के अनत सौंदर्यशाली अवयव सम्मिलित है। साथ ही वे शुभस्थान भी तीर्थ माने जाते है, जहाँ पर अवतारी पुरुषो ने अथवा भगवान् ने अवतार लेकर क्रीडाये की हैं। इसी कारण यहाँ के धर्म-ग्रथो मे अन्यान्य तीर्थों की प्रशसा की गई है और प्रत्येक भारतवासी नित्यप्रति अपनी प्रार्थनाओ मे गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी—इन सात नदियो तथा आयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काची, अवन्तिका और द्वारावती नामक सात पवित्र मोक्षदायिनी नगरियो का नाम लेते है,[2] जिससे एक ओर तो अपने पुनीत तीर्थस्थानो के प्रति अखड प्रेम एव अगाध विश्वास प्रकट होता है और दूसरी ओर समूचे भारत का मानचित्र भी उनके सामने प्रस्तुत रहता है। यहाँ पर मथुरा, गोवर्द्धन, वृन्दावन, महावन, गोकुल आदि तीर्थो का भी अत्यधिक महत्व बताया गया है, क्योकि इन स्थानो पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी पुनीत क्रीडाये की थी। इस समस्त ब्रज-प्रदेश को वैष्णव सम्प्रदाय मे तो गोलोक-धाम माना जाता है, जहाँ उनके पुरुषोत्तम आनदकद श्रीकृष्ण

---

१ **सविधि भगवती को आज पूजती हूँ।**
वहु-व्रत रखती हूँ देवता हूँ मनाती।
मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ।
पर विफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं। ४।३६

२. **अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।**
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका।

नित्य लीलाये करते है। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री बल्लभाचार्य ने गोवर्द्धन के समीप ही आकर अपनी गद्दी स्थापित की थी और उनके शिष्य पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के एक अत्यत विशाल मदिर का निर्माण कराया था।[१] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सभी स्थानो को इस सम्प्रदाय मे अत्यधिक महत्व दिया गया है, परन्तु सर्वाधिक महत्व ब्रज-प्रदेश का ही है क्योकि कृष्ण की जन्म-भूमि एव उनके क्रीडा-स्थानो से ही यहाँ अधिक प्रेम प्रकट किया गया है। हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे ब्रज-प्रदेश की अत्यत अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है। भारतीय सास्कृतिक परम्परा का अनुगमन करते हुए आपने श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि मथुरा, उनकी क्रीडाभूमि वृन्दावन एव गोवर्द्धन तथा उनके प्रिय स्थान वशी-वट, यमुनातट आदि का अत्यत रमणीक वर्णन किया है। कवि ने मथुरा की अनुपम शोभा का उल्लेख करते हुए वहाँ मेरु के सदृश उन्नत मदिरो तथा सूर्य के समान चमकते हुए उनके कलशो का चित्रण किया है, वहाँ के विशाल भवनों एव उच्च प्रासादो की रमणीयता, पूजा के समय स्वरो की अनुपम मधुरता, वहाँ की भक्ति-भावना आदि का अत्यत मार्मिक वर्णन किया है तथा मथुरा नगरी के उद्यानो की परम सुषमा, सरोवरो की स्वच्छता, भवनो की विशालता आदि के भी अत्यत सजीव चित्र अकित किये हैं।[२] इसी तरह कवि ने वहाँ की यमुना नदी का अत्यत भव्य एवं मनोमोहक चित्र अकित किया है तथा बताया है कि सूर्य तथा चन्द्रमा के बिम्ब को लेकर क्रीड़ा करती हुई यमुना नदी दर्शको को अत्यंत आकर्षक प्रतीत होती थी।[३] गोवर्द्धन पर्वत की उच्चता विशालता एव दृढता के साथ-साथ उसके निर्झरो की रमणीकता का वर्णन तो अत्यंत सजीव एवं मार्मिक है।[४] वृन्दावन की रमणीक वनस्थली के वर्णन मे तो कवि इतना रम गया है कि वहाँ सभी प्रकार की वनस्पतियाँ, फल-फूल, लता-वृक्ष आदि उगा दिये है।[५] इस तरह कवि ने ब्रज-भूमि के तीर्थ-स्थानो की अत्यत रमणीक झाँकी प्रस्तुत करते हुए वहाँ के मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, मधुवन, बशीवट, यमुना नदी, गोकुल आदि के प्रति अत्यत

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्लजी, पृ० १५७
२. प्रियप्रवास ६।४८-५५
३. वही ६।८२
४. वही ६।१५-२३
५. वही ६।२७-८१

श्रद्धा-भक्ति प्रकट की है और एक गोपी के मुख से यहाँ तक कहलवाया है कि "जहाँ न तो वृन्दावन है, जहाँ न मनोहर ब्रजभूमि है, जहाँ न सुन्दर यमुना नदी बहती है, जहाँ न वशीवट है, जहाँ न सुदर-सुदर कुजे हैं, जहाँ न ब्रज के करील, गाय, मोर, कोयल तथा मैनाये हैं और जहाँ न श्रीकृष्ण के प्रेम मे पगी गोपियाँ है ऐसा यदि स्वर्ग या वैकुठ भी प्राप्ति हो जाय, तो हम वहाँ रहना पसद नही करेगी।"[१] इस कथन द्वारा कवि ने स्पष्ट ही ब्रज के सम्पूर्ण रमणीक तीर्थो के प्रति अगाध स्नेह प्रकट करते हुए भारतीय सस्कृति के अतर्गत व्याप्त तीर्थ स्थानो के महत्व का निरूपण किया है और दिखाया है कि भारतीय जीवन मे अपने तीर्थ स्थानो के लिए कितना स्नेह, कितनी श्रद्धा एव कितना विश्वास विद्यमान है।

उत्सव-प्रियता—प्राय यह कहा जाता है कि "उत्सवप्रियाः मानवाः" अर्थात् विश्व के सभी मानव उत्सव-प्रिय होते है। परन्तु उत्सवो के प्रति भारतीय सस्कृति मे एक विशेष आकर्षण एव उत्कट प्रेम देखा जाता है। यहाँ के मानव अपने सभी उत्सवो को एक विशेष उत्साह एवं विशेष उल्लास के साथ मनाते है। इसके साथ ही यहाँ के उत्सवों के मनाने की पद्धति भी सर्वथा भिन्न है यहाँ उत्सव तीन प्रकार के होते है—कुछ तो सामाजिक है, जो सामूहिक रूप से ऋतु-परिवर्तन के समय सर्वत्र एक साथ मनाये जाते हैं। जैसे होली, दिवाली आदि। कुछ स्थानीय होते है, जो स्थान-स्थान पर विशेष पर्वो या विशेष-विशेष अवसरो पर मनाये जाते है। तीसरे कुछ उत्सव वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित होते है जो जन्म, विवाह आदि के अवसरो पर मनाये जाते है। परन्तु सभी उत्सवो मे एक विशेष पद्धति अपनाई जाती है। जैसे घर-द्वारो को कदली तथा आम के पत्तो से सजाया जाता है, सारे नगर की दूकाने सजायी जाती है, घर-घर मे मगलगीत गाये जाते है, नृत्य होते है, इत्यादि। हरिऔधजी ने अन्य उत्सवो की ओर तो सकेत नही किया है। परन्तु भारत

---

१. जहाँ न वृन्दावन है विराजता। जहाँ नहीं है ब्रज-भू मनोहरा।
न स्वर्ग है वाञ्छित, है जहाँ नहीं। प्रवाहिता भानुसुता प्रफुल्लिता।
करील है कामद कल्पवृक्ष से। गवादि हैं काम-दुधा गरीयसी।
सुरेश क्या है जब नेत्र मे रमा। महामना, श्याम घना लुभावना।
जहाँ न वंशीवट है, न कुंज है। जहाँ न केकी पिक है न सारिका।
न चाह बैकुठ रखें, न है जहाँ। बड़ी भली, गोप-लली, सभा अली।
—१५।६४-६६

मे जन्मोत्सव मनाने की पद्धति का अत्यत रमणीकता एव मनोमोहकता के साथ उल्लेख किया है। आपने लिखा है कि जब गोकुल मे श्रीकृष्ण के जन्म का उत्सव मनाया गया, उस समय प्रत्येक घर के द्वार पर सुदर वदनवार बाँधे गये। नवीन आम्र-पल्लवो के श्रेष्ठ तोरण प्रत्येक घर के आँगन मे बनाये गये। प्रत्येक घर, गली, रास्ता, मदिर, चौराहे तथा वृक्षो पर ध्वजाये लगाई गई। गोकुल की समस्त दूकानें विविध प्रकार से सजाई गई। प्रत्येक द्वार पर जल से भरे हुए घडे रखे गये। समस्त गलियो को फूलो से सुसज्जित किया गया। सभी चौराहे सजाये गये। सारी गाये वस्त्र, आभूषण और मोर पख से सुशोभित की गई। सारी ग्वालमडली विविध वस्त्रो एव अलकारो से सुसज्जित हुई। प्रत्येक घर मे मजुल मगलगान होने लगे। याचको को प्रचुर धन एव रत्न प्रदान किये गये और नद जी के घर मे गाने बजाने तथा नाचने की धूम मच गई।[1] कवि के इस वर्णन मे भारतीय सस्कृति की अत्यत पुष्ट परम्परा का उल्लेख हुआ है। भारत मे प्राय सर्वत्र जन्मोत्सव इसी तरह मनाया जाता है। साथ ही पुत्रोत्सव को यहाँ अत्यधिक महत्व भी दिया जाता है, क्योकि भारतीय सस्कृति मे यद्यपि कन्या का भी पर्याप्त महत्व है, तथापि कन्या की अपेक्षा पुत्र के जन्म को अधिक गौरव एव महत्व दिया जाता है। इस तरह कवि ने भारत की सास्कृतिक परम्परा की ओर सकेत करते हुए पुत्र जन्म एव जन्मोत्सव का अत्यत सजीव वर्णन किया है।

नवागंतुक तथा जुलूस आदि के देखने का कौतूहल—भारतीय सस्कृति मे यह एक अन्यत प्राचीन परम्परा सी दिखाई देती है कि यहा के नर-नारी अपने नगर मे आये हुए किसी नवीन व्यक्ति अथवा किसी जुलूस आदि को देखने के लिए अत्यत कौतूहल एवं आश्चर्य मे डूबकर अपने-अपने घर से निकल पडते हैं। यह विशेषता यहाँ की नारियो मे अधिक दिखाई देती है। क्योकि अन्य भारतीय ग्रथो मे भी इसके उल्लेख मिलते है। जैसे, महाकवि कालिदास ने रघुवश के सप्तम सर्ग मे युवराज अज के विदर्भ नगर मे प्रवेश करने पर वहाँ की नारियो को अत्यत उत्सुकता के साथ अपने-अपने केश-प्रसाधन आदि कार्यो को छोड़-छोड़कर गवाक्षो मे से अज को देखने के लिए खडी हुई अकित किया है और लिखा है कि कोई स्त्री तो अपना आधा ही केश-बधन करके आ खडी हुई, कोई खुली माला के साथ कोई शिथिल नीवी-बध के साथ और कोई खुली करधनी के साथ आ खड़ी हुई। कोई स्त्री

---

१. **प्रियप्रवास** ८।६–१६

महावर लगा रही थी, परन्तु अज को देखने के लिए शीघ्र दौडकर आने से गवाक्ष तक के सम्पूर्ण मार्ग को महावर से रजित करती हुई आ खडी हुई इत्यादि ।[1] यही बात अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य मे मिलती है। वहाँ भी यही लिखा है कि जिस समय सिद्धार्थ का जुलूस प्रथम बार नगर मे होकर निकला, उस समय नगर की अधिकाश स्त्रियाँ अत्यत उत्सुक होकर अपनी-अपनी अट्टालिकाओ मे आकर खडी हो गईं और अपना अपूर्ण शृगार किये हुए ही कुमार सिद्धार्थ का जुलूस देखने लगी। ऐसा ही वर्णन महाकवि वाण द्वारा रचित 'कादम्बरी' मे मिलता है। वहाँ पर युवराज चन्द्रापीड के नगर-प्रवेश के अवसर पर नगर की सारी स्त्रियाँ अत्यत उत्सुक होकर अपने-अपने कार्यो को अधूरा छोडकर ही गवाक्षो, अट्टालिकाओ एव छतो पर आ खडी होती है और क्षण भर मे ही समस्त प्रासाद नारीमय जैसे हो जाते है। महाकवि वाण का यह वर्णन अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है। कवि ने स्त्रियो के परस्पर सलाप द्वारा उनकी जिस उत्सुकता, देखने की तीव्र आकाक्षा, उनकी सम्भ्रमावस्था, स्पृहा, पारस्परिक परिहास, ईर्ष्या आदि का जो चित्र अकित किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरितमानस' मे जनकपुर के अतर्गत राम लक्ष्मण के घूमने पर वहाँ के नगर-निवासियो की उत्सुकता, आतुरता एव दर्शनाकाक्षा का वर्णन करते हुए लिखा है कि सभी नर-नारी अपने-अपने काम-धाम छोडकर सहज ही सुन्दर दोनो राजकुमारो को देखने के लिए आखडे हुए। युवतियाँ अपने-अपने घरो के झरोखो से राम के अनुपम रूप को देखती हुईं तथा परस्पर बाते करती हुईं उनके सौदर्य की सराहना करती थी, उनके बल-पराक्रम की प्रशंसा करती थी और प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ उन पर फूलो की वर्षा भी करती थी।[3] हरिऔध जी ने भी इस सास्कृतिक विशेषता का उल्लेख 'प्रियप्रवास' मे किया है। यहाँ पर मथुरा से जैसे ही उद्धव गोकुल मे आते है, वैसे ही उनके रथ को आता हुआ देखकर गोकुल के सभी नर-नारी अपने-अपने कार्यो को छोडकर उन्हे देखने के लिए आतुर होकर उनके समीप दौड़े चले आते है। जो अपने पशुओ की प्रतीक्षा कर रहे थे, वे प्रतीक्षा छोडकर तथा जो गाये बाँध रहे थे, वे गायो का बाँधना छोडकर उन्हे देखने के लिए

---

१. रघुवंश, ७।५-११

२ कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ० १८५–१८६

३ बालकांड, दोहा २१६ से २२३ तक ।

दौडे चले आते है। इसीतरह गाये दुहना, दीपक जलाना, पशुओ को खिलाना आदि सभी कार्यो को छोड-छोडकर गोकुल के व्यक्ति वहाँ दौडे चले आये। वहाँ की नारियो की तो और भी विचित्र दशा हुई। जो नारी कूये पर पानी खीच रही थी, उसने रस्सी-सहित घडे को ही कूये मे छोड़ दिया और अत्यत आतुर होकर रथ को देखने के लिए दौडी चली आई। इसी तरह जिसका घडा भर गया था, वह अपने भरे घडे को छोडती हुई और जो घडा भर कर चल रही थी, वह घडे को भूमि पर गिराती हुई तुरन्त सुधि-बुधि गँवाकर वहाँ रथ को देखने के लिए दौडी चली आई।[1] इस तरह कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय जनता की इस औत्सुक्यपूर्ण प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हुए यहाँ की इस सास्कृतिक विशेषता का बडी सुदरता के साथ वर्णन किया है।

काग से शकुन जानना—भारतीय सस्कृति मे शकुन के बारे मे बडा विश्वास प्रचलित है। यहाँ शकुनो के बारे मे ये धारणाये अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। यहाँ कुछ पशु-पक्षियो की बोली से ही यह अनुमान लगाने की प्रथा प्रचलित है कि हमे सफलता या असफलता मिलेगी। उनमे से 'काग' को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। 'काग' की बोली द्वारा शकुन जानने का वर्णन अत्यत प्राचीन ग्रथो मे मिलता है। महाकवि विद्यापति ने अपने एक पद मे राधा की विरहोत्कठा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "एक दिन राधा के घर पर कौवा आकर बोलने लगा, तब राधा उससे कहने लगी कि "हे काग! यदि तेरे बोलने से मेरे पति आजायँ, तो मै तुझे सोने के कटोरे मे भरकर खीर-खाँड का भोजन दूँगी।"[2] इसी तरह यहाँ के अनेक लोक-गीतो मे काग से शकुन जानने का वर्णन मिलता है, जिनमे कही तो

---

१. **जहाँ लगा जो जिस कार्य मे रहा। उसे वहाँ ही वह छोड़ दौड़ता।**
समीप आया रथ के प्रमत्त सा। विलोक ने को घनश्याम-माधुरी।

× × × × ×

निकालती जो जल कूप से रही। सरज्जु सो भी तज कूप में घड़ा।
अतीव हो आतुर दौड़ती गई। व्रजांगना-बल्लभ को विलोकने।
तजा किसी ने जल से भरा घड़ा। उसे किसी ने सिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ी सुधि गात की गँवा। सरोज सा सुंदर श्याम देखने।
—प्रियप्रवास ६।१२४–१२८

२. **काक भाख निज भाखह रे पहु आओत मोरा।**
खीर खांड़ भोजन देब रे भरि कनक कटोरा।
—विद्यापति पदावली १६०

विरहिणी को यह कहते हुए सुना जाता है कि यदि उसके पति आजायँ, तो वह काग की चोंच को सोने से मढवा देगी और कही ऐसा वर्णन मिलता है कि यदि काग के बोलने से अपना प्रिय आ जाये तो काग के लिए दूध-भात का भोजन मिलेगा और उसकी चोंच सोने से मढवा दी जावेगी। इस तरह भारतीय जीवन मे काग से शकुन जानने की रीति प्रचलित है। कही-कही ऐसा भी सुना जाता है कि जैसे ही काग अपने घर की दीवार पर आकर बैठता है, वैसे ही उससे यह कहा जाता है कि "अमुक व्यक्ति यदि आ रहा हो तो उडजा।"। अब यदि वह उड जाता है, तो यह मान लिया जाता है कि वह व्यक्ति आज अवश्य आ जायेगा और उसी का सदेश देने के लिए काग आया था। भारतीय सस्कृति की इसी धारणा को काव्य का रूप देते हुए महाकवि हरिऔध ने अपने 'प्रियप्रवास' मे भी लिखा है कि "यदि गोकुल के किसी घर पर कभी काग आकर बैठता था तो उस घर की रमणी तुरन्त उससे यही कहती थी कि अगर श्रीकृष्ण आ रहे हो तो तू उड़कर बैठ जा, मैं तुझे प्रतिदिन दूध और भात खाने के लिए दूँगी।"[१] इस तरह भारतीय जीवन के इस विश्वास को काव्य मे स्थान देकर कवि ने भारतीय सस्कृति की इस विशेषता को भी चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

भाग्यवादिता—भारत के अधिकाश व्यक्तियो मे यह विश्वास अत्यत गहनता के साथ व्याप्त है कि जो कुछ भाग्य मे लिखा है, वही होता है। इस भाग्य का निर्माण जन्म से छठे दिन आकर विधाता द्वारा होता है। उस दिन गृहो मे षष्ठीदेवी या छठी का पूजन होता है, रात्रि को जागरण का उत्सव मनाया जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि घर मे चहल-पहल के साथ आनदोत्सव मनाया जा रहा होगा, तो विधाता आकर भाग्य मे अच्छे अक लिख जायेगा। इसी आधार पर विधाता या दैव को प्रबल मानकर भाग्य पर विश्वास करने की प्रथा यहाँ अत्यत प्रचीन काल से चली आरही है। इसीलिए यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि "विद्या और पौरुष से नही अपितु सर्वत्र भाग्य के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है।"[२] सभवत. इसीलिए

---

१. आके कागा यदि सदन मे बैठता था कहीं भी।
तो तन्वगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूँगी। ६।८

२ भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न पौरुषम्॥

गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि "होनहार बडी प्रबल होती है। जब जैसा होना होता है, उसी के अनुसार सहायता मिल जाती है और होनहार स्वय किसी के पास नही आती, अपितु उसी व्यक्ति को वहाँ ले जाती है, जहाँ उसके लिए कुछ होना होता है।"[१] इसी भाग्य तथा दैव के बारे मे पचतत्र मे भी लिखा है कि "यदि दैव रक्षा करता है तो अरक्षित वस्तु की भी रक्षा हो जाती है और यदि दैव किसी का विनाश करना चाहता है तो सुरक्षित वस्तु का भी विनाश हो जाता है। इसीलिए एक अनाथ व्यक्ति जगल मे अरक्षित होकर भी जीवित रहा आता है और अनेक प्रयत्न करने पर भी एक व्यक्ति घर मे जीवित नही रहता।"[२] भारतीय सस्कृति की इसी विशेषता को दिखाने के लिए हरिऔधजी ने स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख किया है। यहाँ हम 'प्रियप्रवास' से कुछ उदाहरण दे रहे है, जिनमे विधि की बिडम्बना, दैव की प्रबलता, भाग्य की महानता, होनहार की अटलता, भाल के लेख की अमिटता आदि की ओर सकेत करते हुए कवि ने भावी या दैव अथवा भाग्यवादिता सबधी विचारधारा को अकित किया है :—

(१) वह कब टलता है भाल मे जो लिखा है। ४।३५

(२) दिन फल जब खोटे हो चुके है हमारे।
तब फिर सखि ! कैसे काम के वे बनेंगे। ४।४६

(४) विडम्बना है विधि की वलीयसी।
अखडनीया-लिपि है ललाट की।
भला नही तो तुहिनाभिभूत हो।
विनष्ट होता रवि-बधु-कज क्यो। १३।२१

(४) हाँ ! भावी है परम-प्रबला दैव-इच्छा-बली है।
होते-होते जगत कितने काम ही है न होते। १४।३३

स्वजाति प्रेम एवं राष्ट्रीयता—भारतीय सस्कृति मे अपनी जाति एव अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम का भी अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है। यहाँ अत्यत प्रचीनकाल मे ही अपने समाज एव अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था करने के लिए समाज को चार भागो मे विभक्त किया गया। इस विभाजन का आधार

१. होनहार भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आपुन आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लेजाय।— तुलसी

२ अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षित सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथो विपिनोऽप्यरक्षित. कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥

श्रम तथा कर्म था । उस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र नामक चार भागो मे सारा समाज विभक्त था और प्रत्येक वर्ग या वर्ण अपने-अपने कार्य को सुचारू रूप से करता हुआ समाज को उन्नत एवं समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता था । इतना होते हुए भी ये सभी वर्ग या वर्ण एक ही समाज के विभिन्न अग माने जाते थे, उनमे कोई भेद-भाव नही था और वे सभी सामाजिक दृष्टि से समान थे । इसी समानता की घोषणा करने के लिए प्राचीन ग्रथो मे समाज को एक पुरुष मानकर समस्त वर्गो एव वर्णो को उस पुरुष के अग कहा गया था । जैसा कि ऋग्वेद मे लिखा भी है कि "उस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाये क्षत्रिय थे, उसकी जंघाये वैश्य थे और उसके चरण शूद्र थे ।"[१] इस एकरूपता से परिपूर्ण समाज या जाति अथवा राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा एव अनन्य प्रेम की भावना आदि-काल से ही उत्पन्न हुई और वह आज तक विद्यमान है । साधारणतया एक जाति अथवा एक राष्ट्र से यही अभिप्राय है कि जिस भूभाग पर एक से धार्मिक विचार एव एक से रहन-सहन वाले ऐसे व्यक्ति रहते हो, जो उस भूमि को अपनी मातृभूमि उस देश को अपना देश, वहाँ के महापुरुषो को अपने पूर्वज एवं वहाँ के रीति-रिवाजो तथा उत्सवो को अपने रीति-रिवाज एव उत्सव मानते हो । ऐसी ही जाति या ऐसे ही समाज को एक राष्ट्र कहा जाता है और ऐसे ही विचार वाले तथा अपने-अपने कार्यो मे लगे रहने वाले व्यक्तियो के बारे मे गीता मे भी लिखा है कि 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मो मे लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है'[२] तथा 'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुण रहित होने पर भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता ।'[३] इस तरह अपने-अपने धर्म एव कर्त्तव्य की शिक्षा देते हुए भारतीय ग्रथो मे अपनी जाति एव अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न किया गया है और

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत. ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, १०।९०।१२

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नर. । १८।४५

३ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ १८।४७

बताया गया है कि जिस व्यक्ति मे अपनी जाति एवं अपने देश के प्रति प्रेम एवं स्वाभिमान नही होता, वह व्यक्ति पशु की तरह जीवित रहते हुए भी मृतक के समान होता है ।[1] हरिऔधजी ने भी इस स्वजाति-प्रेम एव राष्ट्रीयता के विचारो को स्थान देते हुए 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस प्रमुख विशेषता को काव्यरूप प्रदान किया है। यहाँ श्रीकृष्ण जैसेही कालीनाग के द्वारा अपनी जाति एव अपने राष्ट्र की दुर्दशा देखते है, तुरन्त उनके मुख से स्वजाति रक्षा एव राष्ट्र-प्रेम के विचार निकल पडते है[2] और वे उत्तेजित होकर कह उठते है कि "मैं मृत्यु के मुख मे जाकर भी इस कार्य को स्वय पूरा करूँगा तथा स्वजाति एव अपनी जन्म-भूमि के निमित्त इस भयकर सर्प से कभी भयभीत नही बनूँगा ।[3] उनके ऐसे ही उद्‌गार उस समय भी निकलते है, जिस समय प्रचड दावानल मे समस्त गोप, गाय एव वन के प्राणी जलने लगते है। श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए ये शब्द "उबारना सकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है"[4] कितने जातीयता एव राष्ट्रीयता के भावो से भरे हुए है! इतना ही नही इसी समय वे जब अपने साथियो को सम्बोधन करते हुए यह कहते है—"हे वीरो ! आगे बढो और अपनी जाति का भला करो, इससे हमे दोनो प्रकार से ही लाभ की प्राप्ति होगी, क्योकि यदि दावानल मे फँसे हुए प्राणियो को बचा लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इस दावानल मे भस्म हो गये, तो जगत मे सुन्दर कीर्ति मिलेगी ।"[5] इन शब्दो मे गीता के वे वाक्य गूँजते हुए स्पष्ट सुनाई पड रहे है, जिनमे श्रीकृष्ण ने दुर्बलता को प्राप्त अर्जुन को उद्‌बोधन करते हुए कहा था कि

---

१. जिसमे नहीं निज जाति औ निज देश का अभिमान है ।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है ।

२ स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा । विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की ।
विचारके प्राणि समूह-कष्ट को । हुए समुत्तेजित वीर-केसरी ।११।२२

३. अतः करूँगा यह कार्य मे स्वयं । स्वहस्त मे दुर्लभ प्राण को लिये ।
स्वजाति औ जन्मधरा निमित्त मैं । न भीत हूँगा विकराल व्याल से ।।
—प्रियप्रवास ११।२५

४. प्रियप्रवास ११।८५

५. बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला । अपार दोनो विध लाभ है हमें ।
किया स्वकर्त्तव्य उबार जो लिया । सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गये ।
—प्रियप्रवास ११।८७

"हे अर्जुन ! युद्ध करने मे तुम्हे दोनो प्रकार से ही लाभ है, यदि तुम मृत्यु को प्राप्त होगे, तो तुम्हे स्वर्ग मिलेगा और यदि विजयी होगे, तो तुम पृथ्वी के राज्य को भोगोगे । इसलिए तुम्हे युद्ध करना ही अभीष्ट है ।"[1] इस प्रकार हरिऔधजी ने अपने चरित्र नायक श्रीकृष्ण के मुख से स्वजाति प्रेम एव राष्ट्रीय भावो का उद्‌घाटन करके 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस उन्नत विचार-धारा को बडी मार्मिकता के साथ अकित किया है ।

सर्वभूतहित—भारतीय सस्कति मे केवल अपनी जाति एव अपने राष्ट्र सबधी प्रेम की ही प्रधानता नही है, अपितु यहाँ ससार के सभी प्राणियो की मगल कामना करते हुए उनके हित मे लीन रहने तथा उनका कल्याण करने के वारे मे भी अत्यधिक जोर दिया गया है । इसीलिए यहाँ पर प्राय यह कामना की जाती थी कि "सभी सुखी हो, सभी रोग रहित हो, सभी कल्याण के दर्शन करे और कभी किसी को किसी तरह का दु ख प्राप्त न हो ।[2] इसी सर्वभूतिहित को ध्यान मे रखकर यहाँ पर पच महायज्ञो का विधान किया गया था, जो ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है । इन पाँचो यज्ञो को प्रत्येक व्यक्ति नित्यप्रति करता था । इनमे से ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य ज्ञानार्जन के लिए अध्ययन से है । पितृयज्ञ से तात्पर्य मृत पितरो के लिये अन्न-वलि आदि देने से है । देवयज्ञ से अभिप्राय ऐसे हवन या होम से है, जो शुद्ध सामग्री एव घृत द्वारा देवताओ के निमित्त किया जाता था । भूतयज्ञ से तात्पर्य ऐसे कार्य से था, जो अन्न पकाने तथा यज्ञ करने के उपरान्त किया जाता था तथा जिसमे दाल, भात, शाक, रोटी आदि जो कुछ भी घर पर तैयार हुआ हो, उसमे से छ भाग भूमि मे रखे जाते थे और जो भाग कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, काग, कृमि आदि के लिए होते थे ।[3] इसके अतिरिक्त पाँचवाँ यज्ञ यह था कि घर पर जो भी अतिथि आये उसकी यथा सामर्थ्य सेवा-परिचर्या की जाती थी । इसे अतिथि-यज्ञ कहते थे और जैसे ही कोई अतिथि घर पर आता था, तब प्रत्येक गृहस्थ प्रेम से उठकर उसे नमस्कार करता हुआ पहले उसे उत्तम आसन पर बैठाता था,

---

१ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्षसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ।। २।३७

२ सर्वेऽपि सुखिन· सन्तु सर्वे सन्तु निरामया. ।
सर्वभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत ।

३. मनुस्मृति ३।९२

फिर उसे जल या अन्न जिसकी इच्छा होती थी, उसे प्रदान करता था।[1] इस तरह भारतीय सस्कृति मे चीटी से लेकर सभी प्राणियो के सुख एव हित की कामना से नित्यप्रति किये जाने वाले उक्त पच महायज्ञो का विधान था और सभी व्यक्तियो के हृदयो मे यह भावना नित्यप्रति जाग्रत की जाती थी कि सदैव सभी के कल्याण की कामना करनी चाहिए, सभी प्राणियो के हित से संबधित कार्य करने चाहिए और कभी वैयक्तिक स्वार्थ मे लीन होकर अपने परिवार, समाज या देश का अहित नही करना चाहिए। हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे भी श्रीकृष्ण के ऐसे उज्ज्वल चरित्र का चित्रण किया है, जिसमे 'सर्वभूतहित' की कामना सर्वाधिक है, और जो बाल्यकाल से लेकर अन्तिम क्षणो तक सभी प्राणियो के हित सम्बन्धी कार्यों मे ही लीन रहे आते है। श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए ये उद्गार उनकी 'सर्वभूतहित' सम्बन्धिनी भावना को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त कर रहे है:—

"प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा 'हित सर्वभूत' का।११।२७

इतना ही नही हरिऔधजी के विचार से तो ससार मे वही व्यक्ति सच्चा आत्मत्यागी है जिसे 'जगत-हित' या लोक-सेवा का भाव ही सर्वाधिक प्रिय है। जैसा आपने आगे चलकर लिखा भी है —

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल मे आत्मत्यागी वही है।१६।४२

यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' की राधा अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण को जगत-हित अथवा सर्वभूतहित मे लीन देखकर कभी यह स्वप्न मे भी कल्पना नही करती कि वे लौटकर गोकुल आवे और मेरे पास रहे, अपितु वह यही चाहती है कि—

"प्यारे जीवे जग-हित करें गेह चाहे न आवे"

इन शब्दो मे कवि ने लोक-हित या सर्वभूतहित को कितना महत्व दिया है, उसके ऊपर प्रणय को भी न्यौछावर होता हुआ दिखाया है और एक प्रेमिका के जीवन मे भी आमूल-चूल परिवर्तन होते हुए अंकित किया है, क्योकि श्रीकृष्ण की इस लोक-हित एव सर्वभूतहित की भावना से अनुप्रेरित होकर राधा भी अपने जीवन मे लोक-हित को महत्व देने लगती है और

---

१ **भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी, पृ० ९०-९५**

आजीवन सर्वभूतहित मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है। जैसा कि ने लिखा भी है —

आटा चीटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि मे भी।
पत्तो को भी न तरु-वर के वृथा तोडती थी।
जी से वे थी निरत रहती भूत-सम्वर्द्धना मे। १७।४८

अत: यह कहा जा सकता है कि हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस उज्ज्वल एव उच्चतम भावना को स्थान देकर न केवल भारतीय जीवन की उज्ज्वल झाँकी प्रस्तुत की है, अपितु विश्व भर को यह शिक्षा भी दी है कि मानव का कल्याण इसी भावना को अपनाकर हो सकता है।

लोक-सेवा—'प्रियप्रवास' को भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक बनाने के लिए कवि ने इसमे भारतीय सस्कृति की उन सभी विशेषताओ को सर्वाधिक महत्व देने की चेष्टा की है, जो भारतीय सस्कृति की प्रमुख अग है, जिनके अपनाने के कारण ही भारत विश्व-गुरु की उपाधि से विभूषित था और जिनके कारण आज भी वह विश्व मे आदर एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। उनमे से लोक-सेवा का भाव भी एक है। यहाँ इस सेवा-भावना को जाग्रत करने के लिए ही प्रारम्भ मे चार वर्णो की योजना की गई थी जिनमे से ब्राह्मण वर्ण अपनी बुद्धि एव ज्ञान के द्वारा समाज को सदाचार एव विवेक की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा करता था, क्षत्रिय वर्ण अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा शत्रुओ से देश की रक्षा करता हुआ समाज की सेवा करता था, वैश्व वर्ण कृषि आदि कार्य करता हुआ अन्न, धन आदि का उपार्जन करके समाज की सेवा करता था और शूद्र वर्ण समाज के व्यक्तियो की सेवा-सुश्रूषा करता हुआ इस कार्य को पूर्ण करता था। सभी प्राणी सेवा-भावना से अनुप्राणित होकर समाज का कार्य करते थे। इतना ही नही हमारे समाज मे जीवन के जिन चार पडावो की योजना की गई थी, उनमे भी लोक-सेवा को सर्वोपरि समझा गया था। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम, जीवन का प्रथम पड़ाव था, जिसमे समाज का एक व्यक्ति गुरुकुल मे जाकर गुरु की सेवा करता हुआ विद्या प्राप्त करना था। दूसरा पड़ाव गृहस्थाश्रम था, जिसमे नित्य पच महायज्ञ करता हुआ गृहस्थी चीटी से लेकर मानव तक सभी प्राणियो के भरण-पोषण की व्यवस्था करता था और बडी सहृदयता एव सहानुभूति के साथ अपने समाज की अन्न, धन आदि से सेवा करता था। प्राय. ब्रह्मचारी, सन्यासी अथवा

अपाहिज व्यक्ति की भोजन संबधी सेवा का भार गृहस्थी पर ही होता था। तीसरा पड़ाव वानप्रस्थ आश्रम माना गया था, जिसमे प्रवेश करके एक व्यक्ति समाज के कोलाहल से दूर जगल मे अपनी कुटी बनाकर रहता था और अपने प्रौढ अनुभव एव उन्नत विवेक के द्वारा समाज के गृहस्थियो, बच्चो, नारियो आदि को सदाचार, सच्चरित्र एव सद्व्यवहार की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा का कार्य किया करता था। इन वानप्रस्थो के आश्रमो मे जाकर राजा, महाजन, युवराज, युवक, युवती आदि अपनी-अपनी समस्याओ का समाधान प्राप्त किया करते थे और जीवन की जटिल ग्रन्थियो को सुलझाकर ये वानप्रस्थी लोग समाज मे सतुलन स्थापित करने की चेष्टा किया करते थे। इस तरह वानप्रस्थियो के आश्रम आध्यात्मिकता के केन्द्र बन जाते थे और अपने सादा जीवन एव उच्च विचारो द्वारा वे समाज की सेवा मे ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। चौथा पडाव संन्यासाश्रम कहलाता था। इस आश्रम मे पहुँचकर समाज के व्यक्ति का कार्य अब केवल एक समाज या एक देश की ही सेवा करना न था, अपितु अब वह सम्पूर्ण ससार की सेवा मे लग जाता था और परमात्मा के चिंतन मे लीन होकर नि स्वार्थ एव निष्काम भाव से प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा को अपना लक्ष्य बना लेता था। इस तरह हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियो ने इस 'आश्रम-व्यवस्था' को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम मे प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम मे पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नही रह जाती थी, भीतर से शुद्ध-नि.स्वार्थभाव सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था। "सन्यासी कौन होता था? सन्यासी वह था जो कोढियो और अपाहिजो को देखकर अपने बदन के कपडे से उनकी मरहम-पट्टी करता था। सन्यासी वह था, जो रोती-कलपती विधवाओ के पास बैठकर उनके आँसुओ मे अपने आँसू बहाता था। सन्यासी वह था जो लूलो और लँगड़ो को देखकर उन्हे अपने हाथ का सहारा देता था। ससार के बोझ को अपना बोझ, ससार के दु.ख को अपना दु ख समझकर चिन्ता करने वाले सन्यासी आज नहीं रहे, तो भी सन्यास आश्रम का आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।"[१]

हरिऔध जी ने इसी लोक-सेवा की भावना को 'प्रियप्रवास' मे अत्यत सजीवता के साथ अंकित किया है। इसी कारण यहाँ चरित्रनायक श्रीकृष्ण

---

१ आर्य-सस्कृति के मूल तत्व, पृ० १६७

बचपन से ही प्राणिमात्र की सेवा करने मे लीन रहे आते थे और सदैव रोगी, विपद्-ग्रस्त एव असहाय प्राणियो की सेवा करते हुए वे सदैव ब्रज मे आनद एव सुख का सचार किया करते थे। जैसा कि गोप-गण उनकी प्रशसा करते हुए प्राय कहा भी करते थे .—

"रोगी दुखी विपद-आपद मे पडो की।
सेवा सदैव करते निज-हस्त से थे।
ऐसा निकेज ब्रज मे न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवे। १२।८७

इतना ही नही वे इसी लोक-सेवा से अनुप्रेरित होकर गोकुल छोडकर मथुरा चले जाते है और अपने प्रिय सखा, स्नेहमयी माता, अन्यन्य प्रेमी गोपियो तक को छोड देते है तथा इसी लोक-सेवा के कारण फिर वे मथुरा को भी छोडकर द्वारिका मे जा बसते हैं। उनकी इस सेवा-भावना का प्रभाव राधा पर भी पडता है। 'प्रियप्रवास' की चरित्रनायिका राधा भी इस सेवा-भाव को अपना मूल-मत्र बना लेती है और वह भी वृद्ध रोगी एव आपत्ति-ग्रस्त प्राणियो की सेवा करती हुई ब्रज-भूमि मे देवी के पद को प्राप्त कर लेती है। जैसाकि हरिऔध जी ने लिखा भी है —

"सलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य मे भी।
वे सेवा थी सतत करती वृद्ध रोगी जनो की।
दीनो, हीनो, निबल, विधवा आदि को मानती थी।
पूजी जाती ब्रज-अवनि मे देवियो सी अतः थी। १७।४६

इस चित्रण का मूल कारण यह है कि हरिऔध जी यह मानते थे कि ससार मे मनुष्य राज्याधिकार या धन-द्रव्य आदि के कारण अत्यत मान तो अवश्य प्राप्त कर सकता है, परन्तु ससार मे उसी की पूजा होती है जो व्यक्ति नि स्वार्थ भाव से प्राणियो के हित तथा 'लोक-सेवा' मे लीन रहता है।[1] इतना ही नही हरिऔध जी ने प्राणियो की सेवा से उत्पन्न सुख को तो गगाजी के तुल्य बताया है।[2] इसीलिए कवि ने भारतीय सस्कृति की उक्त

---

१ भू में सदा मनुज है बहु-मान पाता।
राज्याधिकार अथवा धन-द्रव्य-द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित विश्व मे है।
निस्वार्थ भूत-हित औ कर लोक-सेवा।—प्रियप्रवास १२।६०

२ प्राणी-सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है। १६।४३

दोनो विशेषताओ को यहाँ सर्वाधिक तन्मयता एव सजीवता के साथ अकित किया है ।

सात्विक कार्यों का महत्व—भारतीय सस्कृति मे कर्म का सिद्धान्त अत्यंत महत्वपूर्ण है । यहाँ पर मानव को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करने की सलाह दी गई है ।[1] साथ ही यह भी बतलाया गया है कि हमे सदैव कर्म मे ही लगे रहना चाहिये, कभी उसके फल की इच्छा नही करनी चाहिए ।[2] परन्तु कर्मों का विवरण देते हुए यहाँ तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये है, जो सात्विक, राजस और तामस कहलाते है । इनमे से जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ तथा कर्त्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा रागद्वेष के बिना किया जाता है, उसे सात्विक कर्म कहते है ।[3] दूसरे जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है और फल को चाहने वाले अहकारी पुरुष द्वारा किया जाता है, वह राजस कहलाता है ।[4] और तीसरा, जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कर्म कह-लाता है ।[5] इन तीनो कार्यों के बारे मे यह बताया गया है कि जो जैसा कार्य करता है, वह वैसा ही फल अपने लौकिक एवं पारलौकिक जीवन मे प्राप्त करता है । इसी कारण यहाँ सर्वाधिक महत्व सात्विक कार्यों को दिया गया है, क्योंकि राजस और तामस कार्यों से तो मानव को राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण अनेक दु ख एव यातनाये सहन करनी पडती है, जब कि सात्विक कार्यों के करने से वह इस लोक मे आनद एव सुखो को भोगता हुआ परलोक मे भी आनद एव सुख प्राप्त करता है । भारतीय सस्कृति के इसी सिद्धान्त को चित्रित करने के लिए हरिऔधजी ने सात्विकी वृत्ति से सम्पन्न सात्विकी कार्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और श्रीकृष्ण द्वारा राधा के समीप भेजे

---

१ **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । यजु० ४०।२**

२ **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । गीता, २।४७**

३. **नियत सगरहितमरागद्वेषत. कृतम् ।**
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते । गीता, १८।२३

४ **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।**
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदहृतम् ।। गीता, १८।२४

५ **अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।**
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। गीता, १८।२५

गये सदेश मे स्पष्ट ही यह घोषित किया है कि संसार मे स्वार्थ से परे होकर सम्पूर्ण प्राणियो के कल्याण के लिए जो-जो सात्विक कार्य किये जाते है, वे सदैव श्रेयस्कर होते है अर्थात् उनके द्वारा न केवल अन्य प्राणियो का ही कल्याण होता है, अपितु अपना भी कल्याण होता है।[1] इतना ही नही आगे चलकर आपने तामसी, राजसी एव सात्विकी वृत्ति वाले व्यक्तियो का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि तामसी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव पर-पीडा, छिद्रान्वेषण, मलिनता आदि से भरे हुए कार्य किया करता है और राजसी वृत्ति वाला व्यक्ति नाना प्रकार के भोगो मे लीन होकर अपनी वासना की पूर्ति के लिये स्वार्थ पूर्ण कार्य किया करता है जब कि सात्विकी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव निष्काम भाव से संसार के लिये सुखदायक कार्य किया करता है, वह भोगो मे लीन नही होता और उसके हृदय मे ससार के सभी प्राणियो के प्रति अत्यत प्रेम विद्यमान रहता है। इसलिए सात्विक वृत्ति वाले प्राणी ही ससार मे आत्मत्यागी तथा श्रेष्ठ होते है।[2] इस तरह हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे सात्विक कार्यो की प्रेरणा देते हुए यह सकेत किया है कि मानव को सदैव विश्व-प्रेम मे लीन होकर प्राणिमात्र को सुखी करने का प्रयत्न करना चाहिए और औरो को सुखी देखकर स्वय सुखी होने की चेष्टा करनी चाहिए। भारतीय सस्कृति की इसी विशेषता को आगामी कवियो ने भी अपनाया है। कामायनीकार प्रसाद ने भी इसी बात पर सर्वाधिक जोर दिया है।[3] अत भारतीय सस्कृति मे कर्म करने की जो प्रेरणा दी गई है,

---

१. श्रेयः कारी सतत दयिते सात्विकी-कार्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी। १६।४६

२ जो होता है हृदय तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी-वृत्ति-वाला।
नाना भोगाकलित, विविधा-वासना-मध्य-डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्तिशाली।
निष्कामी है भव-सुखद है और है विश्व-प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है। १६।९९-१००

३ औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो सबको सुखी बनाओ। कामायनी, पृ० १३२

उसका अभिप्राय यही है कि अपने-अपने सुनिश्चित कार्य को करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे कार्यो द्वारा अपने निजी कल्याण के साथ अधिक से अधिक अन्य प्राणिया का भी कल्याण हो। 'प्रियप्रवास' मे इसी भावना को चित्रित करते हुए हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण तथा राधा को सदैव लोक-कल्याणकारी सात्विक कार्यों मे ही लीन दिखाया है।

अहिंसा—भारतीय सस्कृति मे हिंसा का तिरस्कार तथा अहिंसा का अत्यधिक स्वागत किया गया है। हमारे यहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच विशेषताओ को जीवन के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इनमे से सर्वप्रथम महत्व 'अहिंसा' को दिया गया है। यहाँ धर्म-ग्रथो मे "अहिंसा परमो धर्म", कहकर स्थान-स्थान पर अहिंसा के महत्व का प्रतिपादन मिलता है। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म मे तो अहिसा का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया गया है। बौद्धधर्म मे पचशील माने गये है, जो क्रमश. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा सुरा-मैरेय आदि का असेवन कहलाते है। इनमे भी अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है। इतना ही नही बौद्धधर्म मे तो अहिंसा को इतना महत्व दिया गया है कि मानवो की पॉच आजीविकाये हिंसा-प्रवण होने के कारण अयोग्य ठहराई गई है, जिनके नाम क्रमश. इस प्रकार है—(१) सत्थ वणिज्जा (हथियार का व्यापार) (२) सत्त वणिज्जा (प्राणी का व्यापार) (३) मस वणिज्जा (मास का व्यापार), (४) मज्ज-वणिज्जा (मद्य या शराब का व्यापार), और (५) विस वणिज्जा (विष का व्यापार)[1]। इससे सिद्ध है कि प्राणियो को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाना अथवा उनके कष्ट के लिए किसी प्रकार का व्यवसाय तक करना हिसा के अन्तर्गत माना जाता था। परन्तु बौद्ध धर्म से पूर्व वैदिक युग मे यज्ञ के अवसर पर जो पशु की हिंसा की जाती थी, उसे हिंसा नही माना जाता था। उसके लिये प्राय यह कहा गया है कि पशु-याग तो श्रुति-सम्मत है। अतएव विहित कर्म है, क्योकि यज्ञ मे हिंसित पशु पशुभाव को छोडकर मनुष्यभाव की प्राप्ति बिना ही देवत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। इसी कारण साख्य-योग, मे भी यज्ञ मे होने वाली पशु-हिसा को बुरा नही माना है। वैसे अहिसा का श्रीगणेश साख्यो से ही माना जाता है। वहाँ पर यम-नियमो मे 'अहिंसा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और बताया गया है कि सत्य की भी पहँचान अहिंसा पर ही निर्भर है। जैसे जो सत्य प्राणियो का उपकारक

---

१. अंगुत्तर निकाय, ५

है, वही ग्राह्य है और जो सत्य प्राणियो का अपकारक होता है, वह सत्य ही नही माना जाता।[1] इसलिए अहिंसा को सत्य से भी बढकर माना गया है। मनुस्मृति मे दस यम माने गये है—ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर स्वभाव और इन्द्रिय-दमन। इनके बारे मे लिखा है कि "बुद्धिमान मनुष्य सदा यमो का पालन करे, नित्य नियमो का ही पालन न करे। क्योकि जो यमो का पालन नही करता और केवल नियमो का ही पालन करता है, वह पतित होता है।"[2] यहाँ पर भी यमो मे अहिसा की गणना करके उसके नित्य पालन पर जोर दिया गया है। सत्य तो यह है कि ससार के अन्य सभी प्राणियो मे हिसा की प्रबलता है, क्योकि वहाँ तो 'स्ट्रगल फॉर एग्जिस्टेन्स' (Struggle for existence) वाला सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इसी को हमारे यहाँ 'मत्स्यन्यायभिभूत जगत्' कहकर मीन-मत्स्य-न्याय कहा गया है। क्योकि जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, वही बात अन्यत्र भी लागू हो रही है कि दुर्बल प्राणी को सबल प्राणी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए खाजाता है, नष्ट कर देता है अथवा दबा कर रखना चाहता है। इसी सिद्धान्त ने युद्ध को भी जन्म दिया है। अत. यह 'हिंसा' जड एव हीन प्राणियो का अनिवार्य नियम है। इसी कारण मानव को कुछ चेतन एव विवेकशील जानकर यहाँ के ऋषियो ने उसके लिए अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना की है। परन्तु जहाँ कोई हिंसक व्यक्ति व्यर्थ ही समाज का उत्पीड़न कर रहा हो, अथवा सता रहा हो या अन्य प्रकार से कष्ट दे रहा हो, तो उसका विनाश करने मे कोई हानि नही। उसकी हिंसा भी हिसा नही मानी जाती। इसीलिए तो गीता मे भगवान् कृष्ण ने लिखा है कि "सज्जन एव साधु पुरुषो की रक्षा के लिये, दूषित कर्म करने वाले दुष्टो का विनाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग मे प्रकट होता हूँ।"[3] इससे सिद्ध है कि दुष्टो के विनाश में अधर्म नही है, हिसा नही है, अपितु धर्म एवं अहिंसा का ही पालन है। इसी आधार पर यहाँ "शठं शाठ्य समाचरेत्" अर्थात् 'शठ के साथ शठता का ही वर्त्ताव करना चाहिए' वाला नीति-वाक्य प्रचलित है।

---

१ सांख्य-शास्त्र—व्यासभाष्य, २।३०

२ मनुस्मृति ४।२०४

३ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४।८

कहने की आवश्यकता नही कि हरिऔध जी ने भी हिंसा एव अहिंसा के बारे मे अपने ऐसे ही विचार व्यक्त किये है, जो उक्त भारतीय विचार धारा से पूर्णतया मेल खाते है तथा जो भारतीय सस्कृति के पूर्णतया अनुकूल है। इसीलिये 'प्रियप्रवास' मे आपने लिखा है कि जब व्योमासुर आकर ब्रज के ग्वाल-बाल एव गायो को सताता रहता है और श्रीकृष्ण उसकी दुष्ट-प्रवृत्ति को सुधारने की चेष्टा करते-करते थक जाते है, तब वे एक दिन उससे यह कह उठते है—"दुष्ट ! तेरे सुधार की समस्त चेष्टाये अब व्यर्थ हो गई है, क्योकि तूने अपनी कु-प्रवृत्ति का परित्याग नही किया है। इसलिये अब ससार के कल्याण के लिये तेरा बध करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।' यह मैं जानता हूँ कि ससार मे 'हिंसा अवश्य ही अत्यत निंदनीय कर्म है, परन्तु कभी-कभी हिंसा करना भी कर्त्तव्य हो जाता है, जिससे घर मे सर्प आदि अधिक न हो और पृथ्वी पर पापी अधिक न बढे। वैसे तो मनुष्य ही क्या, एक चीटी का बध करना भी पाप है, परन्तु एक पिशाच कर्म करने वाले पापी का बध करने मे कोई पाप नही है। जो मनुष्य समाज का उत्पीडक है, धर्म का द्रोही है, अपनी जाति का विनाशक है, ऐसे मनुष्य द्रोही एव दुरतपापी को कभी क्षमा नही करना चाहिये, वरच उसका बध करना ही श्रेयस्कर होता है, क्योकि दुष्ट के लिए क्षमा कभी भली नही होती। समाज को पीडा पहुँचाने वाला व्यक्ति तो सदैव दडनीय माना गया है, क्योकि यदि कुकर्म करने वाले व्यक्तियो की रक्षा की जायेगी, तो वे सदैव सुकर्म करने वालो को सकट देते रहेगे।'[1] हरिऔध जी के उक्त विचारो मे स्पष्ट ही हिसा को निंदनीय बताया गया है, परन्तु पापियो, दुष्टों एवं समाज उत्पीड़को की हिंसा करना भी 'अहिसा' ही है। इस तरह हरिऔध जी ने भारतीय संस्कृति की अहिसा सम्बन्धी विचार-धारा को अत्यत सजीवता के साथ 'प्रियप्रवास' मे अंकित किया है।

सत्य—जीवन के पडाव मे अत्यधिक सहायता देने वाली दूसरी विचारधारा का नाम 'सत्य' कहकर अभिहित किया गया है। भारतीय सस्कृति जैसे चारो ओर फैली हुए हिंसा के अतर्गत अहिंसा को अपनाने की प्रेरणा देती है, वैसे ही सर्वत्र फैले हुए असत्य या अनृत मे से सत्य या ऋत की ओर उन्मुख होने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करती है। यहाँ कहा गया है कि उस तपोमय आत्मा से सर्वप्रथम ऋत और सत्य का ही आविर्भाव हुआ

---

१ प्रियप्रवास १३।७६-८१

था ।[1] वेदो मे भी लिखा है कि 'सत्य' मे ही सबसे अधिक आत्मा का प्रकाश विद्यमान रहता है । इसलिये सत्य को देखना आत्मा को देखना है अथवा आत्मा को देखना सत्य को देखना है ।[2] इस तरह आत्मा और सत्य दोनो की एकरूपता सिद्ध करते हुए आत्मसाक्षात्कार मे ही सत्य का साक्षात्कार होना बताया गया है । इतना ही नही इसी कारण उपनिषदो मे जाकर ब्रह्म को भी सत्य एव ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।[3] इस प्रकार भारतीय सस्कृति मे सत्य को असाधारण महत्व देते हुए उसे जीवन मे अधिक से अधिक अपनाने का आग्रह किया गया है । यहाँ 'मुँह मे राम बगल मे छुरी' वाले असत्य एव आडम्बरपूर्ण जीवन को अपनाने की कभी प्रेरणा नही दी गई। यहाँ के धार्मिक ग्रथ, यहाँ के सत एव यहाँ के मनीषी सदैव 'सत्यवद' कहकर सत्य बोलने का ही आग्रह करते रहे और इसी कारण यह भावना भारतीय सस्कृति का एक उत्कृष्ट अग बनी हुई है ।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी इस भावना को अत्यधिक महत्व दिया है । यहाँ पर श्रीकृष्ण तो 'सत्य' के ऐसे पुजारी अकित किये गये है कि उनको कही भी असत्य का पालन करने वाला अथवा असत् प्रवृत्तियो वाला व्यक्ति दिखाई देता, तो वे उसे समाज के लिये घातक समझकर पहले तो समझाते और यदि नही मानता तो तुरत उसे दूर कर देना ही अच्छा समझते ।[4] सत्य मार्ग पर चलने वालो से उन्हे विशेष प्रेम था और जो वे किसी भी प्राणी को असत्य मार्ग का अनुसरणकरते हुए देखते तो तुरत उसे शिक्षा देकर या शासित करके सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते थे । इसी कारण उन्होने कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, कस आदि को शासित किया और इसी कारण जरासध को भी कई बार समझाया था । इतना ही नही साधारण व्यक्तियो मे भी यदि वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अत्यत प्रेम के साथ अपने कार्य कर रहा है, तो उन्हे अतीव आनद होता था और जब वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अपने विशिष्ट गौरवपूर्ण पद की उपेक्षा करता हुआ अपने कार्य को ठीक

---

१ ऋत च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—उपनिषद्

२ तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये—ऋग्वेद

३ सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्मः—उपनिषद्

४. सुधार-चेष्टा बहु-व्यर्थ हो गई, न त्याग तूने कु-प्रवृत्ति को किया ।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा, तुझे बधूँ मै भव-श्रेय-दृष्टि से ।
—प्रियप्रवास १३।७७

ढग से नही करता अथवा असत्य मार्ग पर जा रहा है। तब उन्हे बडी व्यथा होती थी। इसके साथ ही यदि वे किसी व्यक्ति को अपने माता-पिता या गुरुजनो का निरादर करते हुए असत्य मार्ग की ओर उन्मुख होता हुआ देखते, तो वे प्राय खिन्न एव दुखी होकर उस व्यक्ति को शिक्षा-सहित अनेक प्रकार से शासित करते हुए सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया करते थे, जिससे समाज मे असत्य को छोडकर प्राणी सत्य को अपनाने लगे और उनके आचरण मे भी असत्यता न रहे।[1] यही कारण है कि कवि ने श्रीकृष्ण को सत्य का प्रतीक बनाकर यहाँ अकित किया है। यहाँ वे 'सच्चे जी से परम-व्रत के व्रती' बने हुए है[2] और अपने इस व्रत का पालन करते हुए सतत सत्य मार्ग पर बढते हुए चित्रित किये गये है। यही बात राधा के जीवन मे भी दिखाई गई है। वह भी कृष्ण के सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली ऋत की प्रतिमा है। उसके हृदय मे भी निष्काम भाव से छल-प्रपच छोडकर अपनी ब्रजभूमि के प्रति सच्चा स्नेह जाग्रत हो जाता है और वह भी सदय-हृदय होकर कृष्ण के बताये हुए सत्य मार्ग पर सदैव बढती रहती है। निस्सदेह ऐसे 'सच्चे स्नेही' भारतीय सस्कृति की अमूल्य निधि हैं और ऐसे सत्य का उद्‌घाटन करके कवि ने इस सस्कृति की एक प्रमुख विशेषता को काव्य के ताने-बाने मे ऐसा चित्रित किया है, जिससे भारतीय सस्कृति की यह विशेषता मूर्तिमान हो उठी है।

अस्तेय—मानव जीवन को उन्नत बनाने वाली तीसरी महत्वपूर्ण विचार-धारा 'अस्तेय' के नाम से पुकारी गई है। 'अस्तेय' शब्द 'अ' और 'स्तेय' से बना है। अपना जो कुछ है उससे सतुष्ट न होकर दूसरे के पास जो कुछ है, उसे हर तरह से हडप लेने की प्रवृत्ति 'स्तेय' या 'चोरी' कहलाती है और ठीक इसके

---

१. होते प्रसन्न यदि वे यह देखते थे।
कोई स्वकृत्य करता अति प्रीति से है।
यों ही विशिष्ट-पद-गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उनके चित को व्यथा थी।
माता पिता गुरुजनों वय में बड़ों को।
होते निराद्रित कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो दुखित हो लघु को सुतों को।
शिक्षा-समेत बहुधा बहु-शास्ति देते।
—प्रियप्रवास १२।८४-८५

२. प्रियप्रवास १४।२३

विपरीत दूसरे की वस्तु को बलपूर्वक न हड़पकर जो अपनी वस्तु है उसे भी दूसरो की उपयोगी कैसे बनाया जाय, अपनी आवश्यकताओ को घटाकर किसी तरह की फिजूलखर्ची मे न फँसते हुए दूसरो के कल्याण का उपाय सोचना 'अस्तेय' है। भारतीय सस्कृति मे इसे अत्यधिक महत्व दिया गया है। बौद्धो ने अपने पचशील मे, जैनो ने अपने नियमो मे और मनुस्मृति मे भी यम-नियमो मे इसे स्थान दिया गया है। साधारण शब्दो मे सभी प्रकार की चोरी के त्याग को अस्तेय कह सकते है। मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह काम-चोर बनकर अकर्मण्यता की ओर बढना अच्छा समझता है, धन-चोर होकर दूसरो के धन को अच्छे और बुरे सभी ढगो से अपने पास सचित करना चाहता है और व्यवहार-चोर होकर मन मे कुछ और आचरण मे कुछ और ही किया करता है। इस तरह क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति और क्या अन्य क्षेत्र सर्वत्र चोरी का वातावरण फैल रहा है। इसी कारण भारतीय सस्कृति मे इस वातावरण को शुद्ध करने के लिए, मानव को ऊपर उठाने के लिए और समाज मे सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए इस 'अस्तेय' की भावना का प्रचार किया गया है।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे इस 'अस्तेय' सम्बन्धी विशेषता की ओर भी सकेत किया है। यहाँ कवि ने कस जैसे पापी, दुराचारी एवं क्रूर शासक तथा उसके सहायको का वर्णन करते हुए पहले 'स्तेय' वाले अथवा समाज एव देश मे सभी प्रकार की चोरी करने वाले व्यक्तियो की ओर सकेत किया है, क्योकि ये सभी प्राणी धन, जन, धान्य आदि की चोरी करके अपने कोष को भरने के प्रयत्न मे ही सदैव लगे रहते थे और समाज को उत्पीडित करते हुए ब्रज के प्राणियो का हर तरह से शोषण किया करते थे। कही कालीनाग सताता था, तो कही केशी तग करता रहता था। कही व्योमासुर बैलो, गायो या बछडो की चोरी किया करता था,[1] तो कही अघासुर आदि उपद्रव मचाया करते थे। इस तरह सम्पूर्ण ब्रजभूमि मे प्रवचना, छल-कपट एव धूर्त्तता के साथ छीना-झपटी चल रही थी। ऐसे दूषित वातावरण को ठीक करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अपना सर्वस्व ब्रज के लिये न्यौछावर कर दिया, समाज के इन चोरो को समाप्त करके ब्रज मे सुख और शान्ति की स्थापना की और आत्मोत्सर्ग करते हुए इस 'अस्तेय' का पूर्णरूपेण पालन करके दिखा

---

१. **कभी चुराता वृष-वत्स-धेनु था।**
कभी उन्हें था जल-बीच बोरता। १३।७०

दिया। उनके आचरणो, उनके शुभकार्यो एव उनके व्यवहारो ने 'प्रियप्रवास' मे यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन का आधारभूत तत्व छीना-झपटी नही, लेना-देना है, अनधिकार चेष्टा नही, अपने अधिकार का परिपालन है, विषमता नही, समता है और स्तेय नही, अपितु अस्तेय है। इसी कारण राधा के पास सदेश भेजते हुए श्रीकृष्ण ने सुख और योग की लालसाओ की अपेक्षा जगत-हित को महत्व दिया है, आत्मार्थी की अपेक्षा आत्मत्यागी को महत्व दिया है, अपनी सेवा की अपेक्षा प्राणी-सेवा को श्रेयस्कर बताया है, आत्म-सुख की अपेक्षा विश्व-सुख को महान् कहा है और स्वार्थोपरत रहने की अपेक्षा सर्वभूतोपकारी जीवन को अधिक महत्वशाली सिद्ध किया है।[1] अतः कवि ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की 'अस्तेय' नामक विचारधारा को भी अत्यधिक महत्व देने की सुन्दर चेष्टा की है।

ब्रह्मचर्य—जीवन की सम्यक् अभिवृद्धि के लिये भारतीय सस्कृति मे जो चौथी विचारधारा प्रवाहित है, उसे 'ब्रह्मचर्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मचर्य का सीधा-साधा अर्थ तो यह है कि सयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इसका एक और भी अर्थ किया करते है। उनके मत से ब्रह्म का अर्थ है बडा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चरगतिभक्षणयो' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चलना, अतएव ब्रह्म होने के लिये, क्षुद्र से महान् होने के लिये, विषयो के छोटे-छोटे रूपो से निकलकर आत्मतत्व के विराट् रूप मे अपने को अनुभव करने के लिये चल पड़ना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।[2] इस तरह ब्रह्मचर्य के दो अर्थ प्रचलित है। कुछ भी हो 'ब्रह्मचर्य' का पालन करना भारत मे अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अपने मन, अत.करण एव इद्रियो पर सयम करने से ही ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। यहाँ जीवन के चतुर्वर्गो मे तो ब्रह्मचर्य को सर्वप्रथम महत्व दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आरम्भिक काल में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञानोपार्जन करना चाहिए। इसके अनतर भी यम-नियमो मे उसका समावेश होने के कारण यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य अर्थात् इद्रिय-सयम की शेष जीवन के लिये भी कितनी आवश्यकता है। इसी कारण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले व्यक्ति यहाँ सर्वाधिक पूज्य, महान् एव

---

१. 'प्रियप्रवास' १६।४१-४६

२. आर्य-सस्कृति के मूल तत्व, पृ० २३४

श्रेष्ठ माने गये हैं, जिनमे से परशुराम, हनुमान, भीष्म पितामह, महात्मा गौतम, स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ आदि प्रसिद्ध है ।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे ब्रह्मचर्य की उक्त दोनो विशेषताओ को श्रीकृष्ण एव राधा के जीवन मे पूर्णरूपेण चरितार्थ होते हुए अकित किया है । यहाँ श्रीकृष्ण और राधा इन्द्रिय-सयम को तो आरम्भ से ही अपनाते हुए अकित किये गये है और दोनो को अत तक इस सयम की साकार मूर्ति के रूप मे देखा जा सकता है । विषय-भोगो के प्रति दोनो ही अत्यत उपेक्षा रखते है और राधा तो कौमर्य-व्रत धारण करते हुए ही अपना सारा जीवन व्यतीत करती है । दूसरे, लघु से महान् अथवा विषयो के छोटे-छोटे रूपो से निकल कर आत्म तत्व के विराट् रूप मे अपने को अनुभव करते हुए भी हम यहाँ दोनो—राधा और श्रीकृष्ण को देख सकते है । श्रीकृष्ण तो स्पष्ट ही यहाँ साधारण गोकुल ग्राम के अहीर-पुत्र से विश्वात्मा या विश्वनियता के पद को प्राप्त करते हुए चित्रित किये गये है ।[1] साथ ही राधा भी एक साधारण व्रज-बाला से ऊपर उठती हुई अपने महान् कार्यो एव उदात्त चरित्र के द्वारा ब्रज की आराध्या देवी बन जाती है ।[2] इस तरह कवि ने ब्रह्मचर्य के दोनो रूपो को चित्रित करते हुए भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को अच्छी तरह अकित किया है और 'कौमार व्रत निरत बालिकाओ' द्वारा ब्रज मे शान्ति के विस्तार की बात कहकर[3] कवि ने यह स्पष्ट घोषणा भी की है कि ब्रह्मचर्य की भावना को अपनाकर कार्य करने से विश्व मे शान्ति का भी प्रसार होता है ।

अपरिग्रह—भारतीय सस्कृति त्याग-प्रधान है। यहाँ भोगो की अपेक्षा त्याग को, प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति को, ग्रहण की अपेक्षा दान को और सग्रह की अपेक्षा अपरिग्रह को महत्व दिया गया है । यही कारण है कि यहाँ आत्म-तत्व का यह नियम बना हुआ है कि 'भोगो और भोगकर हट जाओ' । इसी

---

१ व्यापी है विश्व प्रियतम मे विश्व में प्राण प्यारा ।
यों ही मैंने जगतपति को श्याम में है विलोका । १६।११२

२ आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं ।१७।५०

३. जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकायें अनेकों ।
वे भी पा के समय ब्रज में शान्ति विस्तारती थीं । १७।५१

को यहाँ अपरिग्रह कहा गया है ।[1] भारतीय सस्कृति कभी भोग को बुरा नही कहती, वरन् भोगो मे लिप्त रहने को बुरा मानती है । इसी कारण तो यहाँ ईशोपनिषद् मे कहा गया है कि "यह जो कुछ स्थावर-जगम स्वरूप ससार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है, उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर"[2] इसमे स्पष्ट ही अपरिग्रह त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने की ओर सकेत किया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इस त्याग की महिमा का बडा विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है । वहाँ पर त्याग को भी तीन प्रकार का बताया गया है—सात्विक त्याग, राजस त्याग और तामस त्याग । इनमे से 'अमुक कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा समझकर ही जो शास्त्र-विधि से नियत कर्म आसक्ति एव फल को त्यागकर किया जाता है, वह सात्विक त्याग माना गया है। दूसरे, जो कुछ कर्म है, वे सब दु ख रूप है, ऐसा समझकर जो मनुष्य शारीरिक क्लेश के भयसे कर्मो का परित्याग कर देता है, उसका यह त्याग राजस त्याग कहलाता है । तीसरे, जो मनुष्य अपने नियत कर्मों का मोह के कारण त्याग कर देता है, उसका वह त्याग तामस त्याग कहलाता है। इन तीनो प्रकार के त्यागो का उल्लेख करते हुए यह भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों का उल्लेख करते हुए भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों के त्याग को त्याग नही कहना चाहिए और न केवल सब कर्मों के फल के त्याग करने को ही त्याग कहना चाहिए । परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यज्ञ, दान और तप तो त्यागने के योग्य है ही नही । इन्हे तो सदैव करना चाहिए, परन्तु इनको करते समय सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म की आसक्ति और उनके फलो को त्याग करना ही सबसे बडा त्याग है । इसलिये संसार मे सबसे बडा त्यागी वह है, जो अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नही करता और कल्याणकारक कार्यों मे आसक्त नही होता तथा शुद्ध गुणयुक्त एव सशय-रहित रहता है और कभी कर्म-फल की अभिलाषा नही करता। इस तरह गीता मे आसक्ति एव फल को त्याग कर नियत कर्म करने की प्रेरणा दी गई है और अपने नियत कर्म मे आसक्ति का न होना तथा फल की इच्छा न रखने को ही सबसे बडा त्याग बतलाया गया है ।[3] यही त्याग भारतीय सस्कृति का अपरिग्रह है ।

---

१ आर्यसस्कृति के मूल-तत्व, पृ० २४१

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध. कस्यस्विद्धनम् ॥ १।१

३. श्रीमद्भगवद्गीता ८।२-१२

प्रमुखता देती चली आई है। इसी कारण इस सस्कृति को आध्यात्मिकता-प्रधान कहा जाता है। इसके इस अध्यात्मवाद का श्रीगणेश वेदो मे ही मिल जाता है। ब्राह्मण-युग मे आकर यह अध्यात्मवाद कुछ क्षीण होगया था। परन्तु उपनिषदो मे आकर यह पुनः सजीव एव सक्षम हो उठा तथा भारतीय जन पुनः मन को बाह्यजगत् से हटाकर अन्तर्जगत् की ओर लगाने लगे। उपनिषद्-विद्या तो आध्यात्मिकता का अखड भडार है, वहाँ प्राणियो को भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी गई है और वे उपाय भी बताए गये है, जिनके द्वारा एक सासारिक जीव ससार की अन्तरात्मा को समझकर उससे तादात्म्य स्थापित करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उपनिषदो मे प्राय· इसी बात को विविध विधियो से समझाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य किस तरह भौतिकता के जटिल बंधनो से मुक्त होकर चिदानद को प्राप्त कर सकता है तथा वह असत् से सत् की ओर, अधकार से ज्योति की ओर एव मृत्यु से अमरता की ओर अग्रसर हो सकता है।[1] वही पर यह समझाया गया है कि सम्पूर्ण सुख और दु खो का भोक्ता यह आत्मा ही है। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति एव तृतीय नामक चारो अवस्थाये एव वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ एव ईश्वर नामक चारो रूप इसी आत्मा के हैं। यह आत्मा ही अपने स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि शारीरो मे विद्यमान रहता है और यह आत्मा ही शुद्ध-बुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।[2] इसी से जीवधारी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर इसी मे जीवित रहते है और मरने पर इसी मे लीन हो जाते है।[3] यह आत्मा ही समस्त भूतों का अधिपति है, सबका राजा है, इसी मे जीव, लोक, देव, प्राण आदि सबका समावेश होजाता है, यही आनदमय ब्रह्म है और इसी मे प्रत्येक जीवात्मा लीन होना चाहता है।[4]

यहाँ पर भौतिकता को कभी महत्व नही दिया गया। भौतिकवादी तो केवल यह चाहते है कि हम प्रकृति पर विजय पाकर भौतिक उन्नति करते हुए ही सुख और आनंद प्राप्त करने की चेष्टा करे। जैसे पहले बैलगाडी चलती थी, अब मोटर एव वायुयान बना लिये। पहले मिट्टी का दीपक जलता था, फिर मिट्टी के तेल को जलाने की पद्धति निकाली अब और अधिक उन्नति

---

१. वृहदारण्यक उपनिषद् १।३।२७
२. वेदान्त-सार, पृ० २-११
३. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१
४. वृहदारण्यकउपनिषद् २।५।१५

करके बिजली का आविष्कार कर लिया। इस तरह भौतिक पदार्थो का आविष्कार करके उत्तरोत्तर सुख पाने की चेष्टाये करना भौतिकवादियो की उन्नति और आध्यात्मिक विचारो वाली प्रकृति पर विजय प्राप्त पाने की अपेक्षा आत्मा पर विजय पाना अधिक श्रेयस्कर मानते है। उनका विचार है कि आज का मानव इसलिये सतप्त है, इसलिये सुख एव आनद प्राप्त नही कर रहा है कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मे लीन है, इन मनोवेगो पर अपना अधिकार नही कर सका है और आत्मा के बल को न पहँचानकर इधर-इधर भटक रहा है। अत भारतीय सस्कृति मे समस्त मनोविकारो पर नियंत्रण करके योग अथवा सयम द्वारा आत्मा पर नियत्रण करना, उस आत्मा की शक्ति को पहँचानना अथवा उस आत्मिक शक्ति के रहस्य को जानकर उसका उपयोग करना ही मानव की सबसे बड़ी विजय मानी गई है और इसी के लिए वैदिक युग से लेकर आज तक प्रयत्न भी हुए हैं।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे इसी आध्यात्मिकता के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। यहाँ पर हरिऔधजी ने अन्य कृष्ण-भक्त कवियो की भाँति ज्ञान के शुष्क विषय अथवा योग-साधन का खडन करने के उद्देश्य से उद्धव के मुख से योग की प्रशसा नही करायी है, अपितु उन्होने एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन की ओर सकेत किया है, जिससे ससार के सभी प्राणी अपने मनोविकारो पर विजय प्राप्त करके सुख एवं आनद को सहज ही उपलब्ध कर सकते है। आपने बताया है कि यह बात ठीक है कि भ्रमित चित्त को पहले योग द्वारा सम्हालना चाहिए, परन्तु इसके लिए सुदर साधना है 'विश्वप्रेम अथवा 'लोकहित', क्योकि इसमे लीन होने से सम्पूर्ण स्वार्थ, मोह, वासना आदि समाप्त हो जाती है और एक अनुपम शान्ति मिलती है।[1] यहाँ श्रीकृष्ण ने भी तो पृथ्वी के समस्त प्राणियो की भलाई का व्रत लेकर अपने समस्त स्वार्थों एव विपुल-सुखो को तुच्छ बना डाला है और लोक-सेवा के लिये लिप्साओ से भरी हुई हृदय की सैकडो लालसाओ को योगियो की भाँति दमन कर लिया है।[2] इसी तरह राधा को भी हरिऔधजी ने 'विश्व-प्रेम' एव 'लोकहित' के साधन को अपनाते हुए अपने समस्त भौतिक सुखो, सम्पूर्ण मनोविकारो एव आत्मा पर विजय प्राप्त करते हुए अकित किया है, जिससे वह श्रीकृष्ण के ही रूप को सभी प्राणियो मे व्याप्त देखती है और उनकी

---

१. प्रियप्रवास, १४।३९
२. वही १४।२१-२२

हृदय से सेवा-सुश्रूषा करती हुई तथा उनको सभी तरह से धैर्य एव सात्वना प्रदान करती हुई मानवी से देवी बन जाती है। उस प्रेम-योगिनी का जीवन संयम एव योग की साकार मूर्ति बन जाता है, क्योकि उसके हृदय मे निष्काम भाव से प्राणि मात्र के हित की भावना जग जाती है, वह विश्वात्मा मे लीन हो जाती है और सर्वत्र उसी की महिमा देखती हुई ससार से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित करती हुई स्वयं दु ख-सुख से मुक्त होकर प्राणियो को भी पार्थिव दु ख-सुख से मुक्त करती हुई ब्रज मे आनद एव शान्ति का प्रचार करती है। इतना ही नही इस आध्यात्मिक जीवन को व्यतीत करने के लिए ही हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे लोक-हित एव विश्व-प्रेम के साथ-साथ सात्विक प्रवृत्ति को अपनाने के लिए आग्रह किया है, स्वार्थ को छोडकर निष्काम भाव आत्मोत्सर्ग की सलाह दी है सर्वत्र एक विश्वात्मा के दर्शन की प्रेरणा प्रदान की है, विश्व मे व्याप्त प्रकृति के अनन्य सौन्दर्य की झाँकी देखने का अनुरोध किया है और नवधा भक्ति द्वारा निष्काम भाव से ससार की सेवा करने पर जोर दिया है।[1]

नवधा-भक्ति—भक्ति का उद्देश्य है अपने इष्ट देव की उपासना, उसके गुणगान, भजन, कीर्तन आदि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना। सर्वप्रथम वैदिक युग मे इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि की उपासना, अर्चना एव उनको यज्ञो द्वारा प्रसन्न करने की प्रथा की ओर सकेत ऋग्वेद मे विद्यमान है। तदनन्तर यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से तीन इष्ट देवो की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। इनमे से ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, विष्णु सृष्टि के पालक और महेश सृष्टि के सहारक माने गये। यद्यपि इन देवो का उल्लेख पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए किया गया है, फिर भी ये तीनो एक हा महान् शक्ति के तीन अग माने जाते है। आगे चलकर इन तीन देवो के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओ को भी इष्ट देव मानने की प्रथा चली और बहुत से सम्प्रदाय चल निकले। इन सम्प्रदायो का ही यह प्रभाव है कि यहाँ अठारह पुराणो एव अठारह उपपुराणो मे विभिन्न देवी-देवताओ की पूजा-अर्चना एव भक्ति के विधान का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान ऐसा समझते है कि भक्ति का प्रादुर्भाव सभवत बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रभाव से हुआ, क्योकि महायान सम्प्रदाय मे बोधिसत्वादि की पूजा, उसके गुणगान, भजन, कीर्तन आदि का विधान मिलता है। भक्ति के इन विधानो की ओर जन साधारण का आकर्षण बढ़ता चला गया

---

१. **प्रियप्रवास १६।६६–११४**

ग्रौर कालान्तर मे बोधिसत्व के स्थान पर विष्णु तथा विष्णु के ग्रन्य ग्रवतारो राम, कृष्ण ग्रादि की, शिव, दुर्गा ग्रादि की भक्ति होने लगी ।[1] परन्तु ऐतिहासिक ग्राधारो पर ग्रनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भक्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम दक्षिणी भारत मे हुग्रा था । वहाँ पर विष्णु ग्रौर शिव की मूर्ति बनाकर उनके प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने की प्रथा ग्रार्य-सस्कृति के भारत मे प्रवेश करने से पूर्व ही प्रचलित थी । विष्णु भक्तो मे ग्रालवारो का नाम ग्रत्यधिक प्रसिद्ध है । इन ग्रालवारों ने विष्णु की स्तुति मे सुदर भक्ति-रस-पूर्ण काव्यो की रचना की । शिव-भक्तो मे नायन्मारो का नाम प्रसिद्ध है । इनके शैव भक्ति सबधी ग्रत्यत सरस एव भावपूर्ण मिलते है । इन नायन्मारो ने तामिल देश मे नवीन स्फूर्ति एव नव-चेतना का सचार किया था । पल्लव राजाग्रो के शासनकाल मे इस भक्ति-सम्प्रदाय का दिव्य उत्कर्ष दिखाई देता है । शैवभक्तो के 'तेवारम्' ग्रौर 'तिरुवाचकम्' तथा वैष्णव भक्तो के 'दिव्यप्रबधकम्' नामक ग्रथ की रचना भी पल्लव-युग मे ही हुई थी । भक्ति सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य 'ग्रागम' के नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रागम साहित्य की रचना मन्दिर-पूजा का विधान ग्रादि समझाने के लिए हुई थी ।[2] वहाँ पर इन ग्रालवारो एव नायन्मारों की परम्परा ईसा की दसवी शताब्दी तक मिलती है । तदनन्तर भक्ति का यह सम्प्रदाय उत्तरी भारत मे विकसित हुग्रा । पहले वैष्णव मत महाराष्ट्र मे पडरपुर के ग्रास-पास केन्द्रीभूत हुग्रा तदनन्तर कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा के ग्रास-पास इन वैष्णव भक्तो की गद्दियाँ स्थापित हुईं । कहावत यह भी प्रचलित है कि भक्ति का प्रादुर्भाव तो दक्षिण मे ही हुग्रा था ग्रौर वहाँ से रामानदजी इसे उत्तरी भारत मे लाये, परन्तु कबीरदास ने उस भक्ति को सात द्वीप ग्रौर नव खडो मे फैलाया ।[3]

यह भक्ति दो रूपो मे विकसित हुई है—निर्गुणभक्ति ग्रौर सगुणभक्ति । निर्गुणभक्ति मे भगवान के निराकार रूप की उपासना की जाती है, उसके ग्रवतार एव मूर्ति का खडन करते हुए उसे सर्वव्यापी कहा जाता है । उनके यहाँ दशरथ के पुत्र राम को ईश्वर का ग्रवतार नही माना जाता, ग्रपितु राम,

---

१. भारतीय संस्कृति, पृ० २३५

२. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० २८३-२८४

३ भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द ।
परगट किया कबीर नें, सप्तद्वीप नवखंड ॥

हरि आदि का स्मरण करते हुए उपासना की जाती है।[1] जबकि सगुणभक्ति मे विष्णु के अवतारो की कल्पना करते हुए उनके राम, कृष्ण आदि रूपो की मूर्तियाँ मदिरो मे स्थापित करके भक्ति की जाती है। इस सगुण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ श्रीमद्भागवत पुराण है। उसमे भक्ति के नौ साधनो का उल्लेख मिलता है, जिन्हे 'नवधाभक्ति' कहा जाता है और जिनके नाम क्रमश. इस प्रकार है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दासता, सखाभाव और आत्मनिवेदन।[2]

हरिऔध जी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे इस नवधा भक्ति का वर्णन किया है और उसे अपने समस्त प्रियजनो एव अपने प्रिय के लिए अत्यत उत्तम साधन बतलाया है। यहाँ पर भी उक्त नौ नामो का उल्लेख किया गया है।[3] परन्तु विशेषता यह है कि इस नवधा-भक्ति के विवेचन मे भागवत की नवधा-भक्ति से पूर्णतया भिन्नता है। भागवत मे तो भगवान की मूर्ति बनाकर उसी की पूजा-अर्चना, उसके ही गुणगान का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करने पर ज़ोर दिया गया है, परन्तु हरिऔध जी इस बात को अच्छा नही समझते कि किसी देवता या प्रभु की एक मूर्ति बनाकर उसी के प्रति भक्ति प्रकट की जाय। उनका दृष्टिकोण कुछ अधिक विशाल एव उदार है। वे तो यह मानते है कि ससार के समस्त प्राणी, नदी, पर्वत, लता, बेले, वृक्ष आदि नाना पदार्थ उस विश्वात्मा के ही रूप है। अतः इन सबके प्रति पूजा-अर्चना के साथ उचित सम्मान एव सेवा का भाव प्रस्तुत करना ही सच्ची भक्ति है। उनके मत से 'श्रवण' नाम की सच्ची भक्ति यह है कि हम आर्त्त एव उत्पीडित, रोगी एव व्यथित प्राणियो की दीन पुकार सुनें तथा लोक-उन्नायको, सच्छास्त्रो एव सत्सगियो के सुन्दर-सुन्दर शब्द श्रवण करे। दूसरी 'कीर्त्तन'

---

१ दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।
—कबीर

२ श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

३ जगत जीवन प्राण स्वरूप का। निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्वप्रिय का प्रिय-साधन भक्ति है। वह अकाम महा-कमनीय है।
श्रवण, कीर्तन, वंदन, दासता। स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना। निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है।
—प्रियप्रवास १६।११४-११५

नामक भक्ति से हरिऔध जी का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे दिव्य एव अनौखे गुणो का गान एव कथन करे, जिससे सोये हुए जाग जाये, अधकार मे पडे हुए व्यक्तियो को प्रकाश मिले, भूले-भटके व्यक्ति सन्मार्ग पर आजाये और उन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो। ऐसे ही 'वदन' नाम की तीसरी भक्ति से कवि का तात्पर्य यह है कि हमे विद्वानो, गुरुजनो, देश-प्रेमियो, ज्ञानियो, दानियो, सच्चरित्रो, गुणियो, तेजस्वियो, आत्मोत्सर्गियो, देवमूर्तियो आदि के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए। चौथी 'दासता' नामक भक्ति से कवि का अर्थ यह है हमे ऐसी बाते करनी चाहिए, जो ससार का कल्याण करने वाली हो एव सभी प्राणियो का उपकार करने वाली हो और ऐसी चेष्टाये करनी चाहिए, जिनसे पतित एव मलिन जातियो का उत्थान हो तथा व्यक्ति हमारी सेवामे सलग्न हो, उनके लिए हमे भी सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। पाँचवी 'स्मरण' नामक भक्ति से उनका भाव यह है कि हमे कगालो, विवश प्राणियो, विधवाओ, अनथाश्रितो एव उद्विग्नो का स्मरण रखना चाहिए और उन्हे त्रास देने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही हमे अच्छे-अच्छे कार्यो को याद करना चाहिए और दूसरो के हृदय की पीडा का ध्यान करना चाहिए। 'आत्मनिवेदन' नामक छठी भक्ति से कवि का अभिप्राय्य यह है कि हमे आपत्ति मे पडे हुए मनुष्यो के दु ख को दूर करने के लिये अपने तन एव प्राणो को भी अर्पित कर देना चाहिए। 'अर्चन' नाम की सातवी भक्ति से कवि का भाव यह है कि हमे भयभीत प्राणियो को शरण, सतप्त व्यक्तियो को शान्ति, निर्बोध व्यक्तियो को सु-मति, पीडितो को विविध औषधियाँ, प्यासो को जल और भूखो को अन्न देना चाहिए। आठवी 'सख्य' नामक भक्ति से कवि का अभिप्राय है कि ससार मे आकाश और पृथ्वी पर जितने भी प्राणी एवं पदार्थ दिखाई देते हैं उन सबका सच्चे हृदय से सुहृद एव सखा होना चाहिए इसी तरह कवि की दृष्टि मे नवी 'पदसेवन' नामक भक्ति यह है कि जो प्राणि-वर्ग अपने कर्मो से सताया जाकर हमारे चरणो मे पडा हुआ है, उसे हमे शरण एवं सम्मान प्रदान करना चाहिए।[1]

इस प्रकार कवि हरिऔध के इस नवधा-भक्ति-विवेचन मे भारतीय सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तो के साथ-साथ आधुनिक युग का प्रभाव भी विद्यमान है। यहाँ कवि ने कोरी मूर्तिपूजा एव भक्ति के प्राचीन आडम्बरो के स्थान पर आधुनिक तार्किक युग की बुद्धि-दृष्टि-सम्पन्न तर्क-सम्मत एव

---

१. प्रियप्रवास १६।११७–१२६

न्याय-सम्मत बाते बतलाई है और समस्त व्यक्तियो को भक्ति सबधी नवीन दृष्टि देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिससे न केवल वैयक्तिक जीवन ही सुधर सकता है, अपितु मामाजिक जीवन मे भी आमूलपरिवर्तन हो सकता है तथा उस विश्वात्मा की सच्ची भक्ति भी हो सकती है। कवि का यह भक्ति-विवेचन भारतीय सास्कृतिक परम्परा का पालन करता हुआ आधुनिक युग के लिये सर्वथा उचित एव ग्राह्य है।

एक ईश्वर मे विश्वास—भारतीय सस्कृति मे विभिन्न देवी-देवताओ के अवतारो की कल्पना की गई है, परन्तु आरम्भ से ही भेद मे अभेद, भिन्नता मे अभिन्नता, पृथक्ता मे एकता स्थापन करने का प्रयत्न रहा है। इसी कारण यहाँ ऋग्वेद मे भी "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" कह कर उस विविध रूप धारी अखिल ब्रह्माड नायक को एक ही बताया गया है। इसी तरह यहाँ पर "सर्वदेवनमस्कार केशव प्रति गच्छति" कहकर यह सकेत किया गया है कि समस्त देवी-देवताओ के प्रति जो नमस्कार प्रस्तुत किया जाता है, वह उस विश्वात्मा को ही पहुँच जाता है। इतना ही नही यहाँ धर्मग्रंथो मे भी उस एक विश्वात्मा का निरूपण करने के लिये उसके सर्वव्यापी रूप की कल्पना की गई है। इसी कारण उसे समस्त भूतो के हृदय मे स्थित आत्मा कहा गया है और सभी का आदि, मध्य एव अत बताया गया है। साथ ही उसे आदित्य, विष्णु, सूर्य, मरुत, वायु, नक्षत्र, सामवेद, इन्द्र, शंकर, कुवेर, अग्नि, सुमेरु, वृहस्पति, स्कद, सागर, ओंकार, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल, उच्चैश्रवा, ऐरावत, कामधेनु, कामदेव, शेषनाग, यमराज, सिंह, गरुड़, गगा आदि कहकर सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त बताया गया है।[1] इस तरह उस सर्वव्यापी विश्वात्मा एव विश्वरूप एक ईश्वर मे विश्वास रखने की ओर भारतीय सस्कृति मे प्रारम्भ से ही प्रयत्न हुए है।

हरिऔध जी ने भी भारतीय सस्कृति की इस विशेषता को 'प्रियप्रवास' मे चित्रित करने का सुन्दर प्रयास किया है और लिखा है कि शास्त्रो मे उस परमपिता परमात्मा को अमित शीश, अमित लोचन एव अनेक हस्त वाला कहा है और बिना हाथ, मुख, नेत्र एव नासिका आदि के भी छूता हुआ, खाता हुआ, श्रवण करता हुआ, देखता और सूंघता हुआ बताया है। इसका रहस्य यह है कि जगत मे जितने प्राणी दिखलाई देते है, वे सभी उस अखिलेश की मूर्तियाँ है। इसी कारण वह अनेक आँख, हाथ, पाँव आदि से युक्त है और

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।२०–४२

इन प्राणियो की आत्मा मे स्थित होने के कारण इनकी इन्द्रियो से ही वह छूने, सूँघने, खाने आदि की क्रियाये नित्य करता रहता है। इतना ही नही वह तारे, चन्द्र, सूर्य नाना रत्न, पृथ्वी, पानी, पवन, नभ, पादप, खग आदि मे भी व्याप्त है, ससार की समस्त लीलाये उसी की क्रीडाये हैं और वह सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थो मे व्याप्त होकर विश्वात्मा के रूप मे स्थित है।[१] इस तरह हरिऔध जी ने भी ईश्वर की एकता, उसकी सर्वव्यापकता एव उसकी प्रभुता का वर्णन करते हुए एक ईश्वर मे विश्वास रखने का अत्यत सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है, जो कि पूर्णतया भारतीय सस्कृति के अनुकूल है।

नारी का महत्व—भारतीय सस्कृति मे नारी को अत्यधिक महत्व दिया गया है। और यहाँ तक कहा गया है कि 'जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते है।'[२] यह नारी मानव के जीवन मे कई रूपो मे सहायता प्रदान करती है। उसके माता, पत्नी, बहिन, पुत्री आदि रूप प्रमुख है। माता के रूप मे वह अपने त्याग, प्रेम, दुलार एव स्नेह की सरिता बहाती हुई सतान पर वात्सल्य की वर्षा करती रहती है। वह सेवा की तो साकार मूर्ति है, क्योकि वह अपने ही लिये जीवन धारणा नही करती, अपितु अपनी सतान एव अपने परिवार के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करती रहती है। पत्नी रूप मे उसकी महाभारत के अतर्गत अत्यधिक प्रशसा की गई है। उसे पुरुष की आत्मा का आधा भाग कहा गया है और पत्नी की प्राप्ति के बिना पुरुष को अपूर्ण ही बतलाया गया है। उसे पुरुष का श्रेष्ठतम मित्र कहा गया है, उसे त्रिवर्ग की मूल बताया गया है और सम्पूर्ण परिवार का उद्धार करने वाली माना है।[३] इतना ही नही पत्नी रूप मे नारी को पुरुष के सम्पूर्ण दुखो की एकमात्र औषधि बताया गया है।[४] नारी के उक्त दो रूप ही सर्वश्रेष्ठ माने गये है। वह एक आदर्श-माता एव आदर्श-पत्नी या सहचरी

---

१ प्रियप्रवास १६।१०७–११०

२. 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'।

३ अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत।
—महाभारत, आदिपर्व ७४।४१

४ न च भार्या समं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदु:खेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
—महाभारत, आदिपर्व ७४।४५

बनकर अपना गौरव प्रदर्शित करती हुई मानव के जीवन को समुद्र बनाने का कार्य करती है। नारी के इसी महत्व को प्रदर्शित करते हुए महाकवि कालिदास ने अज के विलाप के अवसर पर उनकी पत्नी के बारे मे अज के मुख से कहलवाया था—"तुम गृहिणी, सचिव, सखी और ललित कला सीखने मे मेरी प्रिय शिष्य थी। निर्दय भाग्य ने तुम्हे मुझसे छीनकर मेरा क्या नही छीन लिया अर्थात् सर्वस्व छीन लिया है।[1] इस तरह नारी पतिव्रता होकर पुरुष को, वात्सल्यमयी होकर पुत्र को, स[illegible]विका होकर सारे समाज को अन्याय रीति से अपनी सेवाये प्रदान करती रहती है। प्राचीन काल मे कौशल्या, तारा, मदोदरी, सीता, द्रौपदी, अनुसूया आदि कितनी ही नारियाँ ऐसी हो गई है, जिहोने गृहिणी-पद का सम्यक् निर्वाह करते हुए समाज मे गौरव प्राप्त किया था और जिनका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ उनके आदर्श की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है और समाज मे नारी के महत्व को अत्यधिक स्वीकार किया गया है।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे नारी के गौरवपूर्ण चित्र अकित किये है। यहाँ यशोदा एक आदर्श-माता के रूप मे, राधा एक आदर्श पत्नी के रूप मे और गोपियाँ आदर्श सहचरी के रूप मे अकित है। माता के वात्सल्य एव उसकी अनुपम ममता की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए इसी कारण कवि ने लिखा है :—

(१) ऊधो माता-सदृश्य ममता अन्य की है न होती।"१०।२६

(२) माता की सी अवनितल मे है अ-माता न होती॥ १०।२७

यही बात पत्नी रूप मे अकित राधा के बारे मे है। राधा भी आदर्श का पालन करती हुई प्रणय की साकार प्रतिमा के रूप मे यहाँ चित्रित है। वह अत्यन्त शान्त, धीर, मधुर हृदया, प्रेम-रूपा, रसज्ञा, मोहमग्ना तथा प्रणय की प्रतिमा बनी हुई है। उसके हृदय मे प्रिय कृष्ण के लिए अटूट श्रद्धा एव विश्वास भरा हुआ है और वह कृष्ण के विश्व-प्रेम एव लोक-हित की भावना से ओत-प्रोत होकर ससार की सम्पूर्ण लालसाओ, वासनाओ एव कामनाओ को छोड़कर ब्रज की सेवा मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है। इसी कारण कवि ने उसे 'ब्रज की आराध्य देवी' कहकर अत्यन्त आदर एव प्रतिष्ठा प्रदान की है और उसकी प्रशसा करते हुये नारी के गौरव एव उसकी प्रतिष्ठा को महत्व प्रदान किया है। 'प्रियप्रवास' का सप्तदश सर्ग तो नारी के गौरव का

---

१. **रघुवंश ८।६७**

ही सर्ग है, उसमें नारी को समाज सेविका, लोक-हितैषिणी, विश्व-प्रेमिका आर्त्त-जनो की उद्धारक, सम्पूर्ण चिन्ताओ को हरने वाली, शान्ति प्रदायिनी, दयामूर्ति, मगलकारिणी आदि अनेक रूपो मे चित्रित किया है।[१] यहाँ पर चित्रित नारी की सेवा भावना, उसकी उदारता, उसका पावन प्रेम, उसके भूत-सम्बर्द्धन के प्रयत्न एव सर्वत्र शान्ति स्थापना-सबधी कार्य भारतीय सस्कृति मे अकित नारी के उज्ज्वल एव [illegible]ष्ट रूप के परिचायक है और हरिऔधजी ने उन्हे इस तरह काव्य[illegible] करके अकित किया है कि जिससे नारी के महत्व के साथ-साथ भारतीय सस्कृति का उत्कृष्ट रूप भी पाठको के सम्मुख स्पष्ट हो गया है।

अस्पृश्यता की भावना—भारतीय सस्कृति अत्यत उदारता एव महानता से भरी हुई है यहाँ चारो वर्णो की स्थापना समाज का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये ही हुई थी और सभी को समानता का अधिकार दिया गया था। परन्तु कालान्तर मे समाज के अंदर शूद्र वर्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराने की भावना जाग्रत हुई, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अपनी ही जाति के प्राणी अपने से भिन्न होने लगे, उनमे ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हुए और वे अन्य धर्म एव अन्य जातियो मे सम्मिलित होने लगे। इसका मूल कारण यह बताया जाता था कि हमारे धर्म-शास्त्रो मे ही शूद्रो को त्याज्य एव अस्पृश्य कहकर हीन एव हेय बताया गया है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण ने शूद्रो को भी यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया गया है।[२] गौतम धर्म सूत्र मे तो शूद्र के लिए सत्य, अक्रोध, शौच और श्राद्ध कर्म भी बताये गये है।[3] कुछ आचार्यो के अनुसार वे पाकयज्ञ के भी अधिकारी है। महाभारत मे इसी कारण लिखा है कि शूद्र जनेऊ धारण करके पाकयज्ञ कर सकता है।[४] विष्णु स्मृति मे शूद्र व्यापारियो का भी उल्लेख मिलता है।[५] मनुस्मृति मे शूद्र के लिए दासकर्म एव शिल्पवृत्ति का भी विधान मिलता है।[६] हमारे यहाँ

---

१ प्रियप्रवास १७।२९–५२
२ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।४।८
३. गौतम धर्मसूत्र २।१, ५।४
४. महाभारत, शान्तिपर्व, ५०।४०
५. विष्णुस्मृति २।१४
६. मनुस्मृति १।९१, १०।२०

बहुत से शूद्र जाति के व्यक्तियो को अत्यत आदर एंव सम्मान भी दिया गया है और वे बडे विद्वान भी हुए है, जिनमे से बाल्मीकि मुनि, कबीर, नामादास, रैदास, नामदेव, आदि प्रसिद्ध है। इतना ही नही यहाँ पर छूआछूत एव अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी बराबर प्रयत्न होते रहे है। इस दूषित भावना को दूर करने के लिए यहाँ सभी सन्तो एव महात्माओ ने प्रयत्न किये है, जिनमे से कबीर, तुलसी, दादू, मीरा आदि प्रसिद्ध है। रामकृष्ण परमहस, विवेकानद, महात्मा गाधी आदि ने भी इसे दूर करने का बराबर प्रयत्न किया है। गाधी जी ने तो अस्पृश्य लोगो को 'हरिजन' कहना ही प्रारम्भ कर दिया था और उनके निवास-स्थानो पर स्वय रहकर उनके अदर शुद्धता, सात्विकता, सौजन्य एव सहृदयता आदि का प्रचार करके उन्हे अपनाने का प्रयत्न किया था।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे इस अस्पृश्यता को दूर करने के लिए स्पष्ट लिखा है तथा 'दासता' नाम की भक्ति का महत्व प्रदर्शित करते हुए बताया है कि हमे सदैव गिरी हुई जातियो को उठाने का प्रयत्न करना चाहिये और जो लोग हमारी सेवा करते है उनके लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारी ये ही चेष्टाये एव ऐसे ही प्रयत्न सच्ची 'दासता' नाम की भक्ति के अतर्गत आते है।[1] इतना ही नही 'सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ है उसी की' कहकर कवि ने छूआ-छूत या ऊँच-नीच की भावना को तुच्छ कहकर सभी को एक विश्वात्मा की मूर्ति कहा है और पारस्परिक भेदभाव को छोडकर अस्पृश्यता-निवारण पर जोर दिया है। साथ ही श्रीकृष्ण के द्वारा समस्त प्राणियो की अपने हाथ से ही सेवा कराके कवि ने यह सकेत किया है कि समाज मे कोई छोटा या कोई बडा अथवा कोई स्पृश्य एव कोई अस्पृश्य नही है। सभी समान है। सभी के प्रति प्रेम, सहानुभूति, उदारता आदि होनी चाहिये और किसी को भी तुच्छ समझकर कभी ठुकराना नही चाहिए। इसी कारण तो उनके कृष्ण 'प्रियप्रवास' मे सभी की सेवा अपने हाथ से करते है और कोई भी घर ऐसा नही दिखाई देता, जहाँ यदि कोई

---

१ **जो बातें हैं भव हितकरी सर्व-भूतोपकारी।**
जो चेष्टायें मलिन गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भव सुखदा दासता-सज्ञका है। १६।१२१

भी प्राणी दुःखी हो तो कृष्ण वहाँ न पहुँचे ।[१] इस प्रकार हरिऔधजी ने समाज मे एकता एवं समानता लाने के लिए अस्पृश्यता को दूर करने की ओर सकेत किया है और देश को इस भयानक रोग से बचने की सलाह दी है ।

प्रकृति-प्रेम—भारतीय सस्कृति का विकास ही प्रकृति की सुरम्य गोदी मे हुआ है । इसी कारण यहाँ का मानव आदिकाल से ही प्रकृति का अनन्य भक्त बना हुआ है । इसके लिए यहाँ का साहित्य साक्षी है, क्योकि ऋग्वेद से लेकर आज तक यहाँ के काव्यो मे सर्वाधिक महत्व प्रकृति की मनोरम छटा को ही प्राप्त हुआ है । कवियो ने उषा, सध्या, दिवस-श्री, रजनी, सूर्य, चन्द्र, तरुलता, ऋतुये, हरे भरे मैदान, नदी, सरोवर, पर्वत आदि के जितने रमणीक एव भव्य चित्र अपने-अपने काव्यो मे अकित किए है, उतने अन्य किसी के नही किये । प्रकृति-प्रेम की बहुलता का ही यह परिणाम है कि यहाँ के महाकाव्यो की यह एक विशेषता बन गई है कि उनमे षट् ऋतुओ, संध्या, रजनी आदि के भव्यचित्र होने चाहिए । यह प्रकृति यहाँ के जीवन मे इतनी व्याप्त है कि मानव एक क्षण भी उससे पृथक् नही रह सकता । इस प्रकृति-प्रेम को हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे पर्याप्त स्थान दिया है । यहाँ पर उनके चरित्र-नायक श्रीकृष्ण ने तो अपना अधिकाश ब्रज का जीवन प्रकृति की रमणीक गोद मे ही व्यतीत किया है । श्रीकृष्ण जब कभी विपिन मे अपने साथियो के साथ विहार किया करते थे, तब यमुना के वारि-विलास, गोवर्द्धन पर्वत की सुरम्य छटा, निर्झरो का कल-कल गान, कुजो की मजुल छटा आदि देखते हुए आनन्द-विभोर हो जाते थे तथा कदम्ब की किसी शाखा पर बैठकर अपनी मधुर बशी बजाया करते थे । वे वनस्थली मे उत्पन्न सुन्दर जडी-बूटियो को बड़े ध्यान से देखा करते थे और उनके रहस्य को अपने साथियो को समझाया करते थे । उनकी दृष्टि मे एक तिनका भी व्यर्थ न था । वे एक-एक पत्ते एवं एक-एक तिनके को भी सार्थक समझते थे और उनकी दृष्टि मे धूल का एक कण भी निरर्थक न था ।[२] शरद ऋतु की मजुल एव उज्ज्वल चन्द्र-

---

१. रोगी दुखी विपद-आपद मे पड़ो की ।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे ।
ऐसा निकेत ब्रज मे न मुझे दिखाया ।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ।१२।१६७

२ प्रियप्रवास १३।२७-३५

ज्योत्स्ना के अन्तर्गत अपने साथियो सहित विहार करने मे, क्रीडाये करने मे अथवा घूमने मे उन्हे बडा आनन्द आता था। चन्द्रिका मे स्नान किये हुए वन प्रदेश को देखकर उनका मन प्रसन्नता से भर जाता था। उस समय रजनी अलौकिक कौमुदी का वस्त्र तथा तारो के उज्ज्वल गहने पहन कर एक पुरन्ध्री सी बन जाती थी। ऐसे मनोरम वातावरण मे उनके सभी साथी कितने ही दलो मे विभक्त होकर नाच, गान, चिंतन, मनन आदि मे लीन हो जाते थे और श्रीकृष्ण प्रत्येक दल मे जा-जाकर वन-विहार का अनद लेते थे।[1] इस तरह कवि ने अपनी प्रकृति-प्रेम संबधिनी भावना को उत्कट रूप मे प्रस्तुत करते हुए यहाँ संध्या, रजनी, प्रभात, षट् ऋतुओ आदि के रमणीक चित्र अकित किये है तथा अपने चरित्र नायक के प्रकृति-प्रेम द्वारा मानव के हृदय मे स्थित प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण को भी अत्यत भव्य एव चित्ताकर्षक रूप मे प्रस्तुत किया है।

समन्वय की भावना—भारतीय सस्कृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे सदैव समन्वय की भावना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसी कारण इस सस्कृति को समन्वय-प्रधान सस्कृति कहा जाता है। यहाँ के विभिन्न अवतारी पुरुषो, महात्माओ, ऋषियो, सन्तो एव लोक नेताओ ने सदैव समन्वय के प्रयत्न किए है, दोनो अतियो की छोडकर मध्यम मार्ग को अपनाने की सलाह दी है और भिन्न-भिन्न जातियो, आचार-विचारो, साधनाओ, धर्मों, सम्प्रदायो, रीति-रिवाजो आदि के रहते हुए भी उनमे समन्वय स्थापित करने की चेष्टाये की है। हमारे यहाँ बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता मे भी समन्वय की भावना विद्यमान है, तुलसीदास ने भी समन्वय किया है और महात्मा गाधी भी समन्वयकारी थे। यहाँ कभी केवल प्रवृत्ति या केवल निवृत्ति को ही महत्व नही दिया गया यहाँ केवल त्याग या केवल भोग को ही जीवन के लिए आवश्यक नही बतलाया गया, यहाँ केवल ज्ञान या केवल भक्ति को ही जीवन की उन्नति के लिए अभीष्ट नही कहा गया अपितु प्रवृत्ति और निवृत्ति, त्याग और भोग, ज्ञान और भक्ति, भौतिकता एव आध्यात्मिकता आदि मे समन्वय स्थापित किया गया है, अनेकता मे एकता एव भेद मे अभेद देखने की चेष्टा की गई है और यहाँ पर विचारको ने सभी वस्तुओ मे अभिन्नता के साथ एक ही सत्य के दर्शन किये हैं। इसी कारण यहाँ ब्रह्म और संसार जीव

---

१ प्रियप्रवास १४।८८ १४०

और ईश्वर तथा जड और चेतन मे भी समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न हुए हैं।[1]

हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे इस समन्वय की भावना पर बल दिया है। यहाँ कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण का जीवन इस तरह चित्रित किया है, जिसमे त्याग एव भोग और प्रवृत्ति एव निवृत्ति दोनो का सुदर समन्वय मिलता है। गोकुल मे रहते हुए वे गोप एवं गोप-बालाओ के साथ आनद-क्रीडाओ मे मग्न भी दिखाये गये है।[2] तथा अपने जीवन को उत्सर्ग करते हुए अथवा भयकर सकटो मे फँसते हुए त्यागमय जीवन भी व्यतीत करते है।[3] इसीतरह मथुरा मे जाकर राजसी भोगो का उपभोग करते हुए प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी भी दिखाई देते है और निरतर विश्व-प्रेम एव जगत-हित मे लीन रहने के कारण निवृत्ति मार्ग की ओर भी उन्मुख दिखाये गये हैं।[4] इसी तरह कवि ने विरह-विह्वल गोपियो तथा लोकसेवा मे रत राधा का चित्रण करके भोग एव त्याग अथवा प्रवृत्ति एवं निवृत्तिका सुदर समन्वय दिखाने की चेष्टा की है। 'प्रियप्रवास' की राधा तो इस समन्वय भावना की साकार मूर्ति है, क्योकि उसके हृदय मे तो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति अटूट प्रेम विद्यमान रहता है और वैसे वह रात दिन त्याग एव लोकसेवा मे लगी रहती है। इस तरह भक्ति और ज्ञान, कर्म और तपस्या, प्रेम और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि कितनी ही विरोधी भावनाओ का समन्वय राधा के जीवन मे चित्रित किया गया है। साथ ही 'प्रियप्रवास' के कृष्ण और राधा दोनो पात्र ही धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का सुदर समन्वय प्रस्तुत करते हुए अकित किये गये है। इसके अतिरिक्त कवि ने उद्धव के रूप मे भी ज्ञान और भक्ति का समन्वय स्थापित किया है, क्योकि वे ज्ञानी के रूप मे ही गोकुल पधारते हैं और गोकुल मे आकर वहाँ की भक्तिप्राण जनता के प्रेमपूर्ण उद्‌गारो को सुन-सुन-

---

१ श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानंदमय-प्रकाशैकघनस्य एव विधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा ; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नाना वैचित्र्यसहस्रै. स्फुरति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ८

२. प्रियप्रवास, १४।७७-१३८

३. वही ११।२३-२८,११।८४-८५ आदि।

४ वही १४।२२-३१

कर वे भी भक्ति-विभोर हो जाते हैं तथा राधा के चरणो की रज लेकर यहाँ से बिदा होते है।[1] इतना ही नही कवि ने जगत और ब्रह्म दोनो का भी सुदर समन्वय किया है और उस ब्रह्म या विश्वात्मा को जगत के प्रत्येक पदार्थ मे व्याप्त दिखाते हुए तथा समस्त प्राणियो को उसी की मूर्तियाँ, नाना प्रकाशपूर्ण पदार्थो मे उसीका प्रकाश एव पचतत्वो मे उसीकी सत्ता बताते हुए सम्पूर्ण जगत को ही उसका रूप बताया है।[2] कवि के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट ही यह व्यजना हो रही है, कि ससार ब्रह्म का रूप होने के कारण सत्य भी है, परन्तु परिवर्तनशील होने के कारण इसे असत्य भी कहा जाता है। इस तरह कवि ने समन्वय की भावना को अकित करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह दिखाने की चेष्टा की है प्रवृत्ति ही निवृत्ति की ओर लेजाने का साधन है, भोग ही त्याग की ओर उन्मुख करने का साधन है, ससार के भोगो की निस्सारता ही आत्मत्याग, आत्मोत्सर्ग की ओर बढाने की सीढी है। यहाँ कृष्ण और राधा के चरित्र-चित्रण द्वारा कवि ने अपने जिन समन्वय-कारी विचारो को प्रस्तुत किया है उनमे स्पष्ट ही हमे उस अनत, अखड एव स्वच्छद आनद की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है, जिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता और भौतिकता, सत और असत दोनो के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो भारतीय सस्कृति के अतर्गत जीवन का अभीष्ट लक्ष्य कहलाता है।

अत. भारतीय सस्कृति के विभिन्न रूपो का अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की अधिकाश विशेषताओ को अकित करने की सफल चेष्टा की है और अपने चित्रण द्वारा यह दिखाने का सुदर प्रयत्न किया है कि 'प्रियप्रवास' भारतीय सस्कृति के उन मूलभूत सिद्धान्तो पर आधारित है, जिनको अपनाकर न केवल कोई एक देश ही उन्नति कर सकता है, अपितु

---

१ चुप हुई इतना कह मुग्ध हो। ब्रज-विभति-विभूषण-राधिका।
चरण को रज ले हरि-वधु भी। परम-शान्ति समेत विदा हुए।
१६।१३६

२. मैने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें है प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम मे है विलोका।

सम्पूर्ण विश्व उन्नति करता हुआ सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। भारतीय-सस्कृति की उक्त विशेषताये सार्वभौम है, वे जीवन के अखड प्रवाह से सबन्धित है और उनमे मानवता के सभी उदात्त गुण विद्यमान हैं। इसी कारण 'प्रियप्रवास' आधुनिक युग का प्रथम प्रयास होकर भी महाकाव्यो की श्रेणी मे अग्रगण्य है और भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है। इसमे कवि की सबसे बडी सास्कृतिक देन यही है कि त्याग, तपस्या एव सयम के साथ मानव को जगत-हित मे लीन रहना चाहिए तथा वैयक्तिक स्वार्थ को छोडकर परमार्थ या विश्व-कल्याण के कार्यो मे अधिकाधिक अग्रसर होना चाहिए। कवि के इन विचारो को अपनाकर चलने से निस्सदेह मानव मात्र का कल्याण हो सकता है और विश्व की सारी समस्याओ को सुगमता से सुलझाया जा सकता है।

प्रकरण ६

प्रियप्रवास में जीवन-दर्शन

जीवन-दर्शन—'दर्शन' भारतीय-जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। भारतीय मस्तिष्क ने जिस दिन से सोचना-विचारना प्रारम्भ किया, उसी दिन से दर्शन का जन्म हुआ। यहाँ के प्राचीन से प्राचीन वाङ्मय से लेकर आजतक 'दर्शन' अविच्छिन्न रूप से भारतीय साहित्य मे व्याप्त दिखाई देता है। इसी कारण भारत को दार्शनिको का देश कहा जाता है और यहाँ का प्रत्येक मनीषी दार्शनिक कहलाता है। इस दर्शन का भारतीय धर्म से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। धर्म की व्याख्या करते हुए वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने लिखा है कि "जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं।"[1] अभ्युदय से अभिप्राय लौकिक जीवन के विकास से है और नि.श्रेयस से अभिप्राय पारलौकिक उन्नति एव कल्याण से है। इस तरह धर्म के अन्तर्गत हमारे यहाँ ऐसे सिद्धान्तों, तत्वो अथवा जीवन-प्रणाली का स्वरूप समझाया गया है, जिससे समूची मानव-जाति उत्तरोत्तर विकास करती हुई इस लोक मे वैभव एव अभ्युदय को प्राप्त होकर तथा मृत्यु के उपरान्त भी जीवन-मरण अथवा आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्त होकर परम सुख एव परम शान्ति को प्राप्त कर सकती है। इस धर्म के अन्तर्गत जिन-जिन विशेषताओ का समावेश मिलता है, वे सभी विशेषताएँ 'दर्शन' मे भी विद्यमान हैं। 'दर्शन' भी विचारो की ऐसी परम्परा है, जो धर्म के समान मानव को उन्नत एवं श्रेयस्कर बनाती हुई ससार के समस्त बधनो से मुक्त करती है और आत्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार कराती हुई उसे परम सुख एव परमशान्ति प्रदान करती है। 'दर्शन' का मूल उद्देश्य ही यह है कि वह ब्रह्म, जीवात्मा आदि का साक्षात्कार कराता हुआ सासारिक बधनो से मानव को मुक्त करके नि श्रेयस अथवा पारलौकिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है। भारत मे साख्य, योग,

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—वैशेषिक १।१।२

न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा तथा उत्तरमीमासा (वेदान्त) नामक षट्-दर्शन तो प्रसिद्ध ही है। इनके अतिरिक्त बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, शैवदर्शन, शाक्तदर्शन, चार्वाक दर्शन आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो के दर्शनो का भी प्रचार है। परन्तु सबका उद्देश्य मानव-कल्याण के लिये आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म का साक्षात्कार कराना और मानव को सासारिक बधन से मुक्त करके परमसुख एव परमशान्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न करना ही है। इस तरह 'दर्शन' जीवन को समुन्नत बनाने का एक कल्याणमय साधन है।

जब 'दर्शन' जीवन को समुन्नत बनाने का एक साधन है, तब दर्शन और जीवन के अटूट सम्बन्ध का अनायास ही पता चल जाता है। परन्तु 'दर्शन' एक पारिभाषिक शब्द है और इससे किसी विशिष्ट विचार-परम्परा का बोध होता है। फिर कवि का कार्य किसी दर्शन की परम्परा का निर्माण करना अथवा किसी विचार-परम्परा की स्थापना करना नही होता। वह तो दर्शन की किसी मान्य परम्परा का अनुयायी होकर अथवा कुछ सर्वमान्य दार्शनिक विचारो को लेकर अपने काव्य मे उन्हे स्थान देता है। प्रायः कविगण उन दार्शनिक विचारो को ही अपने-अपने काव्यो मे स्थान दिया करते हैं, जिन्हे वे जीवन के लिए अत्यत महत्वपूर्ण समझते हैं अथवा जिनको वे अपने काव्यगत विचारो के सर्वथा अनुकूल समझते है। इसलिये कवि कभी दार्शनिक नही होता और न वह किसी दर्शन की विशिष्ट परम्परा का निर्माता होता है। वह तो जीवन के लिए आवश्यक दार्शनिक विचारो को लेकर केवल अपने चरित्रनायक या अपने सम्पूर्ण काव्य से उनकी सगति मिलाने का कार्य किया करता है। इसीलिये किसी काव्य मे आये हुए कुछ दार्शनिक विचारो को किसी कवि का दर्शन न कहकर कवि का जीवन-दर्शन कहना अधिक समीचीन ज्ञात होता है, क्योकि वहाँ कवि जिन दार्शनिक विचारो को जीवन के लिये अपेक्षित समझता है, उन्ही का उल्लेख करता है। इसीकारण जीवन-दर्शन से हमारा अभिप्राय यह है कि किसी कवि ने मानव-जीवन के लिये किन-किन प्रचलित दार्शनिक विचार-धाराओ को उपयुक्त समझा है और उनको किस तरह मानव-कल्याण के लिये अपने काव्य मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। अतः इस प्रकरण मे हम हरिऔधजी की उन विशिष्ट-विशिष्ट मान्यताओ का ही उल्लेख करेंगे, जिनको उन्होने मानव-जीवन को मगलमय बनाने के लिए उपयुक्त एव अपेक्षित समझा है और जिनका सम्बन्ध किसी न किसी भारतीय दार्शनिक विचार-धारा से है।

ब्रह्म की एकता एव व्यापकता—ब्रह्म या आत्मा एक है। वह सर्वत्र

व्याप्त है। उसे अनेक रूपो मे देखा जाता है और उसके अनेक नाम बताये जाते है। वैसे वह एक ही है और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह ब्रह्म के अश के कम या अधिक रहने से बन गई है, अन्यथा सब कुछ उसी एक ब्रह्म का स्वरूप है। इस बाह्य भिन्नता का कोई अर्थ नही है। जो कुछ भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते है, वे सब उसी ब्रह्म के परिवर्तित रूप है। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है। सर्वत्र वह ब्रह्म ही ब्रह्म है।'[1] ये दार्शनिक विचार भारतीय जीवन मे अत्यधिक व्याप्त हैं। इनमे अद्वैतवाद अथवा अभेदवाद की जिस दार्शनिक परम्परा की ओर सकेत किया गया है, हरिऔधजी भी उससे अत्यधिक प्रभावित थे। इसी कारण आपने लिखा भी था "ईश्वर एकदेशीय नही है, वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणि-मात्र मे उसका विकास है—सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"[2] उनकी यही धारणा 'प्रियप्रवास' मे भी विद्यमान है। यहाँ पर भी आपने ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे अनंत शीश और अगणित लोचनो वाला तथा असख्य हाथ-पैर वाला कहा है। साथ ही बिना मुख के खाता हुआ, बिना त्वचा के स्पर्श करता हुआ, बिना कानो के सुनता हुआ, बिना आँखो के देखता हुआ और बिना नासिका के सूँघता हुआ लिखा है परन्तु वह ये सब कार्य कैसे करता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कवि ने लिखा है कि सम्पूर्ण जगत मे जो असख्य प्राणी दिखाई देते है वे सब उसी ब्रह्म की मूर्तियाँ हैं। अतएव इन असख्य प्राणियो की आँखो के रूप मे उसकी असख्य आँखें है और असख्य कानो, हाथो आदि के रूप मे उसके असंख्य अन्य अवयव भी है। इस तरह वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होकर नानाप्रकार के कार्य करता रहता है। उसी का प्रकाश तारागण, सूर्य, अग्नि, बिजली, नानारत्न, विविधि मणियो आदि मे दिखाई देता है और उसी की प्रभुता पृथ्वी, पानी, पवन, नभ, वृक्ष, खग आदि मे दिखाई देती है।[3] इस तरह इन सभी बातो के आधार पर यह स्पष्ट पता चलता है कि वह ब्रह्म विश्व रूप है। वह सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है और सारा विश्व उसमे समाया हुआ है।[4] अत. कवि ने विश्वात्मा

---

१. ऐतरेय उपनिषद् १-२, तैत्तिरीयोपनिषद् २।१

२. महाकवि हरिऔध, पृ० १७३

३. प्रियप्रवास १६।१०७-११०

४. वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व—रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा ॥१६।११२

या ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त कहकर भिन्नता मे भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद एव द्वैत मे भी अद्वैत की स्थापना करते हुए ऐसे सिद्धान्त की ओर सकेत किया है, जिसे अपनाने के कारण मानव समस्त प्राणियो को अपने समान ही समझता हुआ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुकूल आचरण कर सकता है और अन्य सभी प्राणियो को सुखी बनाता हुआ स्वय भी परमसुख या परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

जीव की कर्मानुसार गति—भारतीय दर्शन के अनुसार जब आत्मा शरीर के बंधन को स्वीकार करता है, तब उसे 'जीव' नाम से अभिहित किया जाता है। इस जीव को अपने कर्मानुसार नाना शरीर धारण करने पड़ते है। मृत्यु के उपरान्त यह जीव अपने स्थूल शरीर को तो छोड़ देता है, परन्तु सूक्ष्म-शरीर से, जो लिंग शरीर भी कहलाता है, वह जकडा रहता है। परन्तु जो जीव अपने पुण्यकर्मो द्वारा अथवा साधना द्वारा आत्मतत्व को पहचान लेता है, वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक मे चला जाता है, जहाँ से फिर उसे वापिस नही आना पडता।[1] शैवदर्शन मे भी आत्मा को स्वतत्र और जीव को परतत्र या बधन मे पडा हुआ माना है। इसके बधन का कारण बतलाया है कि यह माया-जन्य अज्ञान से आवृत रहता है तथा आणव आदि मलो से सकुचित रहा आता है।[2] जैनदर्शन मे भी जीव को कर्मो के कारण ससार-बधन मे पडा हुआ बतलाया गया है। बौद्ध भी जीव को कर्म-बधन मे बँधा हुआ मानते हैं और रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान नामक पाँच स्कधो के समुच्चय रूप मे उसकी व्याख्या करते है। वे जीव को 'नाम रूपात्मक' कहते है। इसकी बधन-मुक्ति के लिए बौद्धदर्शन मे अष्टागिक मार्ग बताया गया है, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि द्वारा जीव ससार के कर्म-बधनो से मुक्त हो जाता है।[3] इस तरह भारतीय दार्शनिको ने जीव को नाना प्रकार के बधनो मे ग्रस्त दिखाकर ससार मे सकट सहन करता हुआ बताया है और इन

---

१. भारतीय सस्कृति, पृ० २१६

२. "मायाप्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवादिभेदाख्यात्यात्मकाज्ञान स्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसकुचित ज्ञानात्मा बन्ध.।"

—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० १२.

३. बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७४-८१

संकटो से बचने के लिए अनेकानेक मार्ग सुझाये है। परन्तु सभी एक मत से यह कहते है कि पापकर्म करने के कारण जीव बधन मे पडता है और पुण्य-कर्मों के कारण वह इन बधनो से सर्वथा दूर रह कर परम शान्ति या मोक्ष अथवा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी जीवो की इसी गति की काव्यात्मक व्याख्या करते हुए पूतना, कस, कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, केशी, चाणूर, मुष्टिक आदि के रूपो मे ऐसे नारकीय जीवो का वर्णन किया है, जो समाज को पीडा पहुँचाते हुए नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते है और अपने पाप-कर्मो के कारण ही दुर्गति को प्राप्त होते है[1] और राधा एव श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र द्वारा यह दिखाया है कि पुण्यकर्म करने वाले जीव केवल एक स्थान को ही सुख और शान्ति से सम्पन्न नही बनाते, अपितु अपने सत्कर्मो शुभप्रेरणाओ एव परोपकारादि के द्वारा सम्पूर्ण जगती मे सुख और शान्ति की स्थापना करते है। यहाँ राधा और श्रीकृष्ण के लोक-सेवा एव लोक-हित सबधी पुण्यकार्यो मे जीव के समस्त पुण्यकर्मों की जो काव्यात्मक व्याख्या की गई है, वह सर्वथा अनुकरणीय एव स्पृहणीय है। श्रीकृष्ण का विनम्र होकर सबसे मिलना, कलह-विवाद को शान्त कराने का प्रयत्न करना, लघु व्यक्तियो को शिक्षा देना तथा रोगी, दुखी, एवं आपद् ग्रस्तो की सेवा करना एक पुण्यात्मा जीव के शुभ कर्मो की ओर सकेत कर रहा है।[2] ऐसे ही राधा को समस्त ब्रजजनो के सताप दूर करने का प्रयत्न करते हुए गोप एव गोपियो को सात्वना देना, उनके समीप जाकर उनके कष्टो का निवारण करना, दु खी गोप-बालको को शिक्षा देना एव कृष्ण लीलाये कराना, दुखित प्राणियो को वेणु, वीणा आदि बजाकर एव श्रीकृष्ण की लीला का गान करके समझाना आदि कितने ही ऐसे लोकहितकारी कार्यों मे लीन चित्रित किया है,[3] जो एक पुण्यात्मा जीव के उन समस्त पुण्यकर्मो के परिचायक है, जिनसे वह ससार के बन्धन के मुक्त होकर स्वय सुख एवं शान्ति का अनुभव करता हुआ सम्पूर्ण विश्व के मानवो को भी परमसुख और शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यही कारण है कि राधा अपने शुभ कार्यो द्वारा सम्पूर्ण कलह-जन्य दुर्गुणो को दूर कर देती थी, मलिन मन

---

१. पर किसी चिर संचित-पुण्य से। गरल अमृत अर्भक को हुआ।
विषमयी वह होकर आप ही। कवल काल-भुजंगम का हुआ। २।३५

२. प्रियप्रवास १२।८०-८७

३ वही १७।२९-४६

मे व्याप्त सम्पूर्ण कालिमाओ को धो देती थी, सभी प्राणियो के हृदय-तल मे भावज्ञता का बीज बोदेती थी और चिन्ता से व्याप्त घरो मे शान्ति-धारा बहा देती थी ।[१] इस प्रकार कवि ने पाप और पुण्य दोनो मे फँसे हुए जीवो की ओर सकेत करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह बताया है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह तृष्णा आदि से परिपूर्ण पाप कर्मो के करने से जीव बन्धन मे पडकर नारकीय यातनाये सहन करता है और परोपकार, लोकहित, लोकसेवा, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण पुण्य-कर्मों मे लीन रहने वाला जीव इहलोक मे शान्ति एव सुख की धारा बहाता हुआ परलोक मे भी अखड सुख एव अनत शान्ति को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी हो जाता है । यहाँ कवि ने प्राचीन विचारो को नवीनता के साथ सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है । साथ ही कवि ने यहाँ किसी भी स्थान पर यह नही लिखा है कि कोई असुर श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होकर मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त हुआ था, अपितु सभी दुर्गति को प्राप्त हुए, भयकर मृत्यु को प्राप्त हुए आदि लिखा है, जिससे स्पष्ट ही कवि ने यह घोषित किया है कि बुरे कर्मो का बुरा परिणाम एव शुभ कर्मो का शुभ एवं मगलमय परिणाम होता है । कवि के ये विचार भी जीवन को समुन्नत बनाने मे अत्यत प्रेरणा देने वाले है ।

संसार की परिवर्तनशीलता—भारतीय मनीषियो ने ससार को गतिशील माना है । यहाँ निरतर पदार्थो का उद्भव, विकास और ह्रास होता रहता है, क्योकि जगत् के सभी जीव एव सभी पदार्थ नित्य बनते-बिगडते रहते है । उपनिषदो मे कहा भी गया है कि उस ब्रह्म से ही समस्त भूतो की उत्पत्ति होती है, वे कुछ समय तक स्थिर रहते हैं और अत मे उसी मे सब विलीन हो जाते है ।[२] वह उत्पत्ति एव विलीनता का कार्य निरतर चलता रहता है । इसी कारण यहाँ सदैव एक सी स्थिति नही रहती । दिन और रात की तरह सुख और दुख चलते रहते है और चक्र की अराओ की भाँति सभी वस्तुएँ निरतर गतिशील रही आती है । कभी समुद्र मरुस्थल बन जाता है, मरुस्थल समुद्र बन जाते है । पर्वत मैदान हो जाते है, मैदान पर्वत बन जाते हैं नद सूखकर खेत बन जाते है और खेत जलमग्न होकर नद बन जाते है । हिम-आतम, दुख-सुख लाभ-हानि, हर्ष-शोक आदि का चक्र बराबर चलता रहता है 'जगत्' शब्द तो

---

१. प्रियप्रवास १७।४७

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तेन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति—तै० उपनिषद् ३।१

स्पष्ट ही गमनशीलता एव गतिशीलता का द्योतक है इसी तरह 'ससार' शब्द भी ससरणशीलता, गतिशीलता एव आवागमन की ओर सकेत करता है। इसी लिये कुछ विद्वानो ने ससार को निस्सार, कुछ ने असत्य, कुछ ने मिथ्या एव कुछ ने परिवर्तनशील कहा है। हरिऔधजी ने केवल ससार की परिवर्तन शील स्थिति की ओर ही 'प्रियप्रवास' मे सकेत किया है। सर्व प्रथम तो हरिऔधजी तुलसी आदि महात्माओ की तरह यह मानते है कि यह ससार उस चित्रकार की चित्रमयी रचना है जिसे देख-देखकर उसे भी दु ख होता है, क्योकि उसकी यह रचना किसी न किसी प्रकार के सकट मे ही लीन रही आती है और इसे वह कभी सदैव सुख और आनद मे लीन नही देखता।[1] कवि की दृष्टि मे इस दु ख का मूल कारण यहाँ की परिवर्तनशीलता है, क्योकि यहाँ पर प्राय: यह देखा जाता है कि कुछ घडी पूर्व ही जिस भूमि मे प्रमोद का प्रवाह तीव्र गति से बह रहा था, उसी रस-प्लावित भूमि मे कुछ घडी ही उपरान्त विषाद का तीव्र स्रोत बहता दिखाई देता है।[2] जहाँ पर कुछ घडी पूर्व स्वर की मधुर लहरियाँ पवन मे अधिकाधिक गूँजती हुई सुनाई पड़ती थी तथा सुन्दर सलाप आदि सुनाई पडते थे, कुछ ही समय के उपरान्त वहाँ नीरवता छाई हुई दिखाई देती है।[3] यह परिवर्तन केवल मानव-समाज तक ही सीमित नहीं, अपितु प्रकृति मे भी विद्यमान है। वहाँ भी विभिन्न ऋतुओ अथवा ग्रीष्म-शीत, वर्षा-शरद आदि के रूप मे वर्तमान रहता है। यह परिवर्तन किसी को नही देखता। जो कमल अत्यंत सौदर्य एव माधुर्य के साथ सरोवर मे विकसित होता है, उसकी सुकुमार पंखुडियो को भी हिम-पात के द्वारा यह नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है और उसे विकसित नही रहने देता। इसी

---

१. धाता ने हो दुखित भव के चित्रितों को विलोका। ७।१
तुलसीदासजी ने भी जगत को चित्र मानकर 'विनयपत्रिका' मे लिखा है :—
केसव, कहिन जाइ का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये।
सून्य भीति पर विचित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।। १११

२ कुछ घड़ी पहले जिस भूमि में, प्रवहमान प्रमोद-प्रवाह था।
अब उसी रस-प्लावित भूमि मे, बह चला खर स्रोत विषाद का। २।२०

३. प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ पवन में अधिकाधिक गूँजती।
कल अलाप सुप्लावित था जहाँ, अब वहाँ पर नीरवता हुई। १।५०

तरह जो चद्रमा अपनी उज्ज्वल एवं अमृतमयी कलाओ द्वारा रजनी के सौदर्य एव माधुर्य की वृद्धि करता हुआ जब पूर्ण विकसित होता है, तभी खल राहु उसे निगलकर उसके सौदर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है'।[1] इस प्रकार ससार मे प्राय यह देखा जाता है कि जिस घर मे सुख अपने दिव्य रूप के साथ सुदर नृत्य करता हुआ दिखाई देता है, वह आनदपूर्ण सुदर घर भी दुख के लेश से कभी बच नही पाता।[2] इस प्रकार कवि ने ससार के इस विराट परिवर्तन की ओर सकेत करते हुए मानवो को सचेत एव सावधान होने के लिये चेतावनी दी है और बताया है कि ससार की इस वैभवमयी स्थिति मे लीन होकर यह कभी नही भूलना चाहिए कि ऐसी स्थिति सदैव नही रहती, यह स्थिति भी परिवर्तनमयी है, आज है कल नही रहेगी और यह वैभव भी नष्ट हो जायेगा। निस्सदेह कवि के ये विचार अत्यत प्रेरणा एव प्रोत्साहन प्रदान करने वाले है क्योकि कवि ने ससार को निस्सार, मिथ्या, क्षणभगुर अथवा असत्य नही कहा है, अपितु उसकी परिवर्तनशीलता की ओर ही सकेत किया है।

नैतिक व्यवस्था—भारतीय दर्शन मे नैतिक व्यवस्था पर सर्वाधिक बल दिया गया है। वहाँ पर इस व्यवस्था को 'ऋत' कहा गया है और ऋग्वेद मे इस 'ऋत' को सत्य से भी पहले उत्पन्न होता हुआ बतलाया गया है।[3] भारतीय मनीषियो ने किसी न किसी प्रकार इस 'ऋत' को मानव-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित माना है। इसके पीछे मानव-जीवन का वह विचार छिपा हुआ है, जिससे सदाचार, सद्भावनाये, सत्कार्य, सत्प्रेरणा आदि का जन्म होता है और जिनसे मानव असत्य से हटकर सत्य मार्ग पर अग्रसर होता है। यही वह व्यवस्था है जिसके लिए भर्तृहरि ने 'न्यायपथ' कहा है और बताया है कि चाहे नीति-निपुण व्यक्ति निन्दा करे या स्तुति करें, चाहे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा न हो, चाहे अभी मृत्यु हो अथवा बहुत काल के उपरान्त

---

१. **कमल का दल भी हिमपात से, दलित हो पड़ता सबकाल है।**
कल कलानिधि को खल राहु भी, निगलता करता बहु क्लान्त है।४।२१

२. **सुख जहाँ निज दिव्य स्वरूप से, विलसता करता कल-नृत्य था।**
अहह सो अति सुंदर सद्म भी। बच नहीं सकता दुख लेश से। ४।२३

३. **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—ऋग्वेद १०।१९०।१**

हो, परन्तु धीर पुरुष न्याय-पथ से अपना पग कभी पीछे नही हटाते ।[१] किन्तु यह नैतिक व्यवस्था अथवा ऋत या न्यायपथ है क्या ? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि समाज मे सतुलन स्थापित करने के लिये, सुव्यवस्था कायम रखने के लिये, जीवन को सभी प्रकार के सघर्षो से बचाने के लिए अथवा समाज का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन कार्यों के करने की व्यवस्था की गई है अथवा जिन कार्यो के करने का निषेध किया गया है वे ही 'विधि' और 'निषेध' सम्बन्धी बाते इस नैतिक व्यवस्था के अतर्गत आती है । 'प्रियप्रवास' मे हरिऔध जी ने भी इस नैतिक व्यवस्था मे विश्वास प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण एव राधा के नैतिक आदर्श द्वारा मानव-जीवन को समुन्नत बनाने की सुदर प्रेरणा दी है । कवि ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि एक मानव अपने जीवन को नैतिक व्यवस्था द्वारा ही उन्नत बना सकता है, आदर के योग्य बना सकता है और उसे श्रेष्ठ एवं सदाचार सम्पन्न करके विश्ववद्य बना सकता है । उनके लिए कवि ने स्थान-स्थान पर सकेत दिये है और बताया है कि उसे शान्त और शिष्ट होकर जीवन व्यतीत करना चाहिए, सदैव मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए, कभी कोई दुर्वृत्तता की बात मुख से नही निकालनी चाहिए और सदैव मुख से प्रिय वचन बोलने चाहिए ।[२] उसे सदैव छोटे-बडे सभी के हित का ध्यान रखना चाहिए । सभी के दुख मे सहायक बनना चाहिए । बडो से सदैव विनम्रतापूर्वक मिलना चाहिए । कभी किसी की विरोधी बाते नही सुननी चाहिये । यदि कही कलह या शुष्क-विवाद छिड़ रहा हो, तो तुरन्त उसे शान्त करना चाहिए । यदि कोई बलवान किसी निर्बल को सताये तो उसका तिरस्कार करना चाहिए । सदैव रोगी, दुखी, आपद-ग्रस्त प्राणियो की सेवा करनी चाहिए इत्यादि ।[३] इस नैतिक जीवन के व्यतीत करने मे यदि अनेक कष्टो का सामना करना पडे तो भी उनका सहर्ष सामना करते हुए अपने पथ से कभी विचलित नही होना चाहिए । सदैव राधा और श्रीकृष्ण की भाँति लोक और समाज को सुखी बनाने के

---

१ निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा ।— नीति शतक ।

२ प्रियप्रवास ६।६२–६३

३ वही १२।८०–६०

लिए, उन्हे सब तरह से शान्ति एव समृद्धि-सम्पन्न करने के लिये नीति-पथ से अथवा न्याय-पथ से कभी कदम पीछे नही हटाना चाहिए। सारा 'प्रियप्रवास' इसी नैतिकता से परिपूर्ण है। यहाँ पर कवि ने श्रीकृष्ण और गोपियो के प्रेम-सम्बन्ध को भी नैतिक रूप देते हुए उसकी अत्यन्त सुन्दर व्याख्या की है। कवि ने लिखा है कि जिस तरह अनेक तारिकाये अपने निर्मल चन्द्रमा मे आसक्त रहती है, लाखो कमल-कलियाँ एक सूर्य की प्रेमिकाये हैं, उसी तरह यदि विपुल बालायें एक श्रीकृष्ण मे अनुरक्त है, तो इसमे विचित्रता ही क्या है? क्योकि प्रेमी की गरिमा को तो केवल प्रेमी हृदय ही जान सकता है।[1] इस तरह कवि ने वासनात्मक प्रेम मे भी नैतिक दृष्टि का समावेश करके जीवन के सभी क्षेत्रो मे नैतिक व्यवस्था को महत्व दिया है।

बंधन का कारण—ससार मे जीवो के बधन का कारण यहाँ अविद्या या अज्ञान माना गया है। भारतीय दार्शनिको का मत है कि प्राय अविद्या के कारण ही जीव जन्म-मरण के चक्कर मे पडता है, राग-द्वेष मे लिप्त होता है, प्रमाद और मोह मे लीन होता है और नाना प्रकार के कुकर्म करता हुआ अधोगति को प्राप्त होता है। योगसूत्र मे अविद्या की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि अनित्य, अशुचि दु.ख और अनात्मा को क्रमश. नित्य, शुचि सुख तथा आत्मा समझ बैठना ही अविद्या है।[2] इसी अविद्या के कारण मानव अहकार के वशीभूत होकर स्वयं को सभी का कर्त्ता समझ बैठता है, उसकी बुद्धि मे भ्रम भरा रहता है और वह प्रकृति के गुण एव कर्मो मे आसक्त होकर सदैव कर्म-बधन मे बँधा रहता है।[3] इस बधन की ओर सकेत करते हुए गीता मे लिखा है कि प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन गुण होते है। इनमे से सतोगुण सुख मे लगाता है, रजोगुण कर्म मे लगाता है और तमोगुण ज्ञान को आवृत करके प्रमाद मे लगाता है। सतोगुण से मानव मे चेतनता और बोधशक्ति बढ़ती है, रजोगुण से अशान्ति,

---

१. **आसक्ता हैं विमल विधु की तारिकायें अनेकों।
हैं लाखों ही कमल-कलियाँ भानु की प्रेमिकायें।
जो बालायें विपुल हरि मे रक्त है चित्र क्या है?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है। १४।६६**

२. **अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।**
—योगसूत्र २।५

३. **श्रीमद्भगवद्गीता ३।२७, २९**

चचलता एव भोगो की लालसा जाग्रत होती है और रजोगुण से आसक्ति एवं अज्ञान की वृद्धि होती है।[1] परन्तु सारी अविद्या अथवा सारे बधन का मूल कारण मोह या आसक्ति है जिससे काम, क्रोध, विस्मृति, राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते है, जो मानव को उदासीन नही रहने देती और जिसके छोडने पर ही मानव बधन से मुक्त हो सकता है।[2] प्रियप्रवास मे हरिऔधजी ने भी 'मोह' को सारे अनर्थो की जड बताया है और कहा है कि यह मोह ही प्राणी को नाना प्रकार के स्वार्थ एव सुख की वासनाओ मे लीन कर देता है, जिससे उसका चित्त आवेगो एव ममत्व से परिपूर्ण हो जाता है।[3] इसी मोह के कारण नद-यशोदा यहाँ श्रीकृष्ण के लिए रोते-झीखते हुए दिखाये गये है, इसी मोह के कारण गोप एव गोपियाँ रातदिन रोती रहती है और इसी मोह के बारे मे "मैं मानूँगी अधिक मुझ मे मोहमात्रा अभी है"[4] कहकर राधा भी दुःखी एव बेचैन दिखाई देती है। इसी मोह के कारण सभी गोकुल के प्राणी जिस तरह व्यथित एव बेचैन दिखाये गये है, उसी तरह यह मोह ससार के समस्त प्राणियो को व्यथित एव बेचैन बनाता रहता है और ज्ञान को आवृत करके प्राणियो को अविद्या या अज्ञान के जाल मे फँसाये रहता है। कवि ने 'प्रियप्रवास' मे मोह या आसक्ति-जन्य वेदना का चित्र अकित करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव को अविद्या मे ग्रस्त करने वाला यह मोह ही है। इसी कारण उद्धव जी गोपियो को योग द्वारा भ्रमित मन को सम्हालने की सलाह देते है और बताते है कि वासना-मूर्तियो को देखकर तुम भ्रम और मोह मे मत पडो और सम्पूर्ण स्वार्थों को जगतहित के लिए आनद सहित त्याग दो। तब तुम्हारा सारा दुःख शान्त हो जायेगा और अनुपम शान्ति मिलेगी।[5] इस मोह को छोडने की शक्ति अन्य किसी ब्रजवासी मे तो दिखाई नही देती। परन्तु राधाजी पूर्णतया मोह को छोडकर समत्व बुद्धि एवं सहृयता से परिपूर्ण दिखाई देती है। इसी कारण कवि ने लिखा है कि जैसी मोहावरित तामसीरात ब्रज मे छाई हुई थी, वैसे ही राधा उसमे कौमुदी के

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४

२ वही २।६१–६४

३ नाना स्वार्थों सरस-सुख की वासना-मध्य डूबा।
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता। १६।६३

४. प्रियप्रवास १६।१२०

५. वही १४।३६

तुल्य शोभा देती थी अर्थात् मोह या आसक्ति को छोड़कर ससार के कल्याण मे लगी रहती थी।[१] इस तरह कवि ने भी मोह या आसक्ति से उत्पन्न अविद्या या अज्ञान को ससार के बधन का कारण बताकर उसके परित्याग की सलाह दी है और ससार के समस्त जीवो के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

श्रेय के साधन—तदनतर कवि के वे विचार आते है, जिन्हें उसने मानव-कल्याण के लिए, ससार के श्रेय के लिए अथवा जगत्‌हित के लिए अत्यत आवश्यक समझा है। श्रेय और प्रेय दोनो शब्द उपनिषदो मे आए है। कठोपनिषद् मे इन दोनो की ओर सकेत करते हुए बताया गया है कि धीर पुरुष तो भलीभाँति विचार करके अपने कल्याण के लिए 'श्रेय' को अपनता है और मूर्ख पुरुष लौकिक योग-क्षेत्र की इच्छा से भोगो के साधन रूप 'प्रेय' को अपनाया करता है।[२] इससे स्पष्ट है कि श्रेय से तात्पर्य उन कार्यो एव विचारो से है, जो अन्त मे कल्याणकारी होते हैं और प्रेय से तात्पर्य ऐसे कार्यों एव विचारो से है, जो भोगो की भाँति अन्त मे अमगलकारी एव कष्ट देने वाले होते है। इसीकारण श्रेय प्रारम्भ मे कटु एव अन्त मे सुखद होता है और प्रेय प्रारम्भ मे सुखद और अन्त मे कटु होता है। यही कारण है कि मनीषी विद्वान् अथवा क्रातदर्शी कवि सदैव ऐसे विचारो एव ऐसे कार्यो को जनता के सम्मुख रखना अधिक समीचीन समझते हैं, जिन्हे अपनाकर मानव कल्याण की ओर अग्रसर हो, श्रेय के अनुयायी बनें और प्रेय की ओर न मुडे अथवा भोगो मे लिप्त होकर सकट सहन न करे। महाकवि हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे कुछ ऐसे ही विचारो की ओर सकेत किये है, जिन्हे हम मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी समझते है और जो मानव के श्रेय के लिए साधन बन सकते हैं। उन विचारो मे से कुछ इस प्रकार है —

(१) **निष्काम कर्म**—हरिऔधजी ने सर्वाधिक बल ऐसे सत्कार्यों पर दिया है, जो सभी प्रकार की कामनाओ से रहित होकर किये जाते है। ऐसे

---

१ जैसी मोहावरित ब्रज मे तामसी-रात आई।
वैसे ही वे लसित उसमे कौमुदी के समा थीं। १७।५०

२ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस् तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीरः।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
—कठोपनिषद् १।२।८

कार्यों को ही श्रीमद्भगवद्गीता मे 'निष्काम कर्मयोग' कहा गया है। वहाँ पर भगवान् कृष्ण ने सभी प्रकार की आसक्ति या कामनाओ को त्यागकर किये जाने वाले कर्मो को ही अत्यधिक महान् एव उत्कृष्ट बताया है और अर्जुन से कहा है कि "हे धनजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि मे समान बुद्धि वाला होकर योग मे स्थित होता हुआ कर्मो को कर, यह समत्व भाव ही योग कहा जाता है।"[1] गीता के ऐसे निष्काम-कर्म-योग सम्बन्धी समत्व भाव वाले कार्यो को हरिऔधजी ने अत्यधिक महत्व दिया है और अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि वे एक योगी की ही भाँति सम्पूर्ण लिप्साओ से भरी हुई सैकडो लालसाओ का दमन करते हुए सदैव निष्काम भाव से जगत-हित सम्बन्धी कार्यों मे लीन रहते है। वे सर्व प्रथम अपने कर्त्तव्य की मीमासा करते हैं, फिर वे धीरता के साथ उसमे लीन हो जाते है और किसी वांछा के विवश होकर अथवा किसी वासना से लिप्त होकर वे कभी अपने कर्त्तव्य से च्युत नही होते। यदि गुरुजनो की सेवा करते समय उन्हे किसी की आर्त्तवाणी सुनाई देती है, तो वे बडो की सेवा छोडकर पहले उसे शरण देते है। ऐसे ही यदि उन्हे कही आग लगी हुई दिखाई देती है, तो सारे कार्य छोड़कर पहले उसे बुझाने का प्रयत्न करते है। इसी तरह उन्हे यदि उनके किसी प्रिय अथवा अन्य किसी भी प्राणी को कोई दुष्ट कही सताता हुआ दिखाई देता है, तो सर्वप्रथम वे अपनी वेदनाओ को भूलकर उसे मुक्त करने तथा दुष्ट को दड देने का कार्य करते है। इस प्रकार वे सदैव निर्लिप्त होकर जनता की भलाई के लिए ऐसे-ऐसे कार्य करते रहते है, जिनमे सदैव लोक का लाभ ही निहित रहता है और उनका अपना कोई लाभ या स्वार्थ निहित नही होता।[2] कवि के इस वर्णन मे निष्काम कर्म की महत्ता को अत्यन्त सजीवता के साथ अकित किया गया है। इस वर्णन का उद्देश्य यही है कि मानव इस 'निष्काम कर्म' की भावना को अपनाकर श्रीकृष्ण की भाँति अपने जीवन को भी श्रेयस्कर बनाने की चेष्टा करे और सर्वत्र जन-हित को ही प्रमुखता दी जाय। इसीकारण कवि ने निस्स्वार्थ एव निष्काम लोकसेवा को 'भव के श्रेय का मर्म' कहा है[3] और इसी

---

१ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। २४।८

२. प्रियप्रवास १४।२१-३०

३ वही १४।३५

निस्स्वार्थ भूतहित अथवा निष्काम भाव से की हुई लोकसेवा के द्वारा मानव को विश्ववंद्य श्रीकृष्ण की भाँति ही संसार मे पूज्यभाव, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करता हुआ बतलाया है।[1] अतएव मानव की उन्नति एवं प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके कल्याण के लिए 'निष्कामकर्म' सबधी भावना अत्यत अपेक्षित है।

(३) **सात्विक जीवन**—जीवन की सफलता सदैव सरल एवं शुचि पूर्ण जीवन व्यतीत करने मे ही है और सात्विक जीवन से तात्पर्य भी ऐसे ही जीवन से है, जो सम्पूर्ण छल-छद्मो से परे सरलता, शुचिता, पवित्रता, सादगी, सौम्यता, उदारता आदि से परिपूर्ण हो। ऐसा जीवन सदैव सतोष सुख एवं शान्ति से भरा रहता है, उसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हलचल पैदा नही करते और वह सदैव सयम-नियम से अनुशासित होने के कारण समाज के लिए भी कल्याणकारी होता है। इसके विपरीत नाना प्रकार के भोगो, विविध वासनाओ, मलिनताओ एव क्रूरताओ से भरा हुआ असात्विक जीवन न केवल व्यक्ति के लिए ही हानिकारक होता है, अपितु समाज एवं राष्ट्र के लिये भी सदैव अहितकर माना गया है। भारतीय मनीषियो ने इसी कारण सात्विक जीवन को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। श्रीमद्भगवद् गीता मे सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिये सात्विक आहार, सात्विक यज्ञ, सात्विक तप, सात्विकदान, सात्विक त्याग, सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति, सात्विक सुख आदि का बडा ही विशद वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि यदि मानव सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढाने वाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को रुचिकर आहारो का प्रयोग करना चाहिए।[2] जो व्यक्ति सात्विक यज्ञ करना चाहते हैं उनके लिए बताया गया है कि मन का समाधान करके फल की तनिक भी इच्छा न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करना चाहिए।[3] इसी तरह सात्विकदान के बारे मे बताया गया है कि जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर किसी प्रकार का प्रत्युपकार करने की अभिलाषा न रखकर तथा दान देना ही है ऐसा भाव मन

---

१. प्रियप्रवास १२।६०

२. श्रीमद्भगवद्गीता १७।८

३. वही १७।११

मे लाकर दिया जाता है, वही दान सात्विक कहलाता है।[1] ऐसे ही यह कर्म करना मेरा कर्त्तव्य है ऐसा समझकर जो शास्त्रोक्त विधि से निश्चित किया हुआ कर्म आसक्ति एव फल को त्यागकर किया जाता है उसी को सात्विक त्याग बताया गया है।[2] ऐसे ही राग-द्वेष को छोडकर किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न करके तथा अहभाव से रहित होकर जो नियत कर्म किया जाता है, वही सात्विक कर्म कहलाता है[3] और ऐसे ही कर्म करने वाला सात्विक कर्त्ता माना गया है।[4] साथ ही ऐसी बुद्धि को सात्विक बुद्धि माना गया है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बधन और मोक्ष को तत्वतः जानती है।[5] इसी तरह गीता मे सात्विक धारणा मे अव्यभिचारी भाव की प्रधानता बताते हुए और सात्विक सुख मे पहले विष के सदृश एव पीछे अमृत के सदृश्य दिखाई देने वाले सुख का रूप समझाते हुए दोनो की व्याख्यायें की गई हैं।[6] इन समस्त विवरणों का अनुशीलन करने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए मानव को फल और कामना रहित होकर अपने नियत कार्य को बड़ी लगन एवं अध्यवसाय के साथ करना चाहिए और कभी राग-द्वेष के वशीभूत नही होना चाहिए।

हरिऔधजी ने भी प्रियप्रवास मे आरम्भ से ही श्रीकृष्ण के ऐसे जीवन को चित्रित किया है, जिसमे राग-द्वेष से परे परोपकार एव लोकहित की प्रधानता है, जो कभी तामसी एव राजसी प्रवृत्तियो को अपने पास तक नही आने देते और जो सदैव व्यक्तिगत सुख एव भोगो की लालसाओ को छोडकर सर्व-भूतोपकार मे लगे रहते है। कवि को इसी कारण लिखना पडा है कि यद्यपि उनकी अवस्था अभी थोडी ही है, तो भी वे शुभ कार्यो मे नितान्त रत रहते हैं और उनके इस श्रेष्ठ स्वभाव को देखकर यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १७।२०

२. वही १८।६

३. वही १८।२३

४. वही १८।२६

५ वही १८।३०

६. वही १८।३३, १८।३७

वे महात्मा है ।[1] प्रायः विद्या, सुसगति, सुनीति एवं शिक्षा तो क्रमिक विकास पर निर्भर है अर्थात् जो जितना चाहता है, उतना ही इन्हे प्राप्त कर सकता है, परन्तु पृथ्वी पर अच्छे या बुरे और मलिन या दिव्य स्वभाव की प्राप्ति तो निसर्ग-सिद्ध है अर्थात् ईश्वर की महती अनुकम्पा अथवा प्राकृतिक अज्ञात शक्तियो की अनुकूलता से ही मानव दिव्य स्वभाव को प्राप्त करता है और उनकी प्रतिकूलता के कारण ही वह मलिन स्वभाव वाला बन जाता है ।[2] यद्यपि कवि के इस कथन मे पर्याप्त सत्य विद्यमान है और कहा भी गया है कि "स्वभावो दुरतिक्रम." अर्थात् स्वभाव कभी बदलता नही, फिर भी यदि मानव चाहे और प्रयत्न करे तो वह अपने बुरे स्वभाव को बदल सकता है । कवि ने श्रीकृष्ण के लोकपावन एवं दिव्यचरित्र का वर्णन करके यही सकेत किया है कि उनकी तरह आचरण करता हुआ व्यक्ति निस्संदेह शुचिता, पवित्रता, उदारता, राग-द्वेष-हीनता आदि से परिपूर्ण होकर सात्विक एव शुभ कर्मो मे लीन हो सकता है और जीवन के अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकता है । इस तरह कवि ने सम्पूर्ण काव्य मे सात्विकता को महत्व देते हुए जिस तरह श्रीकृष्ण के जीवन को अकित किया है, वैसे ही राधा भी सात्विकता की मूर्ति बनी हुई है । वे आजीवन कौमार व्रत का पालन करती हुई सात्विक जीवन व्यतीत करती है । उनमे भी यहाँ सरलता, शुचिता, पवित्रता, भोगो के प्रति अनासक्ति राग-द्वेष-हीनता एव अपने करणीय कर्मों के प्रति अत्यधिक रुचि विद्यमान है । अत. कवि ने उक्त दोनो लोकपावन चरित्रो के द्वारा सात्विक जीवन के महत्व को प्रदर्शित किया है और बताया है कि जीवन मे परम सुख एव परम शान्ति की प्राप्त सात्विक जीवन द्वारा ही हो सकती है।

---

१ थोड़ी अभी यदिच है उनकी अवस्था ।
तो भी नितान्त-रत वे शुभ-कर्म्म मे हैं ।
ऐसा विलोक वर-बोध स्वभाव से ही ।
होता सु-सिद्ध यह है वह हैं महात्मा । १२।९१

२. विद्या सुसंगति समस्त सु-नीति शिक्षा ।
ये तो विकास भर की अधिकारिणी हैं ।
अच्छा-बुरा मलिन-दिव्य स्वभाव भू में ।
पाता निसर्ग कर से नर सर्वदा है । १२।९२

(३) **उच्च विचार**—मानव-जीवन अपने विचारो के द्वारा ही निर्मित है। प्राय: जैसे जिसके विचार होते है, वैसा ही वह बनता है। संसार मे यह देखा गया है कि एक बच्चा नीच मनोवृत्ति के कारण ही आगे चलकर अत्यंत नृशस एव क्रूर बन जाता है और उच्च मनोवृत्ति वाला बालक बडा होने पर सदैव उदार एव महान् व्यक्ति बनता है। इन विचारो का सम्बन्ध जीवन से इतना घनिष्ठ है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया विचारो के आधार पर ही होती है। इसी कारण भारतवर्ष मे पहले बचपन से ही बालक की चित्तवृत्तियो का शोधन करने के लिए अथवा उनके विचारो को समुन्नत बनाने के लिए गुरुकुल की शिक्षा को महत्व दिया जाता था। छोटी अवस्था मे ही बालक गुरु के आश्रम मे रहकर ससार के सम्पूर्ण मोह-माया एवं भोगो के वातावरण से दूर रह कर त्याग, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, दया, आत्मसंयम, परोपकार आदि के विचारो को अनायास ही सीख लेता था। गुरुकुल के अनुशासन मे रहकर उसे सयमित जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ जाती थी और आज्ञापालन का विशिष्ट गुण उसकी नस-नस मे व्याप्त हो जाता था। महाभारत मे आई हुई धौम्यऋषि के शिष्य आरुणि उद्दालक की कथा प्रसिद्ध ही है कि किस तरह गुरु के आश्रम मे रहकर उद्दालक वेदशास्त्रो के पूर्ण ज्ञान के साथ-साथ आत्मसंयम, आज्ञापालन, तत्परता, कार्य के प्रति तीव्र लगन, सहिष्णुता आदि उन्नत गुणो को भी सीख गया था। इसका कारण यह था कि गुरुकुल या गुरु के आश्रम मे एक शिष्य को सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से प्रमाद न करना, सत्य कार्यो मे प्रमाद न करना, धर्म से प्रमाद न करना, कल्याण-कार्य आदि से प्रमाद न करने की जो शिक्षा मिलती थी और माता, पिता, गुरु एवं अतिथि की सेवा मान-सम्मान आदि के बारे मे जो विचार पुष्ट हो जाते थे, उनका यह प्रभाव पडता था कि वह बालक ग्रहस्थाश्रम मे प्रवेश करके भी उन उच्च विचारो से कभी विमुख नही होता था। गुरु की सेवा मे रहकर जब एक शिष्य इस तरह उच्च विचारो को ग्रहण कर लेता था, तब फिर यह सभव नही था कि वह आगामी जीवन मे उन्हे भूल सके अथवा किसी और प्रकार का जीवन व्यतीत कर सके। इसके लिए एक कारण यह भी था कि उस शिक्षा-दीक्षा मे ही ऐसे विचार भरे रहते थे, जिनके अनुसार प्राय. एक आचार्य अपने शिष्यो से कहा करता था कि माता की सेवा करने वाले बनो। पिता की सेवा करने वाले बनो। आचार्य की सेवा करने वाले बनो। अतिथि की सेवा करने वाले बनो। जो-जो बुरे कार्य हैं तुम्हे उनका अनुकरण नही करने चाहिए, परन्तु जो-जो सुदर कार्य

हैं अथवा जो-जो सुदर आचरण हैं, उनको तुम्हे अवश्य अपनाना चाहिए।[1] इन विचारो का यह प्रभाव पडता था कि वह शिक्षित विद्यार्थी जीवन मे कभी किसी प्रकार के दुराचार एव बुरे कार्यों मे लिप्त नही होता था और सदैव उच्चाशय होकर उन्नत कार्यो मे लीन रहता था, न्यायमार्ग पर चलता था, सत्कार्यो को करता हुआ अन्य व्यक्तियो को भी सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करत था और ऐसे ही व्यक्तियो से देश एव समाज गौरव को प्राप्त होता था।

हरिऔधजी ने भी इसी तरह उन्नत विचारो को जीवन के लिए अत्यावश्यक माना है और श्रीकृष्ण के जीवन चरित के रूप मे मानवमात्र के लिए काव्यात्मक ढंग से उनका चित्रण किया है। साथ ही आपने यह बताया है कि उन्नत आशय एवं उच्च विचार वाले व्यक्ति ही लोभ-मोह, माया, काम, क्रोध आदि को जीतकर सारे समाज मे सुख और शान्ति की धारा बहाने का कार्य करते हैं, पापियो, दुष्टो एवं दुरात्माओ से समाज की रक्षा करते हैं और पद-पद पर संकट मे ग्रस्त जर्जर समाज को आनद एव उल्लास पूर्ण बनाकर सर्वत्र मानवता का प्रचार किया करते हैं। उच्चाशय एव उच्चविचार वालो की विशेषता ही यह होती है कि वे मोह या वासना के शिकार होकर समाज-सेवा या विश्व-शान्ति के कार्यों से विमुख नही होते, अपितु श्रीकृष्ण की भाँति पारिवारिक स्नेह, प्रियजनो का उत्कट प्रेम, सखाओ की प्रीति आदि की परवा न करके उत्तरोत्तर आगे बढते रहते हैं। उनके सम्मुख किसी एक परिवार का सुख या आनंद नही रहता, वरन् वे सम्पूर्ण समाज एव सम्पूर्ण विश्व मे शान्ति एव सुख की स्थापना करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अपने इसी उद्देश्य मे लीन रहने के कारण ही श्रीकृष्ण को शोभाशालिनी ब्रजभूमि, प्रेमास्पदा गोपिकायें, प्रीति-प्रतीति की साकार प्रतिमा माता यशोदा, वात्सल्यधाता पिता नंद, प्यारे गोपकुमार, प्रेम-मणि रूप गोपीगण, प्रेम की साकारमूर्ति दिव्यागना राधा आदि को छोडकर मथुरा जाना पड़ा था[2] और अपने इन्ही उच्च विचारो के कारण वे ब्रजभूमि के प्राणियो के प्रेम से व्यथित तो होते रहते थे, परन्तु मथुरा से लौटकर पुन. गोकुल नही आये। क्योकि वे जानते थे कि स्थानीय मोह, गभीर स्नेह, प्रगाढ़ प्रेम और

---

१. **मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।**

२. **प्रियप्रवास ६।४**

चित्ताकर्षक सौंदर्य उनके मार्ग के बाधक बनकर उन्हे कर्त्तव्य-पथ से च्युत कर सकते थे। कवि ने इसी तरह सम्पूर्ण काव्य मे उच्च विचारो का समावेश करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि श्रीकृष्ण की भाँति एक साधारण व्यक्ति भी पुरुषोत्तम बन सकता है। परन्तु उसके लिए अपेक्षित है कि वह भोगो की लालसा, सम्पूर्ण स्वार्थमयी कामनाये, लिप्सायें आदि छोडकर सभी छोटे-बडो के हित मे लीन रहे, दु.ख के दिनो मे दूसरो की सहायता करे, अत्यत प्यार के साथ सभी से मिले, बडो के प्रति विनम्रता का वर्त्ताव करे, सभी से शिष्टतापूर्वक बाते करे, कभी भूलकर भी किसी को अप्रिय लगने वाली बाते न करे, दूसरो के विरोध की बातों मे रुचि न दिखाये, कभी भूलकर भी दूसरो पर अप्रसन्नता प्रकट न करे, सदैव बराबर वालो से भी प्रीतिपूर्वक मिले, अपने से छोटो को प्रसन्न बनाने की चेष्टा करे और सदैव लोक-हित या लोक के लाभ को महत्व देता हुआ अपने वैयक्तिक लाभ या वैयक्तिक सुख की चिन्ता न करे।[1] कवि के विचार से उच्चविचारो मे लीन रहने वाला उत्तम व्यक्ति वही है जो आत्मीय सुख की परवा न करके अपनी समस्त लिप्साओ, भोगो की कामनाओं एव मधुर लालसाओ को जगत-हित के लिये उत्सर्ग कर देता है, जो किसी प्रकार के स्वार्थ या लोभ के वशीभूत न होकर सदैव लोक-सेवा मे लगा रहता है, जैसे एक मात्र सर्वभूतोपकार ही प्रिय है और जो समष्टि के लिये व्यष्टि-बलिदान को महत्वपूर्ण समझता है।[2] कवि का दृढ मत है कि उच्चविचारो के उदय होते ही मानव के हृदय मे लोकहित एवं विश्वप्रेम के भाव जाग्रत हो जाते है, वह फिर सकीर्णता को छोडकर उदारता को, भोगो को छोडकर त्याग को और वैयक्तिकसुख की तुच्छ लालसाओ को छोडकर लोकसेवा को अपना लेता है। अतएव कवि ने मानव-जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए, उसे भौतिक पतन से आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने के लिये तथा श्रेयस्कर बनाने के लिए उच्च विचारो को अपनाना नितान्त आवश्यक बताया है।

(४) **आत्मोत्सर्ग**—भारतीय मनीषियों ने अत्यत प्राचीन काल से "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के महामंत्र का उद्घोष करते हुए यह सकेत किया है कि यदि असत से सत की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, कष्टो से सुखों की ओर तथा अशान्ति से शान्ति की ओर

१: प्रियप्रवास १२।७९–८४

२, वही १६।४०–४६

बढना चाहते हो, तो सभी प्राणियों को अपने समान समझो और अपनी आत्मा को ही चराचर जगत मे व्याप्त देखते हुए संसार के प्राणियो के दुःख दूर करने के लिए, उन्हे शान्ति एव सुख प्रदान करने के लिए अथवा उनको भी अपने समान आनन्दमग्न बनाने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की चेष्टा करो। 'आत्मोत्सर्ग' का अर्थ ही यह है कि हम अपना कर्त्तव्य समझ कर निस्वार्थभाव से दूसरो के कल्याण के लिए कार्य करें तथा 'पर' के लिए 'स्व' का परित्याग करे। भारतीय मनीषियो ने 'आत्मान रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु' कहकर बताया है कि शरीर रथ है और इसके चलाने वाला सारथी आत्मा है। शरीर को आत्मा की सवारी नही करनी चाहिए, अपितु आत्मा को शरीर की सवारी करनी चाहिए। जो बात शरीर के साथ है, वही सम्पूर्ण जगत के साथ भी है अर्थात् आत्मा को जगत की सवारी करनी चाहिए, न कि जगत आत्मा की सवारी करने लगे और मनुष्य सब कुछ भूल कर जगत के बोझ से लद जाय। उसे तो स्वार्थ त्याग करके जगत का भोग करते हुए भी जगत के भोगो से बोझ को अपने ऊपर नही आने देना चाहिए, अपितु सारथि की भाँति इन्द्रियो का सयम करके अपना सर्वस्व जगत के लिए अर्पण कर देना चाहिए। इसी बात को समझाने के लिए हमारे यहाँ उपनिषदो मे कहा गया है—"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति' अर्थात् जो व्यक्ति प्राणिमात्र को विश्वात्मा मैं पिरोये हुए मनको की तरह देखता है, और हर प्राणी मे उसके शरीर को नही, परन्तु उसके आत्मतत्व को ही यथार्थ समझता है, उसी को वास्तविक ज्ञान है। जैसा मैं हूँ, वैसे ही दूसरे है, सभी मैं एक आत्मतत्व ही विकास पारहा है, मेरे भले मे सबका भला, सबके भले मे मेरा भला है—यह है भारतीय सस्कृति का आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी दृष्टि कोण जिसकी आज नितात आवश्यकता है।[1] यहाँ यह स्पष्ट समझाया गया है कि स्वार्थ को नही, परार्थ को अपनाने का प्रयत्न करो, क्योकि स्वार्थ से तो स्वार्थ का ही जन्म होता है, और उससे सच्चे आत्मतत्व का विकास नही होता। सच्चे आत्मतत्व का विकास उसी समय होगा जब स्वार्थ परार्थ को जन्म देने लगे। इसी के लिए यहाँ संसार को अपना ही रूप मानकर उसकी सेवा-सुश्रूषा, उसके लिए सब कुछ त्याग, उसकी उन्नति के लिए सारे प्रयत्न आदि करने पर जोर दिया गया है।

---

१. आर्य-संस्कृति के मूल तत्व, पृ० १११

हरिऔधजी ने भी मानव-जीवन के इस मार्मिक तत्व को भली प्रकार समझकर 'प्रियप्रवास' मे उसे महत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि ससार मे नाना प्रकार के सुख और भोगो की लालसाये अत्यंत प्रिय और मधुर होती है, परन्तु जगत-हित की लिप्सा उनसे भी कही अधिक सुदर होती है, क्योकि ऐसी इच्छा आत्मा को मुक्ति प्रदान करती है और उससे मानव के हृदय मे आत्मोत्सर्ग की अभिलाषा और भी विशदता के साथ जाग्रत होती है। ससार मे प्राय: देखा जाता है कि बहुत से प्राणी मुक्ति की कामना से तपस्या किया करते हैं, परन्तु उन्हे हम आत्मोसर्ग करने वाला नही कह सकते, वे तो आत्मार्थी होते है। आत्मोत्सर्ग करने वाले सच्चे आत्म त्यागी वे होते है जो सभी प्रकार के राग-द्वेष से रहित होकर जगत के हित एव लोकसेवा मे लगे रहते है।[1] वैसे तो सारा जगत मोह के आवरण से ढका हुआ है। सभी प्राणी नाना प्रकार के स्वार्थों एवं वासनाओ में लीन होकर आवेग एवं ममत्व से परिपूर्ण मोह मे मग्न रहे आते है, जिससे जगत मे सर्वत्र संकट ही सकट छाये रहते है और स्वार्थपरता, अशुचिता, असात्विकता, वासनात्मक प्रेम एव कामवासना की ही प्रबलता दिखाई देती है। परन्तु जो व्यक्ति निष्काम भाव से भरा हुआ है, जो प्रणय की पवित्र मूर्ति बन गया है और जो सात्विक जीवन व्यतीत करता है, उसमे आत्मोत्सर्ग की भावना पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है।[2] कवि ने इस आत्मोत्सर्ग के विकास का वर्णन करते हुए बड़े ही सुदर ढंग से समझाया है कि मानव-हृदय मे किस तरह उत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और फिर इस भावना के जाग्रत होते ही उसके आचरणो मे किस तरह परिवर्तन आ जाता है। 'प्रियप्रवास' मे बताया गया है कि सर्वप्रथम सद्वृत्तियो के द्वारा हृदय मे श्रेष्ठ गुणो का समावेश होता है। इसी सद्गुण के कारण मानव-हृदय मे प्राणिमात्र के लिए एक आसंग-लिप्सा जाग्रत होती है। तदुपरान्त संसर्ग के कारण उस हृदय मे सहृदयता उत्पन्न होती है और फिर वह आत्म-सुधि खोकर आत्मोत्सर्गता मे लीन हो जाता है।[1] इसके अनन्तर जब

---

१ प्रियप्रवास १६।४१-४२

२. निष्कामी है, प्रणय-शुचिता-मूर्ति है, सात्वकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म-उत्सर्ग की है। १६।६३

१. आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
पीछे खो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है। १६।६७

यहाँ विश्वधर्म को महत्व प्रदान करते हुए यह सकेत किया है कि मानव की श्रेष्ठता विश्वधर्म को ग्रहण करने मे ही है, जैसे महाभारत मे आत्मोद्धार के लिए सर्वस्व त्यागकर विश्वमय होने की आवश्यकता है, वैसे ही विश्वधर्म के लिए मानव को विश्वबधुत्व या विश्वप्रेम मे लीन होना आवश्यक है। विना विश्व-प्रेम को अपनाये हुए वह अह के सकुचित दायरे से नही निकल सकता और न वह बिरादरी, कुटुम्ब, जाति, देश के सीमित विचारो को ही छोड़ सकता है। भारत के प्राचीन ऋषियो ने इसी विश्व-प्रेम की भावना को जाग्रत करने के लिये यहाँ आरम्भ से ही मानव-मस्तिष्क मे ऐसे विचार भरने का प्रयत्न किया था, जिनमे सर्वत्र यह गूँज सुनाई पडती थी कि "हम सभी सुखी रहे, सभी नीरोग रहे, सभी कल्याण के दर्शन करे और किसी को भी कोई दुःख प्राप्त न हो।"[१] इन विचारो मे स्पष्ट ही विश्वप्रेम की घोषणा सुनाई पडती है। इतना ही नही भारत के मनीषी कवियो ने इसी विश्व-बधुत्व को जाग्रत करने के लिये लिखा है कि "यह मेरा है, वह पराया है" ऐसी तुच्छ भावना उन लघुचेतना वाले व्यक्तियो के हृदय मे ही उठा करती है जिनकी दृष्टि संकुचित होती है, परन्तु जो उदार चरित्र वाले महान् व्यक्ति होते है वे तो सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानते है।"[२]

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी इसी विश्वप्रेम एव वसुधैव कुटुम्बकम् को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण तथा राधा के लोकपावन चरित्रो द्वारा यह स्पष्ट दिखाया है कि वे दोनो ही प्राणी परिवार, कुटुम्ब, बिरादरी, जाति, समाज, वर्ग आदि की सकुचित इकाई से निकलकर अपने 'अह' को 'इद' मे मिला देते है और इस जगत के कल्याण के लिये अपने व्यक्तिगत सुख, आनन्द एवं भोग आदि की परवा न करके सम्पूर्ण समाज एवं सम्पूर्ण विश्व के हित मे लग जाते है। यह विश्व प्रेम श्रीकृष्ण को तो अपने प्रियजन, परिजन एवं प्राणो से भी अधिक प्रिय राधा तक को छोडने के लिए बाध्य कर देता है और इसी विश्वप्रेम के वशीभूत होकर राधा अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण को छोडते हुए तनिक भी सकोच नही करती

---

१. सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत।

२. अयंनिजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

तथा 'प्यारे जीवे जग-हित करें गेह चाहे न आवे'[1] कहती हुई एक ऐसे आत्म-सतोष मे निमग्न दिखाई देती है, जो उसे विश्वधर्म का अनुयायी बना देता है और जिसके कारण वह सम्पूर्ण जगत को अपना ही कुटुम्ब समझने लगती है। यह विश्व-प्रेम बडा ही अनुपम एवं महान् है। इसके उदय होते ही मानव असाधारण गुणो को हृदय मे स्थान देता हुआ ससार के सम्पूर्ण पदार्थो मे अपना ही रूप देखने लगता है, सभी को अपना समझने लगता है और उसमे आत्मीयता इतनी अधिक भर जाती है कि ससार के प्राणियो की सेवा-सूश्रूषा किसी अन्य की सेवा नही ज्ञात होती, अपितु दूसरों का भी दु ख अपना ही जान पड़ता है, दूसरो की कठिनाइयाँ अपनी जान पडती हैं और वह सच्चे हृदय से दीन दुखियो के कष्टो का निवारण करने मे ही सच्चे आनन्द का अनुभव करने लगता है।[2] हरिऔधजी के इस विश्वप्रेम एवं विश्वबन्धुत्व का स्वर 'प्रियप्रवास' मे इतना अधिक व्याप्त हैं कि पक्ति-पक्ति मे से उसकी मधुर गूँज सुनाई पडती है। यहाँ कवि ने विश्व-बधुत्व का निरूपण इस उद्देश्य से किया है कि आधुनिक भ्रमित मानव इस विचारधारा को अपनाकर इस 'मैं-मोर', 'तू-तोर' अथवा 'अपने-पराये' की सकुचित भूमि को छोडकर कुछ उन्नत एव उच्च भूमि मे पहुँचने का प्रयत्न करे और जगत के द्वन्द्वो से मुक्त होकर प्राणियो के कल्याण-कार्य मे अग्रसर हो सके। अतएव प्रियप्रवास मे विश्व-बन्धुत्व का निरूपण मानव-कल्याण के साधनरूप मे ही हुआ है और उसे अपनाकर निस्सदेह मानव परमसुख एवं परमशान्ति को प्राप्त कर सकता है।

(६) **परोपकार**—ससार का प्रत्येक प्राणी 'अह' मे लीन होने के कारण सदैव अपने सुख, अपने आनद, अपनी शान्ति, अपनी प्रसन्नता आदि के बारे मे ही सोचा करता है। वह दूसरो के सुख, शान्ति, आनद आदि के बारे मे बहुत कम सोचता है। जानवरो मे तो यह ममत्व की भावना और भी अधिक होती है। परन्तु कुछ जानवर ऐसे भी होते है जिनमे दूसरो की भलाई करने का स्वभाव निसर्ग-सिद्ध होता है। फिर भी मानव जानवरो से अधिक बुद्धि-सम्पन्न है। इसी कारण वह अपने और पराये के बारे मे अधिक सोचता-विचरता है। किन्तु भारतीय जीवन मे ममत्व अथवा अपने ही अपने बारे मे एक मात्र सोचने को अधिक महत्व नही दिया गया है। यहा अपनी अपेक्षा दूसरो के हित या दूसरो के उपकार करने की ओर प्रारम्भ से ही आग्रह किया

---

१. प्रियप्रवास १६।९८

२. प्रियप्रवास १६।१०४-१०५, १७।२९-४७।

गया है । मेघ, फल वाले वृक्ष, नदी, सरोवर आदि के उदाहरणो द्वारा प्रायः यह समझाया गया है कि जिस तरह नदी, मेघ आदि दूसरो के हित के लिए ही सारा कार्य किया करते हैं, उसी तरह मानवो को भी अपनी अपेक्षा दूसरो के हित का अधिक ध्यान रखना चाहिए । जैसा कि वहाँ कहा भी गया है कि नदियाँ कभी अपने जल का पान स्वय नही करती, वृक्ष भी अपने फलो को स्वय नही खाते, और मेघ भी अपने हित के लिए ही पृथ्वी पर वर्षा नही करते, परन्तु दूसरो का उपकार करने के लिए उक्त सभी कार्य करते है । अतएव परोपकार ही सज्जनो की विभूति है ।'[1] मनीषी भर्तृहरि ने भी अपने नीति-शतक मे इसीलिए लिखा है कि 'कानो की शोभा स्वर्णकुंडलो से नही होती, अपितु सच्छास्त्रो के श्रवण से होती है । हाथो की शोभा स्वर्ण-ककण के पहनने से नही होती, अपितु दान करने से होती है । इसी तरह शरीर की शोभा भी चन्दन आदि के लेप द्वारा नही होती, अपितु दीन-हीन प्राणियो के हेतु परोपकार करने से होती है ।'[2] अतएव इसी परोपकार का महत्व घोषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि 'अठारह पुराणो मे महर्षि व्यास ने केवल दो ही बातें बताई है कि परोपकार पुण्यकार्य है और दूसरो को पीडा देना पाप है ।'[3] इस तरह भारत के मनीषियो ने परोपकार के महत्व को अत्यत तीव्रता के साथ अकित किया है ।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे भी इस परोपकार की भावना को जन-कल्याण के लिये अत्यंत उपादेय सिद्ध किया है । इसीलिये श्रीकृष्ण के अधिकाश उन कार्यों का उल्लेख 'प्रियप्रवास' मे किया गया है, जिनमे परोपकार की महत्ता विद्यमान है । जैसे, कालीनाग से ब्रज के जीवो की रक्षा, भयकर वर्षा से गोवर्द्धन पर्वत पर ब्रजजनो की रक्षा, तीव्र दावाग्नि से गोपो एवं गोपालो की सुरक्षा आदि । यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के परोपकार सम्बन्धी कार्यों का इतना विशद वर्णन किया है कि उन्हे देखकर कवि की भावना का स्पष्ट पता चल जाता है कि वह परोपकार को मानव-जीवन के कल्याण के

---

१. पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः, परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

२ श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः खलु सज्जनानां, परोपकाराय न तु चन्दनेन ।।

३: अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

लिये कितना महत्वशाली समझता है। यह परोपकार की ही कृपा है कि छोटी ही अवस्था मे श्रीकृष्ण 'नृरत्न' बन गये थे और ब्रज मे 'महात्मा' के रूप में प्रसिद्ध थे। यह परोपकार की ही महिमा थी कि संतानहीन व्यक्ति श्रीकृष्ण को पाकर अपने को सतानवान समझते थे और सतानवान व्यक्ति अपनी सतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। यह परोपकार की ही महत्ता थी कि वे ब्रज के जिस किसी घर मे भी जाते थे, वही वे अत्यधिक मान प्राप्त करते थे और पूजे जाते थे।[1] यही बात राधा के बारे मे भी है। राधा ने भी श्रीकृष्ण के परोपकार-व्रत को उसी तरह अपनाकर दिन रात प्राणियो की हित-चिन्तना प्रारम्भ कर दी थी और निरतर परोपकार मे लीन रही आती थी। उसके परोपकार ने ही राधा को नंद और यशोदा की प्राणप्रिय पुत्री बना दिया था, परोपकार ने ही राधा को गोप-गोपियो एव गोप-बालको की कष्टहारिणी देवी बना दिया था और परोपकार ने ही राधा को सज्जनो के सिर की छाया, खलो की शासिका, कगालो की परमनिधि, पीडितो की औषधि, दीनो की बहिन, अनाथाश्रितो की जननी, ब्रजभूमि की आराध्या और विश्व की प्रेमिका बना दिया था।[2] इस तरह कवि ने परोपकार के महत्व का प्रदर्शन करते हुए यह सकेत किया है कि मानव यदि अपना जीवन उन्नत बनाना चाहता है, यदि वह जीवन मे सुख और शान्ति चाहता है, यदि उसे महत्व एव गौरव के साथ-साथ जीवन मे अभीष्ट फल की आकाक्षा है और यदि वह सच्चा मानव बनना चाहता है, तो उसे दीन-हीन, अत्यत पतित एव तिरस्कृत प्राणियो से लेकर ससार के सभी व्यक्तियो का उपकार करना चाहिए और कभी किसी के अपकार के बारे मे नही सोचना चाहिए, क्योकि इस परोपकार से न केवल एक मानव-जीवन का ही उद्धार होता है, अपितु विश्व भर का भी कल्याण होता है। अत. परोपकार मानव के कल्याण-हेतु अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है।

(७) **निष्काम भक्ति**—भक्ति एक ऐसी साधना है जो किसी आदर्श को सम्मुख रखकर उसके गुणो को ग्रहण करने के लिए की जाती है। इसके द्वारा भक्त अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है और अपने उपास्य के अत्यत सामीप्य भाव को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसीलिए प्रायः कहा गया है कि जो जिस देवता की भक्ति करता है उसके हृदय मे उसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न

---

१. **प्रियप्रवास ११।८८-९१**

२ **वही १७।३६-४९**

होती है और उसी देवता के स्वभाव एवं गुणानुसार उसे इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। प्रायः श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहते है और 'जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के समीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपो के साक्षात्कार की भावना हो, तब हृदय मे भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।'[1] ऐसी भक्ति प्राय किसी न किसी उद्देश्य से की जाती है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर भक्तो के चार रूप बताये गये है:—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।[2] इनमे से आर्त्त भक्तो से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियो से है जो किसी सकट के आ जाने पर उस सकट निवारण के लिए अपने इष्टदेव का भजन करते है। जिज्ञासु भक्त वे कहलाते है जो अपने इष्टदेव के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा से उसका भजन किया करते है। अर्थार्थी भक्त वे होते है, जो धन सम्पत्ति आदि सासारिक पदार्थों के लाभ की अभिलाषा से अपने इष्टदेव का भजन किया करते है और ज्ञानी भक्त वे होते है, जो अनन्यभाव से किसी प्रकार की इच्छा मन मे न रखकर अपने इष्टदेव का भजन किया करते हैं। इनमे से सर्वश्रेष्ठ भक्त ज्ञानी ही कहलाता है।[3] उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह किसी कामना को सामने रखकर अपने इष्टदेव की या भगवान् की भक्ति नही करता। वह तो स्थिर बुद्धि होकर उदारतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान के रूप को सर्वत्र देखता हुआ उनकी उपासना मे लीन रहता है। उसकी बुद्धि एव उसका अतःकरण इतना विशाल होता है कि वह जगत मे जो कुछ देखता है उसी को ईश्वर का रूप मानने लगता है, उसके हृदय मे भोगो के प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति नही रहती, न उसे किसी पदार्थ के सग्रह की चिन्ता रहती है और जो कुछ उसके पास है, न वह उसकी सुरक्षा के हेतु ही बेचैन होता है। वह तो श्रद्धा एव अनन्य प्रेम के साथ अपना सर्वस्व अपने इष्टदेव के लिए अर्पण करता हुआ निष्काम भाव से उसकी भक्ति मे लीन रहता है। वह जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तपस्या आदि करता है वह सब भगवान के अर्पण करके आसक्ति रहित होकर

---

१ चिन्तामणि भाग १, पृ० ४४

२ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७।१६

३. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥७।१७

उनकी उपासना एव प्रेम मे मग्न रहता है। वह जानता है कि मेरा प्रभु सभी प्राणियो मे विराजमान है, सभी पदार्थो मे बसा हुआ है और चराचर जगत रूप है। इसीलिए न वह किसी का अप्रिय करता है और न किसी से कभी द्वेष रखता है, अपितु सभी प्राणियो के प्रति अनन्य प्रेम रखता हुआ सम्यक् बुद्धि, शुभप्रेरणा एव परमशान्ति के साथ भगवान् के भजन मे लीन रहा आता है। गीता मे कहा गया है कि ऐसे भक्त धर्मात्मा होने के कारण शीघ्र ही शाश्वत् शान्ति को प्राप्त होते हैं वे अमर हो जाते है और स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा अन्य पापयोनि मे उत्पन्न क्यो न हुए हो, शीघ्र ही भगवान् की शरण मे पहुँचकर परमगति को भी प्राप्त होते।[1]

हरिऔधजी ने भी मानव जीवन की उन्नति एवं अभीष्ट सिद्धि के लिए उक्त निष्काम भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। आपका कहना है कि ऐसी निष्काम भक्ति ही मानव-शरीर द्वारा किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्यों मे सबसे अधिक दिव्य होती है।[2] इस निष्काम भक्ति द्वारा ही मानव जगत के जीवन को तथा प्राणियो के वास्तविक स्वरूप को जान सकता है और इसी के द्वारा अपने माता-पिता, गुरु एव अत्यत प्रिय जन के कल्याण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है।[3] अब यदि कोई व्यक्ति एक कल्पित मूर्ति बनाकर रात-दिन उसी के पदसेवन आदि मे लीन रहा आवे तो बुद्धि यही कहती है कि वह उपासक उसी मूर्ति के समान बन जायेगा, उसमे उदारता, अन्त करण की विशालता अथवा समस्त प्राणियो से प्रेम की भावना आदि उन्नत विचार जाग्रत नही हो सकते। इसी लिए हरिऔधजी के विचार से सर्वोत्तम भक्ति वह है जो जगत के सम्पूर्ण प्राणियो, नदियो या झरनो, पर्वतो, लता-बेलियो, वृक्षो आदि को उस विश्वात्मा का रूप मानकर उनकी रक्षा, पूजा, उनका यथोचित सम्मान एव

---

१. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।
मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।९।३१-३२

२. शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज-तन की सर्व-संसिद्धियों से।१६-११३

३. जगत जीवन प्राणस्वरूप का। निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्वप्रियका प्रियसाधन भक्ति है। वह अकाम महा कमनीय है।
१६।११४

सेवा आदि के रूप मे की जाती है।[1] ऐसी ही भक्ति द्वारा हृदय मे राधा के समान उदार भाव जाग्रत हो सकते है, ऐसी ही भक्ति राधा की तरह परपीडा के जानने के लिए तथा उसे दूर करने के लिए उत्सुक बना देती है, ऐसी ही भक्ति मानव को ऊपर उठाकर दीनबन्धु की श्रेणी मे ले आती है और ऐसी ही भक्ति द्वारा एक साधारण व्यक्ति भी सच्चा स्नेही, सच्चा सखा, सच्चा प्रेमी, सदय-हृदय, प्रेमानुरक्त एव विश्वप्रेमी बनकर जगत मे शान्तिधारा बहाता हुआ परमसुख एव परमशान्ति को प्राप्त करता है तथा अन्त मे सम्पूर्ण प्राणियो का कल्याण करके परमगति को प्राप्त होता है। इसी कारण हरिऔधजी ने निष्काम भक्ति को महत्व देते हुए उसे मानव जीवन के अभ्युदय के लिए अत्यावश्यक माना है।

(८) **निस्स्वार्थ सेवा**—मानव-मानव के बीच पारस्परिक सम्बन्धो को सुदृढ बनाने मे यह सेवा भाव अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इसकी ओर हमारे महर्षियो का ध्यान अत्यत प्राचीन काल मे ही गया था। पहले प्राय. यह देखा जाता था कि प्रत्येक प्राणी स्वार्थ मे अन्धा होकर केवल अपने सुख एव अपने पेट की ही चिन्ता मे बेचैन दिखाई देता था। उसे न किसी के जीवन की परवा थी और न वह अपने से दुर्बल के जीवन को कुछ महत्वशाली समझता था। 'जीवोजीवस्य भक्षणम्' वाली कहावत के अनुसार प्रत्येक जीव एक दूसरे का भक्षण करके अपनी उदर-पूर्ति मे ही लगा रहता था। ऐसी भयंकर स्थिति को देखकर ही भारतीय मनीषियो ने सेवा भाव को महत्व देना प्रारम्भ किया। पहले तो स्वार्थमयी सेवा का ही प्रचार हुआ। माता-पिता अपने बच्चे का लालन-पालन इसलिये करते थे कि वह बडा होकर हमे सुख देगा। एक पशु की सेवा इसलिये की जाती थी कि वह या तो हमे दूध देगा, या सवारी के काम आयेगा अथवा हल जोतने मे सहायक होगा। परन्तु आगे चलकर समाज मे चार आश्रमो की स्थापना हुई। इनमे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम मे व्यक्ति सर्वप्रथम सेवा-भाव की शिक्षा ग्रहण करता था। वह अपने माता-पिता या गुरुजनो से इस भाव की प्रेरणा लेता था और गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते ही उसे इस सेवा भाव को कार्य रूप मे परिणित करने का अवसर प्राप्त

---

१. **विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो है उसी के।**
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है।१६।११७

होता था। गृहस्थाश्रम मे वह अपने अन्न और धन से समाज के प्राणियो की सेवा करता था। पुन: वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमो मे प्रवेश करके वह तन, मन और बुद्धि से एकमात्र समाज की सेवा मे ही अपना जीवन-यापन करता था। इस तरह इस सेवा-भाव को अत्यत प्रयोगात्मक रूप देकर भारतीय ऋषि-महर्षियो ने यहाँ के जीवन मे से पशुता एवं दानवता के भाव निकालकर उनके स्थान पर मानवता के शुद्ध विचारो की स्थापना की थी। परन्तु मानव तो आत्मार्थी है, वह प्राय. अपने लाभ एव अपने सुख के लिये ही किसी की सेवा करता है उसमे निस्स्वार्थ भाव का आना अत्यत कठिन है। इसी कारण आज सर्वत्र सघर्ष, युद्ध, हलचल, क्रान्ति आदि दिखाई देती है। फिर भी इस निस्स्वार्थ सेवाभाव को जाग्रत करने के लिए सदैव प्रयत्न होते रहे हैं। महात्मा गौतम, महात्मा गाधी आदि देश-सुधारको, कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियो और रामतीर्थ, विवेकानद, अरविंद आदि सतो ने अपने-अपने विचारो द्वारा जनता मे निस्स्वार्थ सेवा-भाव को जाग्रत करने का अत्यत सराहनीय कार्य किया है।

हरिऔधजी ने प्रियप्रवास मे भी इस सेवाभाव की महत्ता को सर्वाधिक घोषित किया है। उन्होने कृष्ण और राधा के स्वार्थ-रहित कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति उसी समय 'महात्मा' या 'नृ-रत्न' हो सकता है, जब वह श्रीकृष्ण की तरह निस्स्वार्थ भाव से आर्त्त प्राणियो की पुकार सुने, दीनो की दुष्टात्माओ से रक्षा करे, संतप्तो को साँत्वना बँधाये, माता-पिता एवं गुरुजनो को सुख देने का प्रयत्न करे अथवा रोगी, दुखी एव आपदग्रस्तो की सच्चे हृदय से सेवा करे।[1] इसी तरह कोई व्यक्ति समाज मे पूज्य एव श्रद्धेय तभी बन सकता है जब वह राधा की तरह निस्स्वार्थ भाव से मूर्छित एव सतप्त प्राणियो को गोद मे लेकर जल के छीटे मारकर अथवा व्यजन डुलाकर उन्हे सचेत बनाने का प्रयत्न करे, आकुल एवं विलखते प्राणियो के सताप को दूर करे, कष्ट से भूमि मे लोटते हुए प्राणियो की धूल पोछकर उन्हे शान्ति प्रदान करे, मोहमग्न प्राणियो का सिर सहलाकर अपनी गोद मे सुलाये, किसी की रोमाचकारी आहे सुनकर उसके घर जाकर सात्वना दे, शोक मे निमग्न प्राणियो को अच्छे-अच्छे उपदेश पूर्ण बचन कहकर धैर्य बँधाये, मलिन एवं व्यथित बालको को खिलौने आदि देकर या खेल में

---

१ **प्रियप्रवास १२।७८-८७**

लगाकर प्रसन्न बनाये, विरह-व्यथित प्राणियो को नाना युक्तियो से सात्वना दे, पारस्परिक कलह को दूर करे, मन की मलिनता को निकालदे, हृदय मे सहृदयता का भाव भरे और चिन्तित प्राणियो के घरो मे शान्ति धारा बहाने का प्रयत्न करे।[१] इस तरह हरिऔधजी ने निस्स्वार्थ भाव से की गई सेवाओ का महत्व प्रदर्शित करने के लिये ही श्रीकृष्ण और राधा के सेवा-कार्यो का अत्यंत विवरण के साथ उल्लेख किया है और बताया है कि इस निस्स्वार्थ सेवा द्वारा ही मानव अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र मे सुख और शान्ति की स्थापना कर सकता है तथा परमसुख एव शान्ति को प्राप्त करता हुआ अपने जीवन के अभीष्ट कल्याण को भी प्राप्त कर सकता है।

(९) **कर्त्तव्यपरायणता**—मानव अपने जीवन मे उसी क्षण उन्नति एवं कल्याण को प्राप्त कर सकता है, जब वह अपने नियत कर्त्तव्य का पूर्णरूप से पालन करे और कर्त्तव्य से कभी विमुख न होकर जीवन-यापन करे। भारतीय जीवन को समुन्नत बनाने के लिये पहले समाज के व्यक्तियो के कुछ कर्त्तव्य निश्चित किए गए थे। जैसे ब्राह्मणो का कर्त्तव्य था—वेद पढ़ना-पढाना, यज्ञ करना-कराना, यम-नियम की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग मे अग्रसर होना, मानव-रिपुओ का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करना आदि।[२] इसी तरह क्षत्रियो के कर्त्तव्य थे—शक्ति का अच्छा विकास करके वीरत्व को धारण करना, समाज की रक्षा करना, धैर्य धारण करना, व्यवहार-कुशल होना, युद्ध से न भागना आदि।[३] वैश्यो के लिये बताया गया था कि वे वेदादि का अध्ययन करे, यज्ञ और व्यापार करे, कृषि-कर्म और पशु-पालन में लीन रहें, दान दे और साधारणतया व्याज पर ऋण दे आदि।[४] इसी तरह शूद्रो के लिए भी कर्त्तव्य निश्चित किया गया था कि वे सदैव समाज के इन तीनो वर्णों की असूया-रहित सेवा करें।[५] इस कर्त्तव्य-निर्धारण के पीछे यही रहस्य था कि समाज का कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य बनकर जीवन व्यतीत न करे और सभी व्यक्ति सदैव कर्त्तव्यो मे लीन रहे। साथ ही जो जिस कर्म के योग्य था वह उसी कर्म मे लीन रहकर सदैव अपने वर्ग के लिए नियत

---

१. प्रियप्रवास १७।२९-४९
२. भारतीय संस्कृति—ज्ञानी, पृ० ११९
३ वही पृ० १२०-१२१
४. वही, पृ० १२१
५. वही, पृ० १२२

कर्त्तव्य का पालन करता रहे यही विचार तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की आतरिक भावना मे छिपा हुआ था। जिस तरह कर्त्तव्य के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की योजना की गई थी, उसी तरह कर्त्तव्य को सम्मुख रखकर ही आश्रम-व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमो का मूलाधार भी कर्त्तव्य था। इसमे भी बचपन से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव-जीनव के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये थे और मानव के लिये अपना जीवन सम्यक् रूप से व्यतीत करने की व्यवस्था की गई थी। जैसे ब्रह्मचर्याश्रम मे स्थित एक बालक को वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्या, अग्निचर्या, भैक्षचर्या आदि आवश्यक कर्त्तव्य बताए गए थे। गृहस्थाश्रम मे स्थित व्यक्ति के लिए ऋषिऋण, देवऋण पितृऋण एवं नृऋण से मुक्त होने के लिए नित्य ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ नामक पचमहायज्ञ करने पडते थे। इसी तरह वानप्रस्थ एवं सन्यासियो के लिए इन्द्रिय-संयमपूर्वक अपने उपदेशो एव सतुलित विचारो द्वारा मानवो का कल्याण करते हुए मोक्ष-साधन के हेतु नियत कर्त्तव्यो का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार भारत मे मानव-जीवन को सयेमित, सतुलित एव सुव्यवस्थित बनाने के लिए कर्त्तव्यपरायणता पर अत्यधिक ज़ोर दिया जाता था और प्रत्येक मानव को निश्चित कर्त्तव्यो का पालन करना पड़ता था। इस व्यवस्था मे भले ही कुछ सकीर्णता आज दिखाई देती हो, परन्तु तत्कालीन परिस्थिति के विचार से ये सभी बाते अत्यत उपयोगी एव उपादेय दिखाई देती है। इतना ही नही इनका पालन यदि आज भी किया जाय, तो मानव अशान्ति एव सघर्ष से विमुक्त होकर सहज सुख एव परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है। जो भी हो, मानव जीवन के लिए जो-जो कर्त्तव्य अपेक्षित है, उनके करने से वह अनायास ही सहज सुख प्राप्त करता है और उसे अधिक कठिनाइयो का भी सामना नही करना पडता।

कहने की आवश्यकता नही कि हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे मानव को कल्याण की ओर अग्रसर होने के लिए सर्वाधिक बल कर्त्तव्य-परायणता पर ही दिया है। उनके चरित्रनायक श्रीकृष्ण के मुख से कई स्थलो पर सुनाई पडता है कि मानव को अपने कर्त्तव्य से कभी विमुख नही होना चाहिए। अपने समाज या अपनी जाति पर यदि सकट आ पडा हो तो उस समय सकट से मुक्त करना ही मानव का प्रधान कर्त्तव्य है, उस क्षण यही उसका प्रमुख धर्म है कि वह तन-मन-धन से स्वदेश या स्वजाति के उद्धार का प्रयत्न करे। उस समय यदि वह दूसरो को बचा लेता है, तब तो उसके कर्त्तव्य का पूर्ण पालन हो जाता है और यदि किसी कारण उसकी मृत्यु हो जाती है, तो

भी कर्त्तव्य-पालन के कारण उसे विश्व मे सुकीर्ति प्राप्त होती है।[१] हरिऔधजी का यह स्पष्ट मत था कि चेष्टारहित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा सचेष्ट होकर मरना सदैव सुदर होता है।[२] यदि देश या जाति पर विपत्ति आई हुई हो और सभी प्राणी भयभीत हो रहे हो, उस समय पुरुष को कभी शिथिलता नही दिखानी चाहिए। उसे तो वीरो के समान आगे बढकर निर्भयत सहित विपत्ति का सामना करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि ससार मे विजय और विभूति उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो अपने कर्त्तव्य पर आरूढ होकर दृढता के साथ कठिनाइयो एव विघ्नो का सामना करता है और प्रतिद्वन्द्वता से किञ्चिन्मात्र भी नही घबडाता, वरन् उचित प्रयत्नो एव धैर्य सहित सकटो मे आगे बढता रहता है।[३] इतना ही नही कवि ने श्रीकृष्ण की कर्त्तव्य-निष्ठा का सुदर एव सजीव चित्रण करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव अपने समाज मे उचित आदर एव श्रेष्ठ सम्मान का अधिकारी उसी क्षण होता है, जिस क्षण वह अपने हृदय मे यह निश्चय कर लेता है कि मुझे अपने नियत कर्त्तव्य का पालन सदैव करना है और किसी लोभ, स्वार्थ या मोह आदि मे लीन होकर कभी देश या समाज को धोखा नही देना है। यहाँ श्रीकृष्ण की यही विशेषता आरम्भ से अत तक अंकित की गई है कि वे अपने नियत कर्त्तव्य के सम्मुख माता की ममता, पिता का दुलार, प्राणप्रिया का पुनीत प्रेम, सखाओ का स्नेह आदि सभी का वलिदान कर देते है और समाज-हित या लोकहित के लिए अपने कर्त्तव्य पर आरूढ होकर गोकुल से मथुरा और मथुरा से द्वारिका की ओर ही बराबर बढते चले जाते है। निस्सदेह यह कर्त्तव्यपरायणता की भावना मानव-जीवन का मेरुदड है, इसके विना न मानव मे मानवता आती है और न वह किसी प्रकार की उन्नति के लिये ही अग्रसर हो सकता है। इसी कारण हरिऔधजी ने इसे 'प्रियप्रवास' मे सबसे अधिक महत्व देते हुए अकित किया है, इसीलिए उनके कृष्ण और राधा दोनो पात्र यहाँ कर्त्तव्यपरायणता की साकार मूर्तियाँ बने हुए हैं और अपने-अपने कार्यो की सुदर झाँकियाँ दिखाते हुए यह स्पष्ट घोषणा कर रहे है कि मानव की प्रतिष्ठा, मानव का हित और मानव का

---

१. प्रियप्रवास ११।८४-८७

२. रह अचेष्टित जीवन त्याग से।
मरण है अति-चारु सचेष्ट हो। १२।४३

३. प्रियप्रवास १२।४३-४७

श्रेय केवल कर्त्तव्यपरायणता पर ही निर्भर है, क्योकि इसी के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति श्रीकृष्ण की तरह नृ-रत्न बन सकता है और राधा की तरह किसी समाज का पूज्य एवं आराध्य हो सकता है।

(१०) **आत्म-साक्षात्कार**—अपने वास्तविक स्वरूप को पहँचानना आत्मसाक्षात्कार कहलाता है। आज मानव की दशा यह है कि वह आत्मतत्व से अपरिचित होने के कारण भ्रान्त एव अशान्त होकर इधर-उधर अंधकार मे भटक रहा है। वह यह भूल गया है कि एक ही आत्मा समस्त प्राणियो एवं पदार्थों मे विद्यमान है। वही एकमात्र साधन है जिससे हमारी आँखे देखने का कार्य करती है, कान सुनने का काम करते है, नासिका सूँघने का कार्य करती है, जिह्वा रस लेने का काम करती है, पेड-पौधे फलते-फूलते हैं, पक्षी कलरव करते हैं, पशु आनद-क्रीडा करते है इत्यादि। इतना ही नही यह आत्मतत्व ही सर्वत्र एकरूपता, समता, अभेदता एव अखडता स्थापित करता हुआ विद्यमान है। परन्तु आज हम आत्मा के वास्तविक रूप को ही भूले हुए है। उसका कारण स्पष्ट है, क्योकि यह आत्मा तो द्रष्टा है, परन्तु ससार के दृश्यो मे रमकर वह अपने को भूल गया है और दृश्य बन गया है। यह द्रष्टा उसी समय तक रह सकता है जिस समय तक यह संसार के दृश्यो मे अपने को लीन करके भुलाता नही। यह आत्मा तो श्रोता है, परन्तु ससार के मधुर-स्वरो मे लीन होकर इसने अपने श्रोतापन को खो दिया है और स्वय श्रव्य बन गया है। अत. जब तक इस आसक्ति को नही छोडता तब तक श्रव्य ही बना रहेगा, श्रोता नही बन सकता। यह आत्मा तो कर्त्ता है, परन्तु ससार के नाना कार्यों मे लीन होकर इसने अपने कर्तापन को भुला दिया है और स्वय कर्म बन गया है। अब जब तक यह अपने स्वरूप को नही पहँचानता, तब तक कर्त्ता न होकर कर्म ही बना रहेगा। ऐसे ही यह आत्मा तो स्रष्टा है, परन्तु आज अपने सृजन कार्यों मे इतना तमन्य हो गया है कि स्वय सृष्टि बना हुआ है तथा अपने स्रष्टारूप को भूला हुआ दिखाई देता है। अब जब तक यह अपने रूप को नही पहँचानता, तब तक सृष्टि के दोषो से मुक्त नही हो सकता और स्रष्टा के महत्वपूर्ण पद को प्राप्त नही कर सकता। इसी कारण सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि जो आत्मा कर्त्ता था, वह कर्म कैसे बन गया, जो द्रष्टा था वह दृश्य कैसे हो गया, जो स्रष्टा था वह सृष्टि क्यो बना हुआ है; जो श्रोता था, वह श्रव्य क्यो होग या है आदि-आदि। इसी बात से जाग्रत करने के लिए उपनिषदो मे कहा गया है—"हम भोक्ता है, भोज्य बने हुए है हम कर्त्ता हैं, कर्म बने हुए हैं। हम द्रष्टा है, दृश्य बने हुए है। हम श्रोता है,

अव्य बने हुए है। हम स्वामी है, भृत्य बने हुए है। हम राजा है रक बने हुए है, इत्यादि।"[1] इसका मूल कारण क्या है? यही कि आज हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हुए है। सासारिक माया-मोह ने हमे इस तरह भ्रान्ति मे डाल रखा है कि हमे उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार नही हो पाता और अहर्निश हम अधकार की ओर ही बढते चले जा रहे हैं। आज अपने वास्तविक स्वरूप को न पहँचानने के कारण ही "अन्धेन नीयमाना यथा अधा" अथवा "अन्धा अन्धे ठेलिया दोनो कूप पड़न्त" वाली हमारी दशा हो रही है। पारस्परिक भिन्नता, फूट एवं वैमनस्य बढते चले जा रहे है और मानव प्रत्येक क्षेत्र मे विरोध एव विषमता का सामना कर रहा है। इसी आत्म-साक्षात्कार के अभाव के कारण आज भेद-भाव से उत्पन्न सघर्ष हो रहे है, इसी के परिणामस्वरूप मानव-मानव मे सहज स्नेह नही दिखाई देता और इसीलिए प्रतारणा, प्रवचना, छल-कपट आदि का बोलबाला है।

हरिऔधजी ने मानव-जीवन की इस विषमता को भली भाँति पहचान कर उसको दूर करने के लिए अपने 'प्रियप्रवास' मे इस 'आत्म-साक्षात्कार' की ओर अधिक ध्यान दिया है और बताया है कि 'जिस तरह वायु का स्पर्श होते ही जल मे लहरे उठने लगती है वैसे ही किसी न किसी आवेग के उठते ही चित्र भी विचलित हो उठता है और उस उद्वेग से मनुष्य व्यथित हो जाता है।'[2] उस क्षण जगत के नाना-रूपो को देखने के कारण वह व्यथित हृदय अपने वास्तविक रूप को भूलता हुआ मोह-मग्न हो जाता है और इस इस मोह के कारण उसका चित्त भ्रान्ति एव उद्विग्नता का शिकार बन जाता है।[3] यह मोह इतना बलवान एव सशक्त होता है कि इसके वशीभूत होकर मानव नाना प्रकार के स्वार्थों, सरस-सुख की वासनाओ आदि मे डूब जाता है तथा अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है।[4] उस क्षण वह द्रष्टा न होकर दृश्य, स्रष्टा न होकर सृष्टि और कर्त्ता न होकर स्वय कर्म रूप मे परिणत होता हुआ इस जगत की माया मे लिप्त हो जाता है। इसके लिए कवि ने सर्वप्रथम इस 'मोह' के विनाश की ओर सकेत किया है और "ऊँची न्यारी रुधिर महिमा

---

१. आर्य संस्कृति के मूल तत्व, पृ० ८४-८५

२. प्रियप्रवास १६।५२

३. वही १६।५७

४. वही १६।६३

मोह से प्रेम की है"[१] कहकर ससार के सभी पदार्थों एवं प्राणियो से प्रेम करने, उनमे अपना ही रूप देखने, उन्हे अपना ही स्वरूप समझने और उनमे अपनी ही आत्मा का विकास देखने की सलाह दी है। इसी कारण कवि ने बताया है कि जिस समय मानव प्रात कालीन उषा की लालिमा और सन्ध्या की अरुणिमा मे अपनी आत्मा के ही सौदर्य की झलक देखने लगता है। जिस समय भृंग-मालिका मे उसे अपनी ही अलको का सौदर्य और खंजन तथा मृगो मे अपनी ही आँखो की सुछवि दीखने लगती है। जिस समय वह दाड़ियो मे अपने दाँतो की, बिम्बाओ मे अपने अधरो की, केलो में अपने जघन की, सूर्य-चन्द्र एवं वह्नि मे अपनी ही दिव्य आभा को देखने लग जाता है, उस समय उसके हृदय मे एक अद्भुत अभिन्नता एव अभेदता की भावना जाग्रत होती है और वह 'विश्व-प्रेम' मे लीन होकर सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगता है।[२] फिर वह अपने मे और विश्व में कोई अन्तर नही देखता, अपितु भिन्नता में भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद और द्वैत मे भी अद्वैत देखने लगता है। उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। वह आत्मार्थी न रहकर परार्थी हो जाता है, स्वार्थरत न रहकर स्वार्थोपरत हो जाता है, किसी का अपकारी न होकर सर्वभूतोपकारी हो जाता है[३] और हृदय मे शान्ति की कामना करता हुआ इस 'भव को प्यार की दृष्टियो से' देखने लगता है।[४] उसे फिर सभी दु.खी एवं संतप्त प्राणी अपना ही रूप जान पडते है। इसीलिए वह फिर प्यार से सिक्त होकर रातदिन उन संतप्त प्राणियों को सात्वना, धैर्य एव शान्ति देने मे ही अपना सौभाग्य समझता है तथा अवनिजन का सच्चास्नेही बनकर सनत सेवा करता हुआ निरन्तर भूत-संवर्द्धना मे ही लगा रहता है।[५] कवि ने इसी स्वरूप को अपनाने अथवा अपनी वास्तविकता को पहचानने के लिये राधा और कृष्ण के चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-मात्र को 'आत्म-साक्षात्कार' की प्रेरणा प्रदान की है और बताया है कि यदि हम तनिक गहनता एवं गम्भीरता के साथ विचार करें और अपनी स्थिति को देखने की चेष्टा करें, तो पता चलेगा कि विश्व के संघर्ष का कारण और कुछ नही है,

---

१. प्रियप्रवास १६।७०
२. वही १६।८१-८८
३. वही १६।४१-४६
४. वही १०।१७।२३
५. वही १७।५६-५४

हमारी ही भ्रान्ति, हमारा ही मोह, हमारी ही मिथ्या धारण और हमारी ही अज्ञानता है। यदि हम अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाये और सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगे, तो सारे सघर्ष, सारी हलचल, सारे वैमनस्य एवं सारे विद्रोह समाप्त हो जायेगे और मानव विश्व-प्रेमी होकर सम्पर्ण वसुन्धरा का सच्चा स्नेही हो जायेगा। परन्तु इसके लिए आत्मसाक्षात्कार करना होगा। अपनी दुर्बलताओ, अपनी कमियो एवं अपनी आसक्तियो को देखना होगा और उन्हे देखकर शीघ्र ही नही तो शनैः शनैः दूर करना होगा। निस्सदेह आत्मोन्नति के लिए अथवा आत्म-कल्याण के लिए आत्म-साक्षात्कार सबसे प्रमुख साधन है।

जीवन का चरम लक्ष्य लोकहित है—भारतीय मनीषियो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थो की योजना करके मानव का चरम-लक्ष्य मोक्ष सिद्ध किया है। प्रत्येक भारतीयदर्शन ने इस मोक्ष-प्राति पर ज़ोर दिया है, इसके लिए उचित साधन बताए है और अपने-अपने विचारो के अनुसार मानव को अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्ष को प्राप्त करते हुए सिद्ध किया। परन्तु "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" कहकर यहाँ यह स्पष्ट घोषण की गई है कि ज्ञान के बिना मुक्ति या मोक्ष प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपाय सुझाये गये है, किन्तु अत मे सभी का लक्ष्य मोक्ष ही रहा है। इस मोक्ष को उपनिषदो मे 'जीवन्मुक्ति' भी कहा गया है अर्थात् इसी जीवन मे मोक्ष की प्राप्ति का होना जीवन्मुक्ति कहलाता है, जैसा कि कठोपनिषद् मे लिखा भी है कि "जब हृदय मे रहने वाली समग्र कामनाओ का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है और यही पर (इसी शरीर मे) उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है।"[1] इस प्रकार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य यही है कि वह किसी न किसी प्रकार सम्पूर्ण कामनाओ से विरत होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। आधुनिक युग मे मोक्ष या मुक्ति के प्रति लोगो मे विश्वास नही। आज सभी विचारक कर्म को महत्व देते है और कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति की कल्पना करते हैं। उनका विचार है कि उन सम्पूर्ण कर्मों मे से 'लोकहित' की दृष्टि से जो कर्म किये जाते है, वे ही श्रेष्ठ कर्म है, उनसे ही मानव जीवन का अभीष्ट प्राप्त करता है, जीवन मे सुख और शान्ति प्रात करता है तथा इसीसे उसे मोक्ष की

---

१. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिता।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ० २।३।१४

भी प्राप्ति होती है। आधुनिक युग मे इसी कारण 'लोकहित' को सार्वाधिक महत्व दिया गया है। हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे इसी लोकहित की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वत्र इसी का गुणगान किया है और अपने प्रमुख पात्रो—राधा और कृष्ण को आजीवन लोक-हित मे ही लीन दिखाकर अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करते हुए दिखाया है। हरिऔधजी का स्पष्ट विचार है कि लोकहित के द्वारा ही मानव विश्व मे पूज्य होता है,[1] इसी से वह सम्पूर्ण स्वार्थो एव विपुल सुखो को ससार मे तुच्छ समझा करता है और सम्पूर्ण लालसाओ को छोडकर लोक-सेवा मे लीन होता है।[2] इसी लोकहित के कारण उसके हृदय मे आत्मोत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और स्वार्थोपरत होकर वह हृदय से सभी प्राणियो के श्रेय का कार्य करता रहता है।[3] इसी लोक-हित के जाग्रत होते ही वह अपने प्रिय से प्रिय पात्र का भी परित्याग करने मे सकोच नही करता और निष्कामी होकर सदैव सात्विक कार्यो मे लगा रहता है।[4] इसी भावना के कारण उसे सर्वत्र विश्वात्मा की प्रभुता व्याप्त दिखाई देती है और वह इस विश्व-रूपी ब्रह्म की निष्काम भक्ति मे लीन होता है।[5] इसी लोकहित की भावना के कारण उसकी दृष्टि पूर्णतया बदल जाती है तथा वह प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करने, उनको सुख और शान्ति देने और उनकी तन-मन-धन से व्यथाये दूर करने का प्रयत्न करके अतीव आनन्द का अनुभाव करने लगता है।[6] इस तरह कवि ने लोकहित को इतने व्यापक एव महत्वपूर्ण ढगसे यहाँ चित्रित किया है कि जिससे यह भावना इस काव्य की आत्मा बन गई है और 'पदे-पदे' इसी भावना का स्वर गूँजता हुआ सुनाई देता है। अतएव यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि हरिऔधजी लोकहित को मानव-जीवन के लिए अत्यत आवश्यक समझते हैं, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि यदि मानव अपने जीवन मे सुख चाहता है, यदि वह अपने समाज मे समता एवं शान्ति चाहता है और यदि वह समस्त विश्व मे अनन्द की सृष्टि करना

---

१. प्रियप्रवास १०।६०
२. वही १४।२२
३ वही १६।४१-४६
४ वही १६।६८-१००
५ वही १६।११७
६ वही १७।२६-४८

चाहता है, तो उसे एकमात्र 'लोकहित' का भाव अपना कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस लोकहित से ही उसे जीवन मे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है और इसीसे वह जीवन्मुक्त भी हो सकता है, क्योकि जीवन्मुक्ति के लिए कामनाओं के जिस विनाश की आवश्यकता समझी गई है, वह लोकहित द्वारा ही सभव है। लोकहित के कारण मानव वैयक्तिक स्वार्थ से परे परमार्थ मे लीन होकर वस्तुतः जीवन्मुक्ति को ही प्राप्त करता है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे सर्वाधिक लोकहित को ही महत्व दिया गया है और इसी को जीवन का चरम लक्ष्य सिद्ध किया गया है।

उपसंहार

प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी की तुलना

पृष्ठभूमि—प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी तीनो ही ग्रथ आधुनिक युग के प्रतिनिधि महाकाव्य है। इन तीनो महाकाव्यो मे आधुनिक युग पूर्णतया प्रतिबिम्बित है और तीनो ही ग्रथ महाकाव्यो के क्रमिक विकास के द्योतक है। वैसे तो यदि उक्त तीनो महाकाव्यो को महाकाव्य के आदि, मध्य और अवसान स्वरूप तीन सोपान कहे, तो कोई अत्युक्ति नही, क्योकि जहाँ प्रियप्रवास आधुनिक महाकाव्य के प्रथम प्रयास का द्योतक है, वहाँ साकेत महाकाव्य-परम्परा के क्रमिक विकसित मध्य रूप को सूचित कर रहा है और 'कामायनी' महाकाव्य उसके चरम विकास का द्योतक है। परन्तु जैसा कि आलोचको का मत है कि अभीतक आधुनिक युग ही चल रहा है, जब कि अन्य युगो की अपेक्षा इस युग की अवस्था पर्याप्त हो चुकी है और मेरे मत से तो भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त अब नवीन युग का श्रीगणेश मानना चाहिए तथा विगत आधुनिक युग को 'प्रयोग-युग' या अन्य कोई उचित नाम देना चाहिए। फिर भी यदि आधुनिक युग की अवधि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ही भाँति मानी जाती है, तो यह निर्विवाद सत्य है कि महाकाव्यो के क्रमिक विकास मे प्रियप्रवास प्रथम सोपान पर, साकेत द्वितीय सोपान पर और कामायनी तृतीय सोपान अथवा अभी तक अन्तिम सोपान पर स्थित है। यद्यपि तीनो महाकाव्य काव्य-कला के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करते हुए महाकाव्यो के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रयासो के द्योतक है, तथापि उक्त तीनो महाकाव्यो मे पर्याप्त साम्य एवं वैषम्य है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से उन साम्य एवं वैषम्यो की परीक्षा की जाये, तो पता चलेगा कि खडी बोली हिन्दी ने किस तरह इन तीन प्रतिनिधि महाकाव्यो के रूप मे विकसित होकर भारतीय काव्य-परम्परा में उत्तरोत्तर वृद्धि की है और किस तरह वह अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे सशक्त एव व्यंग्य प्रधान होती

गई है । अब हम कतिपय आधारो पर उक्त तीनो महाकाव्यो की तुलनात्मक समीक्षा करने का प्रयास करेंगे ।

वस्तु-योजना—यद्यपि उक्त तीनो महाकाव्य आधुनिक युग के प्रतिनिधि प्रबंधकाव्य हैं, फिर भी तीनो महाकाव्यो मे वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है । तीनो ने भारतीय पौराणिक अथवा प्राचीन गाथाओ को ही अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। प्रियप्रवास मे यदि श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र की झाँकी है, तो साकेत मे मर्यादापुरुषोत्तम राम का पुनीत चरित्र अकित है और कामायनी मे मानवो के पूर्व पुरुष वैवस्वत मनु के जीवन को चित्रित किया गया है । अत. तीनो कवि कथावस्तु के लिए उत्तरोत्तर प्राचीनता की ओर अग्रसर होते गये है और श्री कृष्ण के रूप मे मानव के पूर्ण विकास से लेकर मनु के रूप मे उसके आरभिक स्वरूप तक को पूर्ण रूपेण चित्रित करने का प्रयत्न किया है । दूसरे, तीनो ही कवियो ने कथाओ के परम्परागत रूपो को स्वीकार न करके आधुनिक बौद्धिक जगत के अनुरूप उनमे कुछ नवीन उद्भावनाये की है, जिनसे कथाये अलौकिक एव अग्राह्य न रहकर पर्याप्त बुद्धिग्राह्य एव मानव-जीवन के अनुकूल बन गई है । साथ ही जिनमे आज का बुद्धिजीवी मानव विश्वास भी कर सकता है, नही तो कालीनाग का नाथना, गोबर्द्धनपर्वत का अँगुली पर उठाना, हनुमान का पर्वत उखाड लाना, मानव का पशुता से मानवता की ओर अग्रसर होना आदि आज तक हास्यास्पद ही बना रहता । तीसरे, तीनो महाकाव्यो मे कथा के अधिकाश भाग को घटित न दिखाकर वर्णित दिखाया गया है अर्थात् प्रियप्रवास मे तो श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित अधिकाश घटनायें एवं कथाये गोप, अहीर गोपियाँ, नद-यशोदा आदि के द्वारा वर्णन की गई है । साकेत मे बालकाड की कथा उर्मिला द्वारा, अरण्यकाड की कथा शत्रुघ्न द्वारा, किष्किधाकाड एव लकाकाड की कथा हनुमान द्वारा वर्णित दिखाई गई है और कामायनी मे देव-सृष्टि के विनाश की कथा मनु के द्वारा तथा सारस्वत प्रदेश के अनाचार की कथा स्वप्नरूप मे वर्णन की गई है । चौथे, तीनो महाकाव्यो मे भारतीय संस्कृति के उदात्त एवं उज्ज्वल रूप की झाँकी विद्यमान है तथा यह दिखाया गया है कि भारतीय जीवन मे अपनी परम्परागत विशेषताओ की जडे कितनी गहराई तक पहुँची हुई है । भले ही विदेशी सस्कृतियो के झंझावात भारतीय संस्कृति के वटवृक्ष को झकझोरने का कितना ही प्रयास करे, परन्तु यह इतना दृढ एव सुस्थिर है कि अपनी अक्षुण्णता एव स्थिरता को कभी गँवा नही सकता । पाँचवे, तीनो महाकाव्य यद्यपि प्राचीन कथानकों

के आधार पर निर्मित है, तथापि नवीनता पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है और इनमें आधुनिक युग का जन-जीवन पूर्णतया चित्रित है। तीनो ही कवि अपने युग-जीवन से भली प्रकार परिचित थे। इसी कारण तीनो ने प्राचीन कथानको मे आधुनिक जीवन को पूर्णतया समाविष्ट करके इस तरह अकित किया है कि कथा का बाह्य ढाँचा ही प्राचीन है, जबकि उसकी अन्तरात्मा पूर्ण रूपेण आधुनिक युग मे अनुरजित है। छठे, तीनो ही महाकवियो ने लोकहित मे लीन नारी-जीवन की उज्ज्वल झाँकी अकित करने का प्रयास किया है। इसी कारण यदि हरिऔधजी ने प्रियप्रवास मे राधा के उत्कृष्ट चरित्र की झाँकी अकित की है, तो साकेत मे गुप्तजी ने महारानी कैकेयी, श्रीमती उर्मिला आदि के उपेक्षित जीवन को समुज्ज्वल रूप मे अकित करने का प्रयास किया है और इसी तरह श्री जयशकर प्रसाद ने कामायनी मे मानव-जननी श्रद्धा के लोकोत्तर चरित्र का पुनीत झाँकी अकित की है। सातवे, तीनो ही महाकाव्यो मे सम्पूर्ण कथा को किसी एक स्थान मे ही सीमित करते हुए स्थान-ऐक्य को विशेष महत्व दिया गया है। जैसे, प्रियप्रवास मे सारी कथा ब्रज प्रदेश मे ही सीमित है। वही श्रीकृष्ण ने जो-जो लोकहित के कार्य किये है, उनकी ओर सकेत करते हुए श्रीमती राधा को भी ब्रज मे ही लोकहित के कार्य करते हुए दिखाया गया है। साकेत मे भी सारी कथा साकेत अथवा अयोध्या मे ही सीमित है। कवि ने या तो 'सम्प्रति साकेत-समाज वही है 'सारा' कहकर यह सकेत कर दिया है या साकेत मे ही बैठे हुए व्यक्तियो द्वारा सम्पूर्ण कथाओ का वर्णन करा दिया है अथवा वशिष्ठ मुनि द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से सम्पूर्ण साकेत वासी अपने स्थान पर खडे-खडे लका मे होने वाली सम्पूर्ण घटनाओ को देख लेते है। इसी भाँति 'कामायनी' मे कवि ने 'हिमगिरि के उत्तु ग शिखर' से कथा आरम्भ की है, उसकी ही उपत्यका मे सम्पूर्ण घटनाये घटित होती है और अन्त मे उसी हिमगिरि की एक उन्नत शृग कैलाश पर सम्पूर्ण पात्रो को एकत्रित करके कवि ने अपनी कथा समाप्त की है। आठवे, तीनो ही महाकाव्य आधुनिक जीवन की अधिकाश समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखे गये है।

इन कतिपय साम्यो के साथ-साथ तीनो महाकाव्यो मे वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त वैषम्य भी है। सर्वप्रथम तो तीनो महाकाव्य भारतीय इतिहास ने तीन युगो की कथाओ के आधार पर निर्मित है, क्योकि प्रियप्रवास मे द्वापर युग की कथा है, साकेत मे त्रेतायुग की कथा है और कामायनी मे मानव-सृष्टि के आदि युग की कथा है। दूसरे, तीनो महाकाव्यो की कथा का विस्तार

तीन प्रमुख विशेषताओ के आधार पर हुआ है। जैसे प्रियप्रवास मे पुरुष और नारी दोनो के उज्ज्वल जीवन की झाँकी अकित करने के लिये श्रीकृष्ण और राधा के लोकहित मे लीन उज्ज्वल जीवन को ही चित्रित किया गया है, साकेत मे सारी कथा उर्मिला के विरह को मध्यबिंदु बनाकर चली है और कामायनी मे मानव की दुर्बलताओ को अकित करते हुए नारी के द्वारा उसके सुधार का समर्थन किया गया है। तीसरे, तीनो महाकाव्य आधुनिक जीवन के इतिहास मे से तीन युगो को चित्रित करते है, क्योकि प्रियप्रवास मे आधुनिक युग का वह भाग चित्रित है, जब कि भारत मे काँग्रेस के आन्दोलन द्वारा स्वतंत्रता का सग्राम प्रारम्भ हुआ था और भारत मे आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफीकल सोसाइटी आदि सस्थाये नैतिक जीवन के महत्व का प्रचार कर रही थी। इसलिए प्रियप्रवास मे नैतिकता की ही सर्वत्र प्रधानता है। साकेत का निर्माण उस समय हुआ जब भारतीय जन पर्याप्त जागरूक होकर आन्दोलनो मे अधिक मात्रा मे सक्रिय भाग लेने लगा था और गाधी जैसे युग-पुरुष का नेतृत्व पाकर अपनी स्वतंत्रता की लडाई मे पर्याप्त आगे बढ चुका था। इसी कारण इस काव्य मे वीर-रमणी एव वीर-पुरुषो के उज्ज्वल एव उदात्त गुणों का वर्णन सर्वाधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त कामायनी का निर्माण उस युग मे हुआ, जबकि भारतीय जीवन मे निराशा आती जा रही थी, आन्दोलन बराबर असफल हो रहे थे और भारतीयो को अपने संग्राम मे विजयी होने की आशा टूटती सी जा रही थी, तब कवि ने कामायनी लिखकर निराश एव हताश हुए भारतीयो को उनकी दुर्बलताओ की ओर संकेत करते हुए उन्हे दूर करके पुन: प्रयत्न करने का धैर्य्य बँधाया था और मनु की भाँति अपने गंतव्य स्थल पर पहुँचाने का आश्वासन भी दिया था। चौथे, प्रियप्रवास की सम्पूर्ण कथा मे एक मात्र वियोग का ही प्राधान्य है, साकेत मे संयोग एव वियोग दोनो के ही रमणीक चित्र अकित किये गये है, फिर भी वियोग-चित्र ही अधिक है और कामायनी मे यद्यपि सयोग और वियोग दोनो का प्रभावशाली वर्णन मिलता है, तथापि वियोग की अपेक्षा सयोग का ही वर्णन अधिक है। पाँचवे, प्रियप्रवास मे वस्तु-व्यापार-वर्णन की तो बहुलता है, परन्तु सर्वत्र वियोग का रग अधिक गहरा होने के कारण उनमे रमणीयता नही दिखाई देती, साकेत मे वस्तु-व्यापार-वर्णनो मे कवि ने चमत्कार दिखाने का अधिक प्रयास किया है और कामायनी मे वस्तु-व्यापारों का तो अभाव है, परन्तु जो कुछ भी वर्णन है, उसमे रमणीयता उक्त दोनो ग्रंथो की अपेक्षा अधिक हैं। छठे, प्रियप्रवास मे कवि ने कथा के जिन मार्मिक स्थलो को चुना

है, वे उसके उद्देश्य की सिद्धि मे पर्याप्त सहायक नही हुए है और कही-कही तो कवि बौद्धिकता के चगुल मे फंसकर उन स्थलो के चित्रण को हास्यास्पद बना बैठा है। साकेत मे ऐसे मार्मिक स्थलो की कमी तो नही है, जिनमे पाठको का चित्त रम सके, परन्तु यहाँ कवि ने जिन उपेक्षित स्थलो को चित्रित किया है, उनमे भावना का रग इतना गहरा हो गया है कि वे पाठको के हृदय मे ऊब उत्पन्न कर देते हैं और बड़े धैर्य के उपरांत ही साकेत के वियोग-सागर को पार किया जाता है। इस दृष्टि से कवि का नवम सर्ग भले ही मनोवैज्ञानिक हो, परन्तु हृदय को रमाने एवं मार्मिक स्थलो की पहँचान की दृष्टि से अधिक सुदर एव सजीव नही है। कामायनी मे कवि ने रमणीक स्थलो को पर्याप्त मात्रा मे चुना है और उनका वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ किया है। कामायनी का लज्जा सर्ग इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। उसे पढ़कर पाठक का हृदय पूर्णतया तल्लीन हो जाता है और तनिक भी ऊब उत्पन्न नही होती। परन्तु यहाँ भी कवि ने भावों का वर्णन इतनी अधिकता के साथ किया है कि सर्वत्र दूरारूढ कल्पना का ही प्राधान्य हो गया है। सातवें, तीनो महाकाव्यो मे कवियो ने जो नवीन उद्भावनाये की है उनमे से प्रियप्रवास के अन्तर्गत आई हुई कालीनाग, गोवर्द्धन पर्वत आदि की कथाये तथा साकेत के अन्तर्गत वशिष्ठजी द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से लका की समस्त घटनाओ का दिखाना आदि तो हास्यास्पद ही है। इसके अतिरिक्त कामायनी मे कवि ने नवीन उद्भावनाये करके कथा-सूत्र जोडने का तो अच्छा प्रयास किया है, परन्तु वह भी कथा को अन्त मे उचित एवं न्यायसगत रूप नही दे सका है और यह स्पष्ट रूप से नही बता सका है कि मनु को अखंड आनन्द कैलाश पर बैठकर तपस्या द्वारा मिला था या समरसता सहित लोक-हित एव लोक-सेवा के कार्यों द्वारा। इस तरह इन कवियो की नवीन उद्भाव-नाओ के कारण तीनो काव्य जहाँ सरस एवं तर्कसम्मत बने है, वहाँ मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओ का समाधान नही कर पाये है।

चरित्र-चित्रण—इन तीनो महाकाव्यो मे अनेक पात्र हैं और उनके चरित्र को भी कवियो ने चित्रित किया है। परन्तु यहाँ हम उक्त तीनो महाकाव्यो के उन प्रमुख एवं प्रतिनिधि पात्रो को ही लेंगे, जिनके आधार पर इन महाकाव्यो की कथायें निर्मित हुई है। इनमे से प्रियप्रवास के राधा और कृष्ण, साकेत के उर्मिला और लक्ष्मण तथा कामायनी के श्रद्धा और मनु आते है। इन पात्रो के चरित्र-चित्रण मे भी पर्याप्त साम्य एवं बैषम्य दिखाई देता है। जैसे इन तीनो महाकाव्यो मे भारतीय सास्कृतिक परम्परा का

अनुसरण हुआ है और उसी के आधार पर एक पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बंध, नारी की पति-परायणता, उसके हृदय की सुकुमारता, सयोग-वियोग के अवसर पर चित्त की अधीरता, क्षुब्धता एवं उत्सुकता, पुरुष की नारी के प्रति उत्सुकता एव उपेक्षा आदि के चित्र अकित किये गये है। तीनो ही महाकाव्यो मे नायक एव नायिका अपने सामान्य लक्षणो से विभूषित है। इसी कारण उनमे वीरता, शौर्य, दक्षता, त्याग, लोकप्रियता आदि गुण विद्यमान हैं। तीनो ही महाकाव्यो के नायक बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रजा, कला, स्वाभिमान, दृढता, तेजस्विता, शूरता, धार्मिकता आदि से सम्पन्न है। तीनों ही महाकाव्यो की नायिकाये त्याग, दया, ममता, करुणा, विश्वबंधुत्व, धार्मिकता, पातिव्रतधर्म, सहज स्नेह, प्राणि मात्र के प्रति प्रेम आदि से परिपूर्ण हैं। तीनो महाकाव्यो मे नारी के लोकपावन चरित्र की सृष्टि हुई है और उसमे पुरुष की अपेक्षा नारी मे अधिक उन्नत एव उत्कृष्ट गुण दिखाये गये है। इसके साथ ही तीनो महाकाव्य चरित्र-प्रधान भी है।

इन कतिपय समानताओ के साथ-साथ तीनो महाकाव्यो के चरित्र-चित्रण मे वैषम्य भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। सर्वप्रथम प्रियप्रवास एवं कामायनी मे तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि इनमे क्रमश राधा और कृष्ण तथा श्रद्धा और मनु नायिका एव नायक है, जब कि साकेत मे नायिका तथा नायक का निर्णय करना कठिन हो जाता है, क्योकि इस काव्य मे उर्मिला तो स्पष्टरूपेण नायिका की भाँति चित्रित है और यहाँ राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, शत्रुघ्न आदि सभी पात्र उर्मिला के चरित्र पर घात-प्रतिघात द्वारा प्रभाव डालते है अथवा कभी परिस्थिति के रूप मे या कभी पृष्ठभूमि के रूप मे उपस्थित होकर इस पात्र को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते है। परन्तु लक्ष्मण को नायक कहना उचित नही दिखाई देता क्योकि न तो कवि ने लक्ष्मण मे राम की अपेक्षा श्रेष्ठ गुणो का समावेश किया है और न कवि का विचार ही लक्ष्मण को नायक का पद देने की ओर दिखाई देता है। लेखक यहाँ विशेषतया राम के गुणो पर मुग्ध होने के कारण लक्ष्मण के नायकत्व को भूल जाता है। यद्यपि इस महाकाव्य के प्रारम्भ मे तो यही दिखाई देता है कि लक्ष्मण और उर्मिला ही इस काव्य के नायक-नायिका रहेगे, तथापि आगामी रामकथा के प्रवाह मे कवि का ब्रह्म इस बात को अगीकार नही करता कि उसका राम अपनी श्रेष्ठता छोड़ दे और लक्ष्मण इस काव्य मे नायक का पद ग्रहण कर ले। इसके अतिरिक्त प्रियप्रवास मे जहाँ आदर्शवादिता की प्रबलता के कारण श्रीकृष्ण और राधा मे एकमात्र

लोकपावन गुणो एवं उत्कृष्ट विचारो का ही समावेश दिखाई देता है, वहाँ साकेत तथा कामायनी मे कवियो की दृष्टि आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर भी रही है। इसी कारण साकेत मे लक्ष्मण रामचरितमानस की अपेक्षा कही अधिक उद्दंड, स्वच्छंद एवं स्वतंत्र मनोवृत्ति के दिखाये गये हैं, उनमे क्रान्ति का स्वर विद्यमान है और वे माता कैकेयी, पिता दशरथ तथा पूज्या सीता से भी कटुवाक्य कहते हुए तनिक भी सकोच नही करते। अतएव उदात्त गुणो के साथ-साथ उनमे मानवीय दुर्बलताये भी विद्यमान है। यही बात कामायनी के मनु मे है। प्रसादजी ने कामायनी मे मनु को भी मानवीय दुर्बलताओं से ओतप्रोत एक साधारण व्यक्ति के समान पतन और उत्थान की पेगो मे झूलते हुए अकित किया है। उनमे अनेक दोष है और अनेक गुण है। वे जहाँ इन्द्रियो के वश मे होकर पतन के गर्त्त मे गिरते है, वहाँ इन्द्रियो पर संयम करके त्याग और तपस्या के साथ उत्थान के कैलाश-शिखर पर भी चढ जाते है। इसी तरह इन तीनो महाकाव्यो की नायिकाओ में भी पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ 'प्रियप्रवास' की राधा श्रीकृष्ण का संदेश सुनकर आजन्म कौमार व्रत धारण करती हुई लोकसेवा एव लोकहित के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है, वहाँ साकेत की उर्मिला केवल वियोग या कष्ट के समय में ही लोकहित एव लोकसेवा के प्रति उदार दिखाई देती है और अन्य अवसरों पर उसे इन बातो का ध्यान नही रहता, जबकि कामायनी की श्रद्धा प्रारम्भ से ही त्याग, तपस्या, उदारता एवं सेवा की साकार मूर्ति है और अपने इन उदात्त गुणो से वह सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण करती हुई निरतर लोकसेवा एव लोकहित मे ही सलग्न रहती है।

इन कतिपय वैषम्यो के साथ ही जब हम इन कवियों की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओ की ओर दृष्टि डालते हैं, तब पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की राधा, साकेत की उर्मिला और कामायनी की श्रद्धा तीनो ही क्रमशः हरिऔध, गुप्त तथा प्रसाद की अपनी सृष्टि है। इन तीनों का निर्माण इन कवियो ने अपनी उदार भावना एवं उर्वर कल्पना के आधार पर किया है, जो सर्वथा नवीन, मौलिक एवं असाधारण है, क्योंकि जहाँ प्रियप्रवास की राधा अपनी परम्परागत विशेषताओ को छोडकर एक अत्यन्त पवित्र एव आदर्श प्रेम की देवी के रूप मे अकित हुई है, वहाँ साकेत की उर्मिला अपने उपेक्षापूर्ण जीवन को पुनः प्राप्त करती हुई अपने विरह, करुणा एवं वीर भावो द्वारा रामकथा मे हलचल उत्पन्न करती हुई चित्रित हुई है।

इसी तरह कामायनी की श्रद्धा अपने भावनारूप को छोडकर अथवा अमूर्त्तरूप का परित्याग करती हुई एक दूध का सा धुला हुआ पुनीत पार्थिव रूप धारण करके भी अपार्थिव एवं अलौकिक बनकर कामायनी मे प्रतिष्ठित हुई है। ये तीनो नारियाँ आधुनिक आन्दोलनो मे भाग लेने वाली वीर रमणियो के रूप मे यत्किंचित् चित्रित है, परन्तु इनमे से राधा तो पूर्णतया आधुनिक युग की सरोजनी नायडू, कमलानेहरू अथवा विजयलक्ष्मी के लोक-हित संबधी स्वरूप को अकित करती हुई प्रस्तुत की गई है और उर्मिला मे हमे ऐसी सम्पन्न रमणी का आभास मिलता है, जो आधुनिक क्रान्ति की लहर से प्रभावित होकर अपने पति को तो आन्दोलन मे भाग लेने के लिए विदा कर सकती है परन्तु स्वयं उसमे सक्रिय सहयोग नही देती तथा श्रद्धा को कवि ने एक ऐसी आदर्श नारी के रूप मे अकित किया है, जो आधुनिक नवीन सभ्यता मे भ्रमित नारियो एव पुरुषो को निश्छल प्रेम, निस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज करुणा, सहिष्णुता आदि का पाठ पढाने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करती हुई अपने पुत्र एवं पति को भी आन्दोलनो मे भाग लेने के लिए प्रेरणा देती है तथा उनमे स्वयं भी सक्रिय भाग लेती है। इसी कारण तीनो महाकाव्यो का चरित्र-चित्रण परस्पर पूरक बनकर जीवन के क्रमिक विकास का भी सूचक है।

विरह-वर्णन—तीनो काव्यो मे विरह-वर्णन की दृष्टि से भी पर्याप्त साम्य एव वैषम्य के दर्शन होते है। जहाँ तक साम्य का सबध है तीनो महाकाव्यो मे जिस विरह का वर्णन हुआ है, वह जीवन से बाहर की वस्तु नही दिखाई देता, अपितु यह जीवन का अभिन्न अग बनकर सुख और दु.ख के चक्र को समझाने के लिए गृहस्थ-जीवन मे ही प्रतिफलित होता हुआ दिखाया गया है। तीनो नारियाँ सती-साध्वी के रूप मे हमारे सम्मुख आती है और तीनो के हृदय मे अपने-अपने पतियो के प्रति अटूट स्नेह, अनंत अनुराग एवं तीव्र छटपटाहट है, फिर भी तीनो मे संयम, आत्मविश्वास एवं दृढता अपार मात्रा मे है। तीनो का वियोग प्रवास-जन्य है क्योकि श्रीकृष्ण, लक्ष्मण तथा मनु के परदेश चले जाने पर ही राधा, उर्मिला एव श्रद्धा विरह-व्यथित चित्रित की गई हैं। तीनो पति-प्राणा नारियाँ है। अतएव उनमे विभिन्न काम दशाये भी थोडे-बहुत रूप मे विद्यमान है और इन्ही के फलस्वरूप कभी वे अपने प्रिय के गुण कथन मे, उनकी चिन्ता मे, उनकी प्रतीक्षा मे एवं उनके शुभ संदेश सुनने मे उत्सुक एवं तल्लीन दिखाई देती है, तो कभी भावावेश मे आकर रोती-बिसूरती एवं विलाप करती हुई मूर्छित हो जाती है। तीनो की

विवशता, विरह-जन्य गहनता एव तीव्रता मे भी पर्याप्त साम्य है और तीनो के हृदयो को विरह के आँसू प्रक्षालित करके इतना अधिक उदार एव महान बना देते है, जिससे वे व्यथा-काल मे भी सजग एवं सचेत होकर अन्य प्राणियो एव पशु-पक्षियो तक का ध्यान रखती हैं और आत्मार्थी न रहकर सदैव के लिये परमार्थी के रूप मे अपना जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर देती है। इन मनोभावो के अतिरिक्त जहाँ तक वर्णन-कला का प्रश्न है, तीनो कवियो ने लगभग एक ही परम्परा का अनुसरण किया है, क्योकि तीनो ही कवि भारतीय परम्परा से पूर्णतया प्रभावित होने के कारण विरह के समय प्रकृति के विभिन्न उपादानो—चन्द्र, वसत, कुज, भ्रमर, नदी आदि को उद्दीपन के रूप मे अकित करना नही भूले है और तीनो ही कवियो ने विरह की तीव्र व्यजना के लिये उत्प्रेक्षा अथवा अतिशयोक्ति अलकार का आश्रय लिया है। इतना ही नही तीनो मे लाक्षणिक पदावली का प्रयोग भी मिल जाता है तथा प्रकृति के सवेदनात्मक चित्रणो द्वारा तीनो ही कवियो ने विरह-जन्य प्रभाव को दिखाते हुए विरह की व्यापकता एव मार्मिकता की भी सुदर अभिव्यजना की है।

इन कतिपय साम्यो के रहते हुए तीनो महाकाव्यो के विरह-निरूपण मे पर्याप्त वैषम्य भी है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम तीनो नायिकाओ की स्थिति को ही ले सकते है। 'प्रियप्रवास' की राधा कृष्ण के साथ बचपन से पर्याप्त क्रीडा-विहार तो कर चुकी है, परन्तु अभी तक उसका विवाह नही हुआ है। अतएव उसकी मनस्कामना-पूर्ति मे विघ्न उपस्थित करने के लिए इस विरह का आगमन हुआ है। उधर साकेत की उर्मिला तथा कामायनी की श्रद्धा दोनो ही परिणीता नारियाँ है। उनका जीवन राधा से पूर्णतया भिन्न है। वे जीवन के आनंदोपभोग से भी परिचित है। अतएव उनके हृदय मे विरह की आग राधा से कही अधिक तीव्र है। इनमे से भी उर्मिला तथा श्रद्धा दोनो की परिस्थितियो मे भी बडा अतर है। उर्मिला तो राजरानी है, राजमहल मे रहती है, अनेक दासियाँ उसकी परिचर्या के लिए सर्वदा समीप रहते है, अभी तक माता न बनने के कारण अकेली भी है। परन्तु श्रद्धा की परिस्थिति उर्मिला से पूर्णतया भिन्न एव भयानक है। वह प्रथम तो विरह के अवसर पर आसन्नगर्भा है, उसके समीप उसे सहायता देने वाला कोई भी दास-दासी या सबधी नही है और जब वह माता बन जाती है, तब भी उसे किसी अन्य का आश्रय प्राप्त नही होता, वह स्वय ही अपनी और अपने पुत्र की उदर-पूर्ति के साधन जुटाती है,

स्वयं घर का सारा कार्य करती है और स्वयं ही अपने भोले-भाले सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती है। इतना ही नही वह अत्यत संयम एव धैर्य के साथ अपने विरह की आग को छिपाकर पुत्र के सम्मुख कभी सतप्त एव व्यथित दिखाई नही देती, अपितु विषाद की कालिमा से अपने पुत्र की रक्षा करती हुई उसके सामने तो सदैव प्रफुल्लवदन-सी दिखाई देती है, किन्तु एकान्त मे आँसू बहाकर अपना जी हलका कर लेती है। कितना विषाद, कितना शोक, कितनी घुटन और कितनी वेदना श्रद्धा के हृदय मे छिपी हुई है, कोई जान नही सकता। साथ ही श्रीकृष्ण तथा लक्ष्मण तो प्रसन्नतापूर्वक विदेश जाते है, जबकि मनु श्रद्धा से रूँठकर एव उसका हठात् तिरस्कार करके उसे अकेली छोड़ जाते है। इस कारण भी श्रद्धा के विरह मे गहनता अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे दिखाई देती है। इसीलिए राधा और उर्मिला से कही अधिक व्यथा और वेदना का वेग श्रद्धा के हृदय मे दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त विस्तार की दृष्टि से राधा की विरह-व्यथा इन दोनो पतिव्रता नारियो से कही अधिक जान पड़ती है, क्योकि उर्मिला का विरह चौदह वर्ष की अवधि के उपरान्त समाप्त हो जाता है और श्रद्धा का विरह भी चौदह-पन्द्रह वर्ष के उपरान्त मनु को पुनः प्राप्त कर लेने पर समाप्त हो जाता है, परन्तु विचारी राधा विरह की आग मे आजीवन जलती रहती है, क्योकि श्रीकृष्ण फिर कभी ब्रज मे लौटकर नही आते और वह कौमार-व्रत धारण करके विरह को वरदान मानती हुई अपना सारा जीवन ब्रजवासियो की सेवा-सुश्रूषा मे लगा देती है। सेवा करते हुए यदि कभी भूल से उसकी आँखें आँसू गिरा देती हैं, तो उसे यही कहना पड़ता है कि मैं विरह के कारण नही रो रही हूँ, अपितु सेवा करते हुए मेरे हृदय मे जो पुलक होता है, उसी कारण मेरी आँखो मे आनंद का नीर आ जाता है।[1] इस तरह विरह की दृष्टि से भी जब हम उक्त तीनो महाकाव्यो की ओर दृष्टि डालते है तो जान पड़ता है कि प्रियप्रवास मे एक कुमारी बालिका के विरह-जन्य सताप का चित्रण है, साकेत मे एक नव-विवाहिता रमणी के विरह की छटपटाहट है और कामायनी मे एक जननी एवं गृहलक्ष्मी के अन्तर्दाह की जलन का वर्णन किया गया है। इस

---

१. हो के राधा विनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृग युगल में नीर आनंद का है।
जो होता है पुलक कर के आपकी चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगों में। १७।४०

प्रकार नारी की उत्तरोत्तर विकसित विरह-भावना ही इन तीनो महाकाव्यो मे अकित है।

प्रकृति-चित्रण—आधुनिक काव्यो में प्रकृति की जितनी सजीव झाँकी अकित हुई है, उतनी पूर्ववर्ती काव्यो मे नही दिखाई देती। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले प्रकृति उद्दीपन रूप मे ही अधिक चित्रित की जाती थी, परन्तु आधुनिक काव्यो मे वह विभिन्न रूपो मे उपस्थित होकर काव्य-कलेवर को सुसज्जित करती है। प्रकृति के जितने रूप आधुनिक युग में प्रचलित है, उन सभी का यत्किंचित् रूप प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी मे मिल जाता है। मुख्यतया इन तीनो काव्यो मे प्रकृति आलम्बन, उद्दीपन, एवं अलकार रूप मे अकित होने के अतिरिक्त सवेदनात्मक एवं मानवीकरण के रूप मे सर्वाधिक मिलती है। प्रकृति के सचेतन रूप की सुन्दर एवं रमणीक झाँकियाँ इन तीनो महाकाव्यो मे अत्यत सजीवता एव मार्मिकता के साथ अकित की गई हैं। साथ ही ये तीनो महाकाव्य प्रकृति की सुकुमार एवं भयानक छटा से इतने ओत-प्रोत हैं कि वे प्रकृति के प्रागण मे ही लिखे गये जान पडते है। इतना ही नही षट्ऋतुओ उषा-संध्या, दिवस-रजनी, चन्द्र-ज्योत्स्ना, लता-कुंज, पशु-पक्षी, नदी-सरोवर, गिरि-निर्झर आदि के इतने रमणीक चित्र इन तीनो काव्यो मे विद्यमान है कि जिन्हें देखकर पाठक का मन प्रकृति की सुरम्य सुषमा मे अनायास ही तल्लीन हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इन तीनो काव्यो मे प्रकृति को मानव-जीवन के अत्यत निकट लाने का बडा ही सफल प्रयत्न हुआ है और इसीलिए प्रकृति मानवो के आनन्द एव उल्लास के समय हर्ष एव प्रफुल्लता प्रकट करती हुई तथा शोक एव विषाद के अवसर पर ओस या वर्षा के रूप मे रोती हुई अथवा अन्य किसी प्रकार से शोक प्रकट करती हुई चित्रित की गई है। इन कवियो को प्रकृति मे एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट सत्ता दृष्टिगोचर हुई है, जिसके प्रागण मे लता-वृक्ष, नद-नदी, पशु-पक्षी आदि सभी क्रीडा एवं कल्लोल करते हुए निरतर विचरण करते रहते हैं, जहाँ पवन और लता, नभ और धरणी, उषा और रवि, रजनी और चन्द्र, कमलिनी और भ्रमर आदि भी मानवो की तरह ही नाना प्रकार की रस-क्रीडाओ एव काम-चेष्टाओ मे निमग्न रहते हैं तथा जो समय-समय पर विभिन्न रूप धारण करती हुई एव अपनी अद्भुत छटा विकीर्ण करती हुई अपने दर्शको के मन को विमुग्ध करती रहती है। इन तीनों ही काव्यो मे देशगत, समाजगत एव सास्कृतिक विशेषताओ

से युक्त प्रकृति की छटा का उल्लेख हुआ है और इन तीनो काव्यो मे प्रकृति के विम्बग्राही सश्लेषणात्मक चित्रो की भरमार है।

इन कतिपय साम्यो के अतिरिक्त प्रियप्रवास, साकेत एव कामायनी मे प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी वैषम्य भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाता है। जैसे प्रियप्रवास मे देश-काल का ध्यान रखकर ही प्रकृति के अधिकाश पदार्थो का वर्णन किया गया है, परन्तु कवि से कही-कही भूल भी हो गई है। उदाहरण के लिए वृन्दाटवी मे लवगलता, ऐला, नारगी आदि का वर्णन देशकाल के विरुद्ध है और ब्रज मे करील सबसे अधिक पैदा होता है—इसका वर्णन तक कवि ने नही किया है। साकेत तथा कामायनी मे ऐसी भूले नही है। परन्तु प्रियप्रवास एव कामायनी मे प्रकृति के जैसे सुन्दर एवं सजीव चित्र दिये गये हैं, वैसे चित्र साकेत मे नही दिखाई देते। साकेत मे कवि प्रकृति के विम्बग्राही चित्र प्रस्तुत न करके वर्णन मे अधिक लीन दिखाई देता है, जिससे उनमे शिथिलता आगई है और कल्पना तथा भाव का योग रहते हुए भी उसका सम्पूर्ण चित्र अपनी कोई छाप पाठको के हृदय पर अकित नही कर पाया है प्रियप्रवास मे कवि ने नाम-परिगणन तथा विम्बग्राही दोनो प्रणालियो का प्रयोग तो किया है, परन्तु वह अपने प्रकृति-चित्रो मे भावो का अधिक समावेश नही कर पाया है। वहाँ पर भी वर्णनात्मक प्रणाली की ही प्रधानता है और कवि के प्रकृति-चित्र पाठको के हृदय को अधिक आकृष्ट नही कर पाते। परन्तु कामायनी के कवि ने अपने काव्य मे प्रकृति के ऐसे-ऐसे सजीव एव मार्मिक चित्र अकित किए है, जो भावो से ओत-प्रोत होने के कारण मानव-जीवन के अत्यत निकट जान पडते है और जो अधिकाधिक सश्लेषणात्मक होने के कारण पाठको के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है। प्रियप्रवास मे कवि प्रकृति-चित्रण के अतर्गत चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक प्रवृत्त दिखाई देता है। इसी कारण वह कभी नीम को गुणी वैद्य के समान, आँवले को उतावले व्यक्ति के समान, नारगी के वृक्ष को सोने के तमगे लगाकर खडे हुए व्यक्ति के समान आदि कहकर अपनी कला का प्रदर्शन करता है।[1] साकेत मे भी कवि की प्रवृत्ति इसी चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक दिखाई देती है। इसी कारण गुप्तजी ने नवम सर्ग मे प्रकृति के शृखला-विहीन चित्र अकित किये है, जिनमे अन्विति (Unity) का पूर्णतया अभाव है और जो बिखरे हुए गुलदस्ते जैसे दिखाई देते है। परन्तु कामायनी के

---

१. प्रियप्रवास ९।३०-४०

प्रकृति-चित्रण मे ऐसी विशृखलता नही दिखाई देती। यहाँ कवि ने प्रकृति के भावाक्षिप्त रूपो को इस तरह क्रम-बद्ध रूप मे अकित किया है कि उनमे सर्वत्र अन्विति विद्यमान है, एक रूपता है और वे अपना एक समन्वित प्रभाव पाठको के हृदय पर अकित कर देते है। कामायनी के उन प्रकृति-चित्रो मे कही भी शिथिलता नही दिखाई देती, जबकि साकेत मे पद-पद पर शिथिलता विद्यमान है। साथ ही प्रियप्रवास मे सश्लिष्ट चित्रो का अत्यंत अभाव है। वहाँ प्रकृति को वातावरण के निर्माण-हेतु लाने का सर्वाधिक प्रयत्न हुआ है, साकेत मे भी पूर्ण एव सश्लिष्ट चित्र अत्यत अल्प है। किन्तु कामायनी मे ऐसे चित्रो की बहुलता है। यहाँ पर विम्बग्रहण प्रणाली का ही सर्वाधिक प्रयोग करते हुए कविवर प्रसाद ने चितासर्ग मे प्रलय का, आशासर्ग मे हिमालय एव चन्द्र-ज्योत्स्नापूर्ण रजनी का, वासनासर्ग मे सध्या का, इडासर्ग मे सरस्वती नदी का, रहस्य-एवं आनन्दसर्ग मे कैलाश पर्वत आदि का वर्णन किया है। इस तरह प्रकृति के इन वर्णनो को देखने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि प्रियप्रवास मे प्रकृति की सजीव झाँकी तो है, परन्तु भावा-क्षिप्त एव सश्लिष्ट चित्रो की सख्या अधिक नही है, साकेत मे भी यही दशा है, जबकि कामायनी मे प्रकृति के भावाक्षिप्त एव सश्लिष्ट चित्र ही अधिक मात्रा मे मिलते है और वहाँ लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता द्वारा उन चित्रो को अधिकाधिक मर्मस्पर्शी एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न हुआ है।

कलाभिव्यक्ति—जहाँ तक तीनो महाकाव्यो की कला और उसके प्रसाधनो का सम्बन्ध है, तीनो मे पर्याप्त साम्य एव वैषम्य है। साम्य के बारे मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रियप्रवास साकेत तथा कामायनी तीनो महा-काव्यो मे वर्णनात्मकता है और कथा मे अविच्छिन्न धारा-प्रवाह विद्यमान है। तीनो ही कवियो ने विभिन्न दृश्यो को परस्पर सगुम्फित करके इस तरह चित्रित किया है कि कथानक मे एकरूपता एवं अन्विति आ गई है, जिससे सम्पूर्ण कथानक आदि, मध्य एवं अवसान मे विभक्त होकर अकित हुआ है। तीनो ही काव्यो मे कथोपकथन एव सवादो को भी अत्यन्त सजीवता एव त्वरा के साथ अपनाया गया है। तीनो महाकाव्यो मे यत्र-तत्र नाटकीय विषमता अथवा पताकास्थानको (Dramatic irony) का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिससे कथानको मे विस्मय एव कौतूहल की सृष्टि हुई है और कथा मे रोचकता आ गई है। तीनो ही महाकाव्यो मे नाटकीय-कौशल अथवा नाटकीय दृश्य-विधान के अनुकूल सधि-सध्यगो की भी योजना की गई है, जिससे सम्पूर्ण इतिवृत्त अत्यत सुसगठित एव सुसम्बद्ध बन गये है। तीनो महाकाव्यो

में सर्गबद्धता है तथा भावाभिव्यक्ति के लिए शुद्ध एव सस्कृतनिष्ठ खडी बोली को अपनाया गया है, जिसमे यत्र-तत्र मुहावरो का पुट देकर लाक्षाणिकता एव व्यग्य की भी सृष्टि की गई है। तीनो ही काव्यो मे साधर्म्य एव सादृश्य के आधार पर प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के अलकारो को अपनाया गया है और ये सभी अलकार भावो की अभिवृद्धि एवं वर्णन की स्पष्टता के साथ-साथ कवियो के चित्र-विधान एव दृश्य-विधान मे भी अत्यंत सहायक सिद्ध हुए है। तीनो ही महाकाव्यो मे शब्द-शक्तियो के समुचित प्रयोग द्वारा भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कथन में चारुता लाने का सुन्दर प्रयत्न हुआ है। तीनो ही कवियो की दृष्टि भारत के परम्परागत अप्रस्तुत-विधान की ओर ही अधिक रही है और यदि कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न भी हुआ है तो वहाँ भी देशगत एव कालगत विशेषताएँ विद्यमान हैं। तीनों कवियो ने भारत मे प्रचलित वृत्त-विधान को ही अपनाया है और प्राय: भावो एव परिस्थितियो के अनुकूल छदों का प्रयोग किया है। तीनो ही काव्यो मे सौदर्य एव रस सम्बन्धी विवेचन भी भारतीय परम्परा के ही अनुकूल है और तीनो के सौदर्य-निरूपण मे पर्याप्त साम्य है।

अब यदि वैषम्य के बारे मे विचार करें तो पता चलेगा कि जहाँ प्रियप्रवास एवं साकेत मे वर्णनात्मकता या प्रकथन (Narration) की प्रधानता है, वहाँ कामायनी मे रसात्मकता अथवा भावात्मकता का प्राधान्य है, इससे जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत मे इतिवृत्तात्मकता अधिक दिखाई देती है, वहाँ कामायनी मे कोरी इतिवृत्तात्मकता नही दिखाई देती, अपितु कामायनी के प्रकथनपूर्ण वर्णनो का अवसान भी रसात्मक वर्णनो मे ही हुआ है। ऐसे ही दृश्य-विधानो के अतर्गत भी तीनो महाकाव्यो मे पर्याप्त विषमता दृष्टिगोचर होती है, क्योकि प्रियप्रवास मे तो कवि ने सरलता एव सुबोधता के साथ परम्परागत गोकुल ग्राम की सध्या, हरि-गमन, उद्धव का आगमन, वृन्दाटवी की शोभा आदि का वर्णन किया है, साकेत मे भी कवि ने कवि-परम्पराभुक्त दृश्यो का ही अधिक वर्णन किया है और शुद्ध प्राकृतिक एवं भौतिक आधारो पर उनकी योजना करते हुए निरूपण किया है। परन्तु उस निरूपण में पर्याप्त शिथिलता एवं अरुचि विद्यमान है, जबकि कामायनी के दृश्यविधान मे कवि ने प्राकृतिक साधनो का ही सबसे अधिक प्रयोग किया है और उनमे इतनी चारुता एवं रमणीकता लाने का प्रयत्न किया है कि कही भी शिथिलता एव प्रभावहीनता लक्षित नही होती और न कही अन्विति का अभाव ही ज्ञात होता है। संवाद की दृष्टि से प्रियप्रवास एव कामायनी मे

पर्याप्त शिथिलता दिखाई देती है, जबकि साकेत मे पर्याप्त त्वरा एव स्वाभाविकता है। इसके साथ ही सवादगत सजीवता एव उद्दीप्ति मे तो साकेत दोनो से बहुत आगे है, क्योकि यहाँ पर परिस्थिति एव स्वभाव के अनुकूल सवादो की योजना की गई है और अत्यंत छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग किया गया है, जबकि प्रियप्रवास एव कामायनी मे सवाद अधिक लम्बे तथा कही-कही त्वरा-हीन हो गये है। शैली की दृष्टि से भी तीनो मे पर्याप्त अंतर है। प्रियप्रवास मे सरल शैली की प्रधानता है, जिससे वहाँ सरल, सुबोध एवं मुहावरेदार भाषा का ही अधिक प्रयोग हुआ है, उसमे ब्रजभाषा के शब्दो का भी पर्याप्त सम्मिश्रण है और प्रसाद गुण की प्रधानता दिखाई देती है। साकेत मे सरल और अलकृत दोनो शैलियो की प्रधानता है और विशुद्ध भाषा के साथ-साथ शब्द-चमत्कार प्रचुर मात्रा मे दिखाई देता है, जबकि कामायनी मे गूढ एव साकेतिक शैली की प्रधानता है जिससे यहाँ लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता की बहुलता दिखाई देती है, कही-कही दूरारूढ कल्पना का भी सहारा लिया गया है और ओज एव माधुर्य गुणो का समावेश किया गया है। इतना ही नही कामायनी मे वक्रोक्ति का प्रयोग भी उक्त दोनो काव्यो की अपेक्षा अधिक मिलता है, जिसमे से उपचार-वक्रता तो सर्वाधिक अपनायी गई है और इसीलिए यहाँ भाषा भी प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कही अधिक व्यजनापूर्ण एव क्लिष्ट हो गई है तथा काव्य भी अधिक सगुम्फित एव लम्बे हो गये हैं। जहाँ तक अप्रस्तुत-विधान अथवा अलकारो का प्रश्न है, प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कामायनी मे लाक्षणिकता की प्रधानता होने के कारण रूपकातिशयोक्ति, मानवीकरण, समासोक्ति, विशेषण-विपर्यय आदि अलकारो का अधिक प्रयोग हुआ है। कामायनी मे कुछ उपमाये भी अत्यत नूतन एव असाधारण अपनायी गई हैं। साकेत और 'प्रियप्रवास' मे प्राय परम्परागत उपमानो का ही प्रयोग हुआ है, जबकि कामायनी मे गौर अंग के लिए बिजली का फूल, मुख के लिए अरुण मंडल तथा ज्वालामुखी, बालो के लिए सुकुमार घन-शावक, हँसी के लिए अरुण की एक अम्लान किरण आदि के प्रयोग करके कवि ने नवीन उपमानो का भी प्रयोग किया है। जहाँ तक शब्द-शक्तियो के प्रयोग का प्रश्न है, प्रियप्रवास मे अभिधा की प्रधानता है, साकेत मे अभिधा के साथ-साथ लक्षणा की भी प्रधानता है, जब कि कामायनी मे लक्षणा और व्यजना की ही प्रधानता है और अभिधा का प्रयोग अत्यत अल्प मात्रा मे हुआ है। अब यदि वृत्त-विधान की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण प्रियप्रवास भारतीय

ारम्परा मे ही प्रचलित वर्णिक वृत्तो मे लिखा गया है, जिससे यहाँ केवल ाार्दूलविक्रीडित, वसततिलका, मदाक्रान्ता, मालिनी आदि सस्कृत के छंद ही अपनाये गये है। साकेत महाकाव्य मे वर्णिक तथा मात्रिक दोनो प्रकार के वृत्त अपनाये गये है, जिसमें यहाँ दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया आदि मात्रिक छद भी हैं और आर्या, गीति, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुत-विलम्बित, वियोगिनी आदि छद भी प्रयोग किये गये है। किन्तु कामायनी महाकाव्य मात्रिक छदो मे ही लिखा गया है, जिनमे से कुछ शास्त्रीय छद है, कुछ मिश्रित छद है और कुछ कवि निर्मित छद है। जैसे ताटक, वीर, रूपमाला रोला आदि शास्त्रीय छद हैं, कामायनी के 'ईर्ष्या' और 'दर्शन' सर्ग मे मिश्रित छद अपनाये गये है अर्थात् इनमे पादाकुलक की एक पक्ति और दूसरी पद्धरि छद की पक्ति मिलाकर लिखा गया है। तीसरे, कवि निर्मित छदो का प्रयोग 'इडा', 'रहस्य' और 'आनद' सर्गों मे हुआ है। इस तरह जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत मे छदो के लिए केवल शास्त्रीय परम्परा का ही पालन हुआ है, वहाँ कामायनी मे कवि ने कुछ स्वतत्रता का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' मे सभी छद अतुकान्त है, जब कि साकेत तथा कामायनी मे तुकान्त छदो का ही प्रयोग हुआ है और जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत मे कही भी यतिभग अथवा गतिभग का दोष नही दिखाई देता, वहाँ कामायनी मे कही-कही यतिभग सबधी दोष भी मिल जाता है।

अत कला के विभिन्न प्रसाधनो की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रियप्रवास मे जो कला अपने आरभिक रूप को लेकर प्रस्तुत हुई है और भाषा एवं भावो मे गूढता एव गहनता की कमी है, साकेत मे वही कला कुछ विकसित अवस्था मे दिखाई देती है, क्योकि यह काव्य द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता एव छायावादयुग की लाक्षणिकता के मध्य मे लिखा गया है और कामायनी मे यह कला चरम विकास पर पहुँच गई है, जिससे उसमे ध्वनि की प्रधानता हो गई है और लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता का प्राबल्य हो गया है। प्रियप्रवास रस और अलकार प्रधान काव्य है, साकेत मे रस और अलंकारो के अतिरिक्त गुणीभूत-व्यग्य की प्रधानता है और कामायनी ध्वनि-काव्य है, जिसमे बहुधा वस्तु, रस और अलंकार सबधी ध्वनि का ही प्राधान्य दिखाई देता है। इस प्रकार प्रियप्रवास से लेकर कामायनी तक हमे कला के क्रमिक विकास के दर्शन होते है, जिसमे साकेत इस विकास की कड़ियो को जोडने का कार्य कर रहा है, क्योकि इस मे प्रियप्रवास की सी सरल एव सुबोध कला का स्वरूप भी विद्यमान है और कामायनी मे

सर्वाधिक प्रयुक्त छायावादी शैली की झलक भी कही-कही मिल जा[illegible]
तरह ये तीनो ग्रथ काव्य-कला के क्रमश: आरम्भ, मध्य एवं चर[illegible]
परिचायक है ।

उद्देश्य—उक्त तीनो महाकाव्य भले ही आधुनिक युग मे नवीन चेतना, नवीन स्फूर्ति एव नवीन जागृति उत्पन्न करने के लिए लिखे गये हो, अथवा आधुनिक युग के सघर्षमय जीवन को चित्रित करने के लिए निर्मित हुए हो या आधुनिक भ्रमित मानव का पथ-प्रदर्शन करने के लिए रचे गये हो, किंवा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए इनकी सृष्टि हुई हो, किन्तु इतना निर्विवाद सत्य है कि तीनो ही महाकाव्य जीवन की व्याख्या करते हुए मानव-जीवन को सुख, समृद्धि, शान्ति, समता, सहृदयता एव सज्जनता से परिपूर्ण करने के लिए निर्मित हुए हैं । फिर भी तीनो की रचना के उद्देश्य पूर्णतया भिन्न है, क्योकि महाकवि हरिऔध की दृष्टि मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए 'लोक-हित' पर लगी हुई थी, उनके विचार से लोकहित ही मानव के कल्याण का एकमात्र उपाय था और अपने इसी विचार एवं उद्देश्य से प्रेरित होकर आपने अपने प्रियप्रवास मे पहले श्रीकृष्ण के जीवन मे व्याप्त लोकहित की चर्चा की, तदनन्तर श्रीकृष्ण की परम भक्त एव पूर्णानुरागिनी राधा मे इसकी प्रेरणा उत्पन्न की और वह अपने प्राणप्रिय का अनुसरण करती हुई लोकहित की लोकपावन एव लोककल्याणकारी भावना मे लीन हो गई । इतना ही नही, उस प्रेममूर्ति राधा ने आजीवन कौमार व्रत धारण करके 'लोकहित' के लिए ही अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया । इस तरह कवि हरिऔध ने 'लोकहित' के प्रचार एव प्रसार के उद्देश्य से प्रियप्रवास की रचना की । साकेत मे कविवर मैथिलीशरण गुप्त चिर-उपेक्षिता उर्मिला की जीवन-गाथा लेकर उपस्थित हुए है और उन्होने उर्मिला के चौदहवर्ष के कठोर विरह एव मिलन को ही प्रमुख रूप से साकेत मे अकित किया है । इस प्रकार साकेत मे रामचरितमानस की भाँति मुख्य कार्य रावण-वध नही है, अपितु चिर-विरहिणी उर्मिला का अपने सुहाग-अनुराग की वस्तु यती लक्ष्मण से मिलन है । अतएव कवि ने यहाँ उर्मिला के अनुपम त्याग का सजीव चित्र अकित किया है, उसकी कष्ट-सहिष्णुता को वाणी प्रदान की है और पतिप्राणा नारी की विवशता को साकार रूप दिया है । इस तरह कवि ने 'त्याग' को अकित तो किया है, परन्तु यह त्याग निषेधात्मक या वैराग्यमूलक नही है, अपितु इसमे अनुराग का भाव छिपा हुआ है 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही' अथवा "त्याग का सचय-प्रणय का पर्व" कहकर कवि ने इस त्याग का

स्पष्ट निरूपण कर दिया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि त्याग के साथ-साथ जीवन मे कर्मण्यता का भी बडा महत्व है। बिना कर्मशील बने, त्याग शोभा नही देता। इसलिए कविवर गुप्त ने त्याग को जीवन की विभूति बताने के लिये एव कर्मण्यता को त्याग का सहयोगी सिद्ध करने के उद्देश्य से साकेत महाकाव्य का निर्माण किया है। तीसरे महाकाव्य कामायनी का निर्माण आधुनिक लक्ष्यभ्रष्ट सतप्त मानव को आनंद की प्राप्ति का साधन बताने के लिए हुआ है। इसमे कविवर प्रसाद ने मनु की असफलता एवं विषमता का चित्रण करते हुए आधुनिक मानव की असफलता एव विषमताओ को ही अकित किया है और बताया है कि जीवन और जगत को सत्य मान कर निरतर कर्म करते हुए जीवन मे समरसता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समरसता के आते ही मानव अपने इसी जीवन मे मनु की ही भाँति 'आनद' को प्राप्त कर सकता है। अतएव आनद-प्राप्ति के उपाय एवं साधन चित्रित करने के लिए अथवा आधुनिक सतप्त मानव को आनदमय बनाने के उद्देश्य से कविवर प्रसाद ने कामायनी का सृजन किया है। इस तरह उद्देश्य की दृष्टि से तीनो ही महाकाव्यो मे पर्याप्त अंतर है, किन्तु मूल रूप मे तीनो महाकाव्य जीवन को समुन्नत बनाने के लिए ही सचेष्ट दिखाई देते है।

निष्कर्ष यह है कि प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी तीनो ही महाकाव्य आधुनिक जीवन को लक्ष्य करके लिखे गये है। इसलिए आधुनिक जीवन की समस्याये ही इनमे विद्यमान है। परन्तु मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए लोकहित, त्याग एवं अनुराग तथा आनंद-प्राप्ति नामक जिन तीन उद्देश्यो की ओर ऊपर सकेत किया गया है, वे तीनो मानव-जीवन के चिरतन सत्य है, उनका किसी युग-विशेष से संबंध नही है, अपितु ये युगयुगीन भाव हैं, जिनकी आवश्यकता मानव को सदैव रही है और रहेगी। परन्तु इन तीनो उद्देश्यो का उद्घाटन करते हुए तीनो ही कवियो ने मानव-जीवन के जिस उत्थान-पतन की ओर सकेत किया है, मानव के चिरंतन संघर्ष को जो वाणी दी है और मानव के विचार एव अनुभूतियो को जो काव्यरूप प्रदान किया है, उनके देखने पर पता चलता है कि प्रियप्रवास एवं साकेत मे न तो कामायनी जैसी गहनता है और न मार्मिकता ; इनमे अन्त.प्रकृति एव बाह्य प्रकृति के सामजस्य का चित्र भी इतनी सजीवता के साथ अकित नही हुआ है, जितना कि कामायनी मे दृष्टिगोचर होता है और इनमें मानव-मनोभावो की बारीकियाँ तथा उन बारीकियो की अभिव्यक्ति भी उतनी उत्कृष्ट एव चित्ताकर्षक नही है, जितनी कामायनी मे दिखाई देती है। अतएव 'प्रियप्रवास'

एवं साकेत दोनो आधुनिक युग की महान् कृति होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से कामायनी से श्रेष्ठ नही है।

हिन्दी महाकाव्यों मे प्रियप्रवास का स्थान—आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यो मे 'प्रियप्रवास' का स्थान क्या है ? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि यह काव्य इस युग का सर्वप्रथम महाकाव्य है। तुलनात्मक दृष्टि से भले ही यह महाकाव्य साकेत एव कामायनी की अपेक्षा अधिक महान् न हो, परन्तु यही वह प्रथम महाकाव्य है, जिसने खड़ी बोली मे महाकाव्य के अभाव को सर्वप्रथम दूर किया था, इसने ही खड़ी बोली के महाकाव्यो की परम्परा का आरम्भ किया था और इसने ही आगामी कवियो को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी, यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम महाकाव्य-संबधी नवीनता का उद्घोष किया था, नवीन शैली एव नवीन कथा-मोडो को अपनाने की सलाह दी थी और अपनी पौराणिक गाथाओ एवं ऐतिहासिक कथाओ को नवीन ढग से प्रस्तुत करने का सूत्रपात्र किया था, यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए इस युग मे मानवता, लोकहित एव विश्व-प्रेम की घोषणा की थी और यही वह काव्य है, जिसने संस्कृत के छदो का अधिक से अधिक सरलता से प्रयोग करके हिन्दी-काव्य को सम्पन्न बनाने की चेष्टा की थी। अतएव अनुभूति एव अभिव्यक्ति की दृष्टि से भले ही 'प्रियप्रवास' उच्च स्थान का अधिकारी न हो, परन्तु अपनी मौलिकता, नवीनता एव प्राथमिकता की दृष्टि से हिन्दी-महाकाव्य के क्षेत्र मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है और एक आलोक-स्तम्भ की भाँति स्थित होकर उसने आधुनिक कवियो का अभी तक जिस तरह पथ-प्रदर्शन किया है, उसी तरह वह भविष्य मे भी करता रहेगा।

'प्रियप्रवास' का संदेश—'प्रियप्रवास' आधुनिक मानव को कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करके उसे श्रेय की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा देने के लिए लिखा गया है। इसीलिए इसमे आरम्भ से अत तक लोक-सेवा, लोकहित एव प्राणिमात्र के प्रेम का स्वर गूँजता हुआ सुनाई देता है। सम्पूर्ण काव्य नैतिकता एव धार्मिक विश्वास से परिपूर्ण है और भारतीय संस्कृति के उन्नत विचारो से ओत-प्रोत है। इसी कारण मानव-जीवन को सुसमृद्ध बनाने के लिए जिन-जिन विचारो, भावो, अनुभूतियो एव प्रेरणाओ की आवश्यकता है, उनसे यह परिपूर्ण है। यहाँ पर कविवर हरिऔध ने विपद-ग्रस्त एवं सतप्त जीवन से छुटकारा पाने के लिए मानवो को यही सलाह दी है कि "स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ को अपनाओ। आत्मार्थी होकर जीवन व्यतीत मत करो,

अपितु अन्य प्राणियो का भी ध्यान रखो। भोगो मे जीवन का कल्याण निहित नही है, अपितु त्याग एव सात्विक कार्यो मे ही कल्याण छिपा हुआ है। परोपकार एव परहित ही मानव को श्रेष्ठ एव महान् बनाते है। मानव को सदैव अपनी जन्मभूमि एव अपने स्वदेश के लिए अपना सर्वस्व वलिदान कर देना चाहिए अपनी जाति एव अपने देश के सकट को दूर करना ही मानव का परम धर्म है। सदैव मानव को अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ रहना चाहिए। मानवो के लिये प्राणो की ममता मे लीन रहना कदापि श्रेयस्कर नही है, अपितु जगत् मे सर्वभूतहित ही सदैव श्रेयस्कर होता है। सदैव निस्वार्थ भूतहित एव लोक सेवा से ही मानव ससार मे पूज्य होता है। मानव को अधिक से अधिक कष्ट सहन करते हुए तथा सत्य-पथ पर आरूढ होकर सदैव लोकहित मे लीन रहना चाहिए अपने से तुच्छ एव दलित प्राणियो को सर्वथा हेय नही समझना चाहिए, अपितु उनमे भी विश्वात्मा का दर्शन करके उनके उत्थान का उपाय करना चाहिए। इसके साथ ही हमे सदैव श्रीकृष्ण एव राधा की भाँति आत्म-त्याग के साथ-साथ अपने समाज एव अपने देशवासियो की सेवा मे ही नही, अपितु विश्व के प्रेम मे लीन होकर विश्व भर के प्राणियो को अपनी ही आत्मा का स्वरूप जानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा मे लीन रहना चाहिए।" यह है 'प्रियप्रवास' का वह अमर सदेश, जिसके फलस्वरूप यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति की अमर निधि बनकर हिन्दी-साहित्य का देदीप्यमान रत्न बना हुआ है। निस्सदेह 'प्रियप्रवास' का यह सदेश मानवता का प्रसार करता हुआ जन जीवन मे विश्व-बंधुत्व की भावना जाग्रत करने की तीव्र प्रेरणा प्रदान कर रहा है।